संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ३७

श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित:

दव्वसंगहो

(बृहद्द्रव्यसंग्रहः)

संस्कृतवृत्तिः

ब्रह्मदेव सूरि

हिन्दी पद्यानुवाद

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

अनुवादक एवं सम्पादक

पं० अजितकुमार जैन शास्त्री

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

दव्वसंगहो

मूल कृतिकार : आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव
टीका नाम : बृहद्द्रव्यसंग्रह
संस्कृत वृत्तिकार : ब्रह्मदेवसूरि
हिन्दी पद्यानुवाद : आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज
अनुवादक एवं सम्पादक : पं० अजितकुमार जैन शास्त्री, दिल्ली
संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)
आवृत्ति : ११००
वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं० ४५, सेक्टर एफ, इंडस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मयस्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भवभ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल

है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, आचार्य समन्तभद्रस्वामी, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य विद्यानंदिस्वामी, आचार्य पूज्यपादस्वामी जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वत्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव द्वारा विरचित दव्वसंगहो प्राकृत भाषा में अनुबद्ध गाथाओं में एक अनूठा ग्रन्थ है। जिसमें जैनदर्शन के जीवादि द्रव्य की मुख्यता के साथ सात तत्त्व, नौ पदार्थ, पंचपरमेष्ठी और ध्यान का संक्षेप से बहुत रोचक वर्णन उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की एक मात्र विस्तृत टीका ब्रह्मदेव सूरि की है जो विस्तृत व्याख्यान के साथ है। जिसका नाम बृहद् द्रव्यसंग्रह है, इस ग्रन्थ के बृहद् वर्णन के कारण ही बृहद् द्रव्यसंग्रह नाम पड़ा। अध्यात्म में प्रवेश करने वाले मनीषियों के लिए यह ग्रन्थ सभी रहस्यों को खोलने के लिए कुंजी स्वरूप है। इसके परिशिष्ट में एक और द्रव्य संग्रह तथा प्रभाचन्द्रजी की संक्षिप्त संस्कृत टीका समायोजित की गई है। पं० अजितप्रसादजी दिल्ली के हिन्दी अनुवाद एवं पं० जवाहरलालजी शास्त्री भीण्डर वालों के टिप्पण के साथ यह ग्रन्थ पाठकों के हाथ में प्रस्तुत किया जा रहा है।

उक्त समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

कहाँ/क्या

आद्य वक्तव्य

जिनवाणी का उद्गम—

त्रिशलानन्दन बालब्रह्मचारी[1] राजकुमार महावीर ने जब परम आत्मशुद्धि पाने के लिये तथा महान् लोक-कल्याण की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये ३० वर्ष के यौवन में सुलभ राजसुखों से विरत होकर, राजभवन का निवास त्यागकर वन-पर्वत आदि निर्जन प्रशान्त एकान्त प्रदेश में रहना श्रेयस्कर समझा, सुन्दर बहुमूल्य राजवस्त्र आभूषण छोड़कर प्रकृति-प्रदत्त स्वतन्त्र, निर्वस्त्र दिगम्बर परिधान स्वीकार किया तथा सुस्वादु भोजन, मनोहर भोग-उपभोगों के स्थान पर मौन भाव से कठोर तपस्या प्रारम्भ की, तब क्रमशः उनका अन्तरंग स्वच्छ होता गया, आत्मा की कर्मकालिमा स्वयं उड़कर आत्मा की प्रच्छन्न शुद्धि को चमकाने लगी।

इस प्रकार साधु महावीर ने लगातार बारह वर्ष तक कठोर आत्म-साधना की, अपने अटूट मौन से आत्म-शक्ति का स्रोत व्यर्थ बाहर न बहने दिया, तब वैशाख सुदी दशमी के शुभ दिन महावीर की तपस्या पूर्ण हुई, जिस उद्देश्य से उन्होंने तपश्चरण आरम्भ किया था, उनका वह उद्देश्य सिद्ध हुआ। अब उनके आत्मा का प्रबल कर्ममल धुल गया। उनके ज्ञान, दर्शन, सुख, बल पूर्ण विकसित हो गये और उन्होंने घातिकर्म एवं अपने कषाय आदि आत्मविकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त की, तब जनता ने एक स्वर से उनको 'जिन' 'जिनेन्द्र' (विजेता) नाम से सम्बोधन किया, वे अब महात्मा से 'परमात्मा' हो गये और साधु महावीर 'भगवान् महावीर' बन गये।

जन-साधारण के लिये आत्मकल्याण का सरल, सत्यमार्ग का प्रतिपादन कराने के अभिप्राय से इन्द्र ने तब एक विशाल सुन्दर सभा मंडप तैयार कराया। उस समवसरण नामक सभा में भगवान्

---

१. कतिपय श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में भगवान् महावीर को 'विवाहित' लिखा है तथा उनके आवश्यकनिर्युक्ति आदि कुछ प्रामाणिक ग्रन्थों में 'बाल ब्रह्मचारी' बतलाया है। आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है–

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२२१॥
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु।
ण य इत्थि आभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइया ॥२२२॥

२२२वीं गाथा के 'ण य इत्थि आभिसेआ' की टिप्पणी में लिखा है–''स्त्रीपाणिग्रहणराज्याभिषेकोभयरहिता इत्यर्थः''। अर्थात्–महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य ये पाँच तीर्थंकर ऐसे हुए हैं कि न इनका स्त्री-पाणिग्रहण हुआ और न राज्याभिषेक। ये क्षत्रियराजकुलोत्पन्न थे और कुमारावस्था में ही प्रव्रजित हो गये थे। (जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५७२)

महावीर ने ६६ दिवस पीछे महान् ज्ञानी इन्द्रभूति गौतम के आ जाने पर श्रावण वदी प्रतिपदा के शुभ दिन अपना दिव्य उपदेश प्रारम्भ किया जिसको सुनने के लिये असंख्य सुर, नर, पशु, पक्षी, गृहस्थ, साधु समवसरण में आये।

वाणी द्वारा जो भी कहा जा सकता था वह सब सत्य सिद्धान्त-विवेचन भगवान् महावीर ने किया। उस दिव्य-उपदेश का सुन्दर सुबोध नाम 'जिनवाणी' प्रसिद्ध हुआ। जैसा कि पूर्ववर्ती २३ तीर्थंकरों के उपदेश को 'जिनवाणी' कहा गया है। तीस वर्ष तक भगवान् महावीर ने सर्वत्र विहार करके जिनवाणी का सुखद प्रवाह बहाया, जिससे संसार का पाप-सन्ताप शान्त हुआ और अहिंसा का शीतल समीर बहने लगा।

३० वर्ष पीछे कार्तिक वदी चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम पहर (अमावस्या की प्रभात वेला) में भगवान् महावीर संसार-बन्धन से सर्वथा मुक्त हुए। उनके निर्वाण के अनन्तर १२ वर्ष तक श्री गौतम गणधर ने अपने कैवल्य-बल से जिनवाणी का प्रचार किया। फिर उनके मुक्त होने पर श्री सुधर्म स्वामी केवलज्ञानी हुए उन्होंने भी १२ वर्ष तक जिनवाणी का प्रसार किया, उनके मोक्ष हो जाने के पश्चात् श्री जम्बूस्वामी को सर्वज्ञपद प्राप्त हुआ, जम्बूस्वामी ने ३८ वर्ष तक जिनवाणी का प्रकाश किया। जम्बूस्वामी के मुक्त हो जाने पर केवल-ज्ञान दिवाकर दीर्घकाल के लिये अस्त हो गया।

क्रमबद्ध केवली (एक के पीछे दूसरे और दूसरे के मुक्त हो जाने पर तीसरे) भगवान् महावीर के पीछे ये तीन ही हुए हैं, वैसे अक्रमबद्ध केवलज्ञानी और भी हुए हैं। अन्तिम केवली श्रीधर हुए हैं, जिन्होंने कुण्डलपुर से मुक्ति प्राप्त की।। तदनन्तर श्री विष्णु (१४ वर्ष तक), नन्दिमित्र (१६ वर्ष) अपराजित (२२ वर्ष), गोवर्धन (१९ वर्ष) और भद्रबाहु २६ वर्ष तक श्रुत-केवली रहकर क्रमशः जिनवाणी का प्रचार करते रहे। अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु आचार्य के समय मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन में जब उत्तर भारत में लगातार १२ वर्ष का दुर्भिक्ष आने वाला था। तब भद्रबाहु आचार्य अपनी साधुचर्या निर्बाध एवं निर्दोष रखने के लिये विशाल साधुसंघ के साथ दक्षिण प्रान्त में चले गये, मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त भी उनका शिष्य साधु बनकर उनके साथ उस दक्षिण यात्रा में साथ रहा। वहाँ मैसूर राज्य के श्रवणबेलगोला की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर आचार्य भद्रबाहु का समाधिमरण हुआ, चन्द्रगुप्त ने भी तपस्वी जीवन से अपनी जीवन लीला वहीं समाप्त की। दुर्भिक्ष के समय उत्तर प्रान्त में रहे आये साधुओं में विकट परिस्थिति के कारण कुछ विकार आ गया वे अपना नग्न निर्ग्रन्थ रूप स्थिर न रख सके अतः 'अर्द्धस्फालक' नाम से एक नया साधुसंघ कुछ दिन चलता रहा, फिर विक्रम की दूसरी शताब्दी में जैनसंघ दिगम्बर, श्वेताम्बर नाम से दो संघों में विभक्त हो गया।

जिनवाणी का भग्नरूप—

हाँ, तो भद्रबाहु आचार्य के समय तक द्वादश-अंगरूप जिनवाणी गुरु-शिष्य-परम्परा से

पठन-पाठन रूप में सुरक्षित रही आयी, किन्तु उत्तरोत्तर स्मरण-शक्ति हीन होने लगी अतः भद्रबाहु आचार्य के बाद द्वादश-अंगरूप पूर्ण जिनवाणी का ज्ञाता साधु कोई भी न रहा। किन्तु ग्यारह अंग दशपूर्व के ज्ञाता ऋषि क्रम से १. विशाखाचार्य (१० वर्ष तक), २. प्रोष्ठिल (१९ वर्ष), ३. क्षत्रिय (१७ वर्ष), ४. जयसेन (२१ वर्ष), ५. नागसेन (१८ वर्ष) ६. सिद्धार्थ (१७ वर्ष), ७. धृतिषेण (१८ वर्ष), ८. विजय (१३ वर्ष), ९. बुद्धिलिंग (२० वर्ष), १०. देव (१४ वर्ष) और ११. धर्मसेन १४ वर्ष तक रहे।

धर्मसेन आचार्य के पीछे ग्यारह अंग दशपूर्व का ज्ञाता कोई न हुआ। धारणा शक्ति निर्बल हो जाने के कारण पूर्वों का ज्ञान लुप्त हो गया। तब केवल ग्यारह-अंग जिनवाणी के ज्ञाता क्रम से १. नक्षत्राचार्य (१८ वर्ष तक), २. जयपाल (२० वर्ष), ३. पांडव (३९ वर्ष), ४. ध्रुवसेन (१४ वर्ष), और ५. कंसाचार्य ३२ वर्ष तक रहे।।

तदनन्तर स्मरण-शक्ति और भी निर्बल हो गई अतः फिर ग्यारह अंग प्रमाण जिनवाणी का ज्ञाता ऋषि कोई न रहा, तब क्रम से दश अंग के ज्ञाता सुभद्राचार्य (६ वर्ष) हुए, नौ अंग के ज्ञानी यशोभद्र (१८ वर्ष) हुए, पश्चात् आठ अंग धारक भद्रबाहु द्वि० (२३ वर्ष) और लोहाचार्य (५२) हुए।

लोहाचार्य के स्वर्गवास हो जाने पर निम्नलिखित ५ आचार्य सिर्फ एक अंग प्रमाण जिनवाणी के ज्ञाता हुए-१. अर्हद्बलि (२८ वर्ष), २. माघनन्दि (२१ वर्ष), ३. धरसेन (१६ वर्ष), ४. पुष्पदन्त (३० वर्ष) और ५. भूतबलि (२० वर्ष)।

जिनवाणी का शास्त्ररूप—

श्री धरसेनाचार्य को जब यह अनुभव हुआ कि आगे मनुष्यों की स्मरणशक्ति और भी अधिक निर्बल हो जायेगी, इस कारण अब तक जिनवाणी का जितना ज्ञान मौखिक पठन-पाठन से सुरक्षित या अवशिष्ट रहा है, आगे वह भी न रह सकेगा। तब उन्होंने अपने दो बुद्धिमान शिष्यों-श्री पुष्पदन्त, भूतबलि को सिद्धान्त ज्ञान प्रदान करके उस प्राप्त ज्ञान को लेखबद्ध करने की आज्ञा दी। तब दोनों विद्वान् साधुओं ने मिलकर षट्खण्ड रूप आगम को लिपिबद्ध करके ज्येष्ठ सुदी पञ्चमी के दिन समाप्त किया। तब से केवल मौखिक पठन-पाठन का स्थान लिखित शास्त्रों के पठन-पाठन ने भी ले लिया और शास्त्ररचना की परम्परा चालू हो गई। 'श्रुतपञ्चमी' के नाम से वह दिन प्रसिद्ध हो गया। जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्वनिचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध इन छह खण्डों में विभाजित होने के कारण इस आद्य-ग्रन्थ का नाम 'षट्-खण्ड-आगम' प्रसिद्ध हुआ। इन छह खण्डों में से प्रथम पाँच खण्डों को पुष्पदन्त, भूतबलि इन दोनों आचार्यों ने मिलकर लिखा, उसमें ६ हजार सूत्र श्री भूतबलि आचार्य ने लिखे, शेष श्री पुष्पदन्त आचार्य ने लिखे। महाबन्ध केवल भूतबलि आचार्य ने

लिखा।

श्री पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य के ही लगभग समय में श्री गुणधर आचार्य हुए हैं। उन्होंने 'कषाय प्राभृत' की रचना की थी। यह समय श्री डॉ० हीरालालजी ने धवला की प्रस्तावना में वीर सं० ६१४, विक्रम सं० १४४, शक सं० ६ तथा ई० सन् ८७ बतलाया है।

इसके बाद श्री पद्मनंदि (कुन्दकुन्द आचार्य) नामक महान् प्रभावक विद्वान् आचार्य हुए उन्होंने ८४ पाहुड ग्रन्थों की रचना की। इस तरह जिनवाणी शास्त्ररूप में प्रचलित हो गई। कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उमास्वाति आचार्य हुए उन्होंने षट्खण्ड आगम तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्य के ८४ पाहुडों का सार ग्रहण करके संस्कृत भाषा में तत्त्वार्थसूत्र की रचना की। फिर समस्त विषयों के उद्भट विद्वान्, महान् तार्किक, महावादी श्री समन्तभद्राचार्य हुए उन्होंने समस्त भारत में भ्रमण कर शास्त्रार्थों द्वारा जैन सिद्धान्त की भारी प्रभावना की तथा अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। सबसे प्रथम स्तुति (स्वयम्भूस्तोत्र, देवागमस्तोत्र) बनाने के कारण उनका नाम 'आद्य स्तुतिकार' भी प्रसिद्ध हुआ।

श्वेताम्बर संघ के प्रमुख आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने अपने संघ-सहित वी० नि० सं० ६८० तदनुसार वि० सं० ५१० में बल्लभीपुर नगर में ग्रन्थ रचना की नींव डाली। उन्होंने जो ग्रन्थ बनाये उनका नाम आचारांग आदि अंकित किया।[१]

श्री समन्तभद्राचार्य के पूर्ववर्ती विद्वान् ऋषियों ने सैद्धान्तिक तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों का निर्माण किया। उनमें से संस्कृत भाषा में ग्रन्थ रचना का प्रारम्भ श्री उमास्वाति आचार्य ने किया। श्री समन्तभद्राचार्य ने जैन सिद्धान्त को तार्किक कसौटी पर कसकर संसार के समक्ष रखा। इस तरह संस्कृत भाषा में भी न्याय, साहित्य, व्याकरण आदि विविध विषयों के ग्रन्थों की रचना होने लगी। वादिराज, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, जिनसेन, वादीभसिंह आदि आचार्यों ने तथा सोमदेव हरिचन्द्र, धनञ्जय आदि विद्वानों ने न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि विषयों पर जो महत्त्वशाली ग्रन्थों को लिखा है यदि उन ग्रन्थों की संस्कृत साहित्य से अलग कर दिया जावे तो संस्कृत साहित्य निष्प्रभ दीख पड़ेगा। प्राकृत भाषा तथा अपभ्रंश भाषा में लिखा हुआ महत्त्वशाली साहित्य प्रायः जैन विद्वानों का ही है।

श्री वीरसेनाचार्य ने वि० सं० ८७३ में (कार्तिक सुदी १३) पहले पाँच खण्डों पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण 'धवला' नामक टीका लिखी तथा छठे खण्ड 'महाबन्ध' पर ३०-४० हजार श्लोक प्रमाण 'महाधवला' टीका लिखी। इसके सिवाय वीरसेनाचार्य ने आचार्य गुणधर रचित 'कषाय पाहुड'

---

१. बल्लहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहसयलसंघेहिं।
आगमपुत्थे लिहिओ णवसयअसीआओ वीराओ॥ कल्पसूत्र

पर भी 'जयधवला' नामक टीका लिखी किन्तु वह २० हजार श्लोक प्रमाण ही लिख पाये थे कि उनकी आयु समाप्त हो गई। तब उनके विद्वान् शिष्य 'आगर्भ दिगम्बर' (जिनसेन के पिता ने जिनसेन को ५ वर्ष की आयु में ही पढ़ने के लिये श्री वीरसेनाचार्य के पास छोड़ दिया था। जिनसेन जब ८ वर्ष के हुए तब उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की। इस तरह जन्म से ही जिनसेन ने लंगोटी नहीं पहनी, अतः उनका नाम 'आगर्भ दिगम्बर' प्रसिद्ध हुआ।) श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने गुरु की अधूरी टीका को ४० हजार श्लोक प्रमाण और बढ़ाकर वि० सं० ८६४ में पूर्ण किया। ये तीनों टीकायें श्रीवीरसेनाचार्य के अनुपम अगाध सैद्धान्तिक पांडित्य का ज्वलन्त प्रमाण हैं।

वि० सं० की ११वीं शताब्दी में आचार्य अभयनन्दी के शिष्य श्री नेमिचन्द्र आचार्य जैनसिद्धान्त के महान् पंडित हुए हैं 'सिद्धान्त-चक्रवर्ती' उनकी प्रसिद्ध उपाधि थी, इस विषय में स्वयं उन्होंने लिखा है कि

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मए छक्खंडं साहियं सम्मं॥३९७॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड

यानी-जिस तरह चक्रवर्ती सम्राट् अपने चक्र अस्त्र से भरत के छह खण्डों को स्व-वश करता है उसी तरह मैंने (नेमिचन्द्र आचार्य ने) अपने बुद्धिरूपी चक्र से आद्यसिद्धान्त ग्रन्थ के छह खण्डों यानी षट्-खण्ड-आगम की साधना की है।

श्री नेमिचन्द्राचार्य ने गंगवशी राजा राजमल्ल के वीर सेनापति श्री चामुण्डराय अपरनाम गोम्मटराय के लिये षट्खण्डागम का निचोड़ 'गोम्मटसार' (जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड) ग्रन्थ लिखा। चामुण्डराय जिस तरह प्रसिद्ध रणवीर योद्धा थे। उसी तरह प्रसिद्ध धर्मवीर भी थे उन्होंने श्रवणबेलगोला में ५७ फुट ऊँची श्री बाहुबली स्वामी की प्रतिमा का निर्माण कराया था तथा एक हाथ ऊँची नीलम की श्री नेमिनाथ भगवान् की मूर्ति बनवा कर चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय बस्ती (मन्दिर) में विराजमान की थी। कालान्तर में यह प्रतिमा वहाँ न रही, पता नहीं वहाँ से कब कौन कहाँ ले गया।

इन्हीं श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसार ग्रन्थों की भी रचना की है। ये सभी ग्रन्थ अच्छे प्रौढ़, महत्त्वशाली सिद्धान्त ग्रन्थ हैं।

द्रव्यसंग्रह के रचयिता—

प्रस्तुत ग्रन्थ द्रव्यसंग्रह के रचयिता का नाम भी 'नेमिचन्द्र' है और वे भी अनगार मुनि थे तथा 'सिद्धान्तिदेव' उनकी उपाधि है, अतः जन-साधारण की मान्यतानुसार द्रव्यसंग्रह के निर्माता गोम्मटसार के रचयिता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ही माने जाते रहे हैं। रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित बृहद्द्रव्यसंग्रह की प्रस्तावना में भाषा अनुवादक स्व० श्री पं० जवाहरलालजी शास्त्री जयपुर

ने भी इसी मान्यता के आधार पर ग्रन्थकर्ता का परिचय देने के लिये श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती का ही विवरण लिखा है, परन्तु अनेक कारणों से हमारी मान्यता ऐसी नहीं है। हमारी मान्यता के अनुसार द्रव्यसंग्रह के लेखक श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, गोम्मटसार के रचयिता से भिन्न व्यक्ति हैं। इस मान्यता की पुष्टि में निम्नलिखित कारण हैं–

१. श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं किया कि ''मैंने द्रव्यसंग्रह भी बनाया है।''

२. गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार के प्राचीन टीकाकारों ने भी कहीं इस बात का उल्लेख नहीं किया।

३. अन्य ग्रन्थों में जिस तरह पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारों ने गोम्मटसार, त्रिलोकसार की गाथाओं को प्रमाणरूप में अपनी टीकाओं में उद्धृत किया है। उस तरह द्रव्यसंग्रह का उल्लेख नहीं किया। वृत्तिकार श्री ब्रह्मदेव ने भी गोम्मटसार त्रिलोकसार की अनेक गाथाओं का उल्लेख किया है।

४. 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' तथा 'सिद्धान्तिदेव' इन दोनों उपाधियों में भी अन्तर है।

५. भावास्रव के भेद गिनाते हुए द्रव्यसंग्रह में निम्नलिखित गाथा है–

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओथ विण्णेआ।
पण पण पण दह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥

यानी–५ मिथ्यात्व, ५ अविरति, १५ प्रमाद, ३ योग और क्रोधादि चार कषाय ये ३२ भेद भावास्रव के हैं।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भावास्रव के लिये निम्नलिखित गाथा है–

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति।
पण बारस पणवीसं पण्णरसा होंति तब्भेया ॥७८६॥

यानी–५ मिथ्यात्व, १२ अविरत, २५ कषाय और १५ योग ये ५७ भेद भावास्रव के हैं। यदि गोम्मटसार के कर्ता श्री नेमिचन्द्र आचार्य द्रव्यसंग्रह के भी कर्ता होते तो भावास्रव के भेदों में परस्पर यह अन्तर न होता।

६. द्रव्यसंग्रह के वृत्तिकार श्री ब्रह्मदेव ने टीका के प्रारम्भ में द्रव्यसंग्रह के निर्माण का जो इतिहास लिखा है वह प्रामाणिक प्रतीत होता है, तदनुसार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने भोजराजा के समय मालवा के आश्रम नगर में सोम श्रेष्ठी के लिए पहले २६ गाथाओं का द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ लिखा था। फिर ५८ गाथाओं का बड़ा द्रव्यसंग्रह लिखा। 'लघु द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ इसी ग्रन्थ में अन्त में प्रकाशित है, उसकी अनेक गाथायें ज्यों-की-त्यों और अनेक गाथाओं के अंश ५८ गाथा वाले बड़े द्रव्यसंग्रह

में पाये जाते हैं। तदनुसार वृत्तिकार का लिखना सत्य प्रमाणित होता है। इसके अनुसार द्रव्यसंग्रह की रचना मालवा के आश्रम नगर में हुई है। किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती दक्षिण-प्रान्त के निवासी थे। उनका मालवा में आकर रहना असंगत है। तथा समय में भी भोजराजा से पहले हुए हैं।

७. जैन-साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने भी 'पुरातन वाक्य सूची' ग्रन्थ की प्रस्तावना में ६२-६३-६४ वें पृष्ठ पर उक्त दोनों नेमिचन्द्रों को भिन्न-भिन्न विद्वान् बतलाया है।

अतः यह बात निश्चित प्रतीत होती है कि द्रव्यसंग्रह के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव गोम्मटसार के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धांत-चक्रवर्ती से पश्चाद्वर्ती भिन्न विद्वान् हैं।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव किसके शिष्य थे इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध न होने से कुछ नहीं बतलाया जा सकता तथा उनके निश्चित समय का उल्लेख भी नहीं मिलता है, अतः निश्चित समय भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, व्याख्याकार श्री ब्रह्मदेव के लेखानुसार वे भोजराज के समकालीन ११वीं शताब्दी के विद्वान् ऋषि प्रतीत होते हैं।

द्रव्यसंग्रह की उपयोगिता—

द्रव्यसंग्रह केवल ५८ गाथाओं का छोटा-सा ग्रन्थ है परन्तु विषय-विवेचन की दृष्टि से अच्छा उपयोगी और महत्त्वशाली है। नौ अधिकारों में व्यवहार, निश्चयनय द्वारा जिस प्रकार जीव का वर्णन द्रव्यसंग्रह में किया है। वैसा अन्य ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। उसी तरह छह द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ७ तत्त्व, ९ पदार्थ, रत्नत्रय आदि की संक्षिप्त प्रतिपादन शैली भी द्रव्यसंग्रह में बहुत अच्छी है।

इसी कारण सैद्धान्तिक ज्ञान के लिये तत्त्वार्थसूत्र की तरह द्रव्यसंग्रह भी अच्छा उपयोगी ग्रन्थ है, इसी लक्ष्य से समस्त दिग० जैन परीक्षालयों के पठन-क्रम में इसे लिया गया है।

संस्कृत टीकाकार द्रव्यसंग्रह की बृहत्-संस्कृत-टीका केवल यही प्रस्तुत पाई जाती है। यह टीका श्री ब्रह्मदेव ने बहुत सुन्दर लिखी है। इस टीका में आपने जिन ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। तथा जिनका नामोल्लेख किया है। उससे अनुमान होता है कि आप अच्छे बहुश्रुती विद्वान् थे। गोम्मटसार, त्रिलोकसार, समयसार आदि ग्रन्थों का तो आपको अभ्यास था ही किन्तु साथ ही आपको धवला टीका के स्वाध्याय का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। 'मग्गणगुणठाणेहि य' आदि १३वीं गाथा की व्याख्या करते हुए आपने ४०वें पृष्ठ पर गुणजीवापज्जत्ती पाणासण्णा य मग्गणाओ य। उवओगो विय कमसो बीसं तु परूवणा भणिया।१। ''इति गाथाप्रभृतिकथितस्वरूपं धवलजयधवलमहाधवल-प्रबन्धाभिधानसिद्धांतत्रयबीजपदं सूचितम्'' लिखा है तथा ''दंसणपुव्वं णाणं'' आदि ४४वीं गाथा की व्याख्या करते हुए १८६वें पृष्ठ पर दर्शनोपयोग का स्वरूप 'सिद्धांताभिप्रायेण कथ्यते-यत् स्वस्यात्मनः

परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते।''घटविकल्पाद्व्यावर्त्य यत्स्वरूपे प्रयत्नमवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनं'' लिखा है यह भी धवला के अनुरूप लिखा है।

अतः पहले समय उत्तर प्रान्त में दुर्लभ धवल, जयधवल, महाधवल ग्रन्थों का भी ब्रह्मदेव ने अवलोकन किया था ऐसा ज्ञात होता है। तदनुसार आपका सैद्धान्तिक ज्ञान अच्छा प्रौढ़ था।

व्याख्या की प्रौढ़ किन्तु सुबोध ललित संस्कृत भाषा देखते हुए प्रमाणित होता है कि आप संस्कृत के तथा तर्कशास्त्र के भी अच्छे विद्वान् थे। इसके सिवाय प्रत्येक स्थान पर आपने प्रायः सभी बातों को शुद्ध आत्मतत्त्व के स्वरूप का उल्लेख करते हुए घटाने का सुन्दर प्रयास किया है इससे ज्ञात होता है कि आप अच्छे अध्यात्मरसिक थे।

आपने इस टीका के सिवाय परमात्मप्रकाश की टीका, तत्त्वदीपक, ज्ञानदीपक, त्रिवर्णाचार-दीपक, प्रतिष्ठातिलक, विवाहपटल और कथाकोष की भी रचना की है। आप संभवतः ब्रह्मचारी थे।

आपका निश्चित ठीक समय बताने-योग्य साधन उपलब्ध नहीं हैं किन्तु आप बारहवीं तेरहवीं शताब्दी के विद्वान् प्रतीत होते हैं। द्रव्यसंग्रह की रचना की घटना जिस प्रकार ब्रह्मदेव ने लिखी है उससे प्रतीत होता है कि आप ग्रन्थकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव के बाद ही हुए हैं किन्तु बहुत अधिक समय पीछे नहीं हुए, अधिक से अधिक ५०-१०० वर्ष का अन्तर रहा होगा।

जैसलमेर के श्वेताम्बरीय भंडार में संवत् १४८५ श्रावण सुदी १३ शनिवार की लिखी हुई ब्रह्मदेव की टीका वाली द्रव्यसंग्रह की एक प्रति है जो मांडवगढ़ (वर्तमान मांडू) में काष्ठासंघ माथुरसंघ के भट्टारक गुणकीर्ति के शिष्य भट्टारक यशःकीर्ति हरिभूषणदेव और ज्ञानचन्द्र की आम्नाय में अग्रवाल-वंशी गर्ग गोत्रीय श्रावकसाहु धीनु के पुत्र हींगा की धर्मपत्नी ने अपने ज्ञानावरण कर्म के क्षयार्थ लिखवाई थी।

श्री ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका तथा उसके हिन्दी अनुवाद सहित द्रव्यसंग्रह इससे पहले दो बार प्रकाशित हो चुका है, तथा दोनों बार श्री रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बई ने प्रकाशित किया है तथा दोनों वार स्व० श्री पं० जवाहरलाल जी शास्त्री जयपुर कृत हिन्दी अनुवाद ही प्रकाशित हुआ है। दूसरा प्रकाशन आज से ३४ वर्ष पहले वी० नि० सं० २४४५, वि० सं० १९७६ में हुआ था।

दिल्ली नगर में इस वर्ष दक्षिण-प्रान्तवासी श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज (आप चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी से भिन्न हैं) का पहाड़ी धीरज पर चातुर्मास हुआ है। आपके उपदेश से बृहद्द्रव्यसंग्रह का यह तीसरा प्रकाशन दिल्ली से हुआ है।

इसके सम्पादन का भार मुझको सौंपा गया किन्तु समय बहुत ही सीमित दिया गया, कार्तिक में महाराज का चातुर्मास समाप्त होगा, अतः दीपावली तक ग्रन्थ छपकर तैयार हो जाना चाहिए।

तदनुसार सम्पादन तथा प्रकाशन में लगभग डेढ़ मास ही मिल सका। इस कारण तथा आर्थिक व्यय की सीमानुसार इसका यथेष्ट सन्तोषजनक सम्पादन नहीं हो पाया है। मैं अनेक स्थल अधिक स्पष्ट करना चाहता था तथा संस्कृत व्याख्या के प्रकरणानुसार पेराग्राफ बनाकर एवं कुछ अन्यान्य आधुनिक सौंदर्य लाना चाहता था किन्तु उक्त दोनों कारणों से कुछ न कर सका, यह बात मुझे खटक रही है।

पूर्व प्रकाशनों के हिन्दी अनुवाद में अनेक स्थूल त्रुटियाँ रह गई थीं जिनसे अर्थ विपर्यास होता है। तथा कुछ साधारण त्रुटियाँ थीं, उन्हें इस अनुवाद में सुधार दिया गया है। परन्तु फिर भी सीमित समय के कारण शीघ्रतावश प्रूफ संशोधन में सावधानी रखते हुए भी त्रुटियाँ रह जाना असंभव नहीं, विद्वान् पाठक उन्हें सुधार लें।

कार्तिक वदी १० रविवार
वीर सं० २४७६, वि० सं० २०१०
०१.११.१९५३

अजितकुमार शास्त्री
[चावली (आगरा)
एवं मुलतान नगर]
देहली

संस्कृत वृत्तिकार

ब्रह्मदेवसूरि

अध्यात्मशैली के टीकाकारों में आचार्य ब्रह्मदेव का नाम उल्लेखनीय है। ये जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने 'स्व' समय और 'पर' समय का अच्छा अध्ययन किया है। इनके सम्बन्ध में बृहद्द्रव्यसंग्रह की भूमिका में पंडित जवाहरलालजी ने लिखा है कि ब्रह्म उनकी उपाधि है, जो बतलाती है कि वे ब्रह्मचारी थे और देव उनका नाम है। कई ग्रन्थकारों ने अपने नाम के प्रारम्भ में ब्रह्म शब्द का उपयोग उपाधि के रूप में किया है। यथा–आराधनाकथाकोश के कर्ता ब्रह्म नेमिदत्त और श्रुतस्कन्ध के रचयिता ब्रह्म हेमचन्द्र। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्म नेमिदत्त ब्रह्मचारी थे, पर 'ब्रह्म' यह उनकी उपाधि न होकर सम्भवतः ब्रह्मदेव यही पूरा नाम रहा हो। उनके उपलब्ध ग्रन्थों से उनके पाण्डित्य का तो परिज्ञान होता ही है, साथ ही अनेक विषयों की जानकारी भी मिलती है। ब्रह्मदेव के परिचय के सम्बन्ध में उनके ग्रन्थों से कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती है। श्री पण्डित परमानन्दजी शास्त्री ने अपने एक निबन्ध में बताया है कि द्रव्यसंग्रह' के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव, वृत्तिकार ब्रह्मदेव और सोमराज श्रेष्ठी ये तीनों ही समसामयिक हैं। उन्होंने अपने कथन की पुष्टि के लिए 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' की टीका के उत्थानवाक्य को उपस्थित कर लिखा है–

''पहले नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव द्वारा सोम नाम के राजश्रेष्ठी के निमित्त मालव देश के आश्रम नामक नगर के मुनिसुव्रत चैत्यालय में २६ गाथात्मक द्रव्यसंग्रह के लघुरूप में रचे जाने और बाद में विशेष तत्त्व परिज्ञानार्थ उन्हीं नेमिचन्द्र के द्वारा बृहद्द्रव्यसंग्रह की रचना हुई है। उस बृहद्द्रव्यसंग्रह के अधिकारों के विभाजनपूर्वक यह वृत्ति आरम्भ की जाती है। साथ में यह भी सूचित किया है कि उस समय आश्रम नाम का यह नगर महामण्डलेश्वर के अधिकार में था और सोम नाम का राजश्रेष्ठी भाण्डागार आदि अनेक नियोगों का अधिकारी होने के साथ–साथ तत्त्वज्ञानरूप सुधारस का पिपासु[१] था।''

श्री परमानन्दजी का अनुमान है कि ब्रह्मदेव के उक्त घटना निर्देश और लेखनशैली से यह स्पष्ट है कि ये सब घटनाएँ उनके सामने घटी हैं। अतएव वृत्तिकार ब्रह्मदेव को नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव के समकालीन या उनसे कुछ ही उत्तरकालवर्ती मानना चाहिए।

द्रव्यसंग्रह के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव मालवदेश के निवासी थे। इन्होंने आश्रमनगर को अपने निवास से पवित्र किया था और भव्य चातकों को ज्ञानामृत का पान कराया था। मुनि श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने पहले सोमश्रेष्ठी के विशेष निमित्त २६ गाथात्मक पदार्थ लक्षणरूप लघुद्रव्यसंग्रह की

१. अनेकान्त वर्ष १९, पृ० १४५

रचना की, पश्चात् तत्त्व परिज्ञानार्थ ५८ गाथात्मक बृहद्द्रव्यसंग्रह की रचना की, जिसका उल्लेख वृत्तिकार ने उत्थानवाक्य में किया है। वृत्तिकार ब्रह्मदेव ने उसी आश्रम नगर के मुनिसुव्रत चैत्यालय में अध्यात्मरस गर्भित द्रव्यसंग्रह की महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। यह टीका और मूलग्रन्थ रचना भोजदेव के राज्यकाल वि० सं० १०७०-११९० के मध्य लिखी गयी है। उत्थानिका वाक्य से यह स्पष्ट है कि ब्रह्मदेव की टीका और द्रव्यसंग्रह दोनों ही भोज के काल में रचे गये हैं। अतएव ब्रह्मदेव का समय वि० सं० की १२वीं शताब्दी होना चाहिए।

डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने ब्रह्मदेव को जयसेन के बाद का विद्वान् बतलाया है[1]। पर ब्रह्मदेव इनसे पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं, क्योंकि जयसेन ने 'पञ्चास्तिकाय' की पहली गाथा की टीका में ग्रन्थ के निमित्त की व्याख्या करते हुए लिखा है–''अथ प्राभृतग्रंथे शिवकुमारमहाराजो निमित्तम् अन्यत्र द्रव्यसंग्रहादौ सोमश्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्यं''। इससे स्पष्ट है कि जयसेन निमित्त कथन की बात से परिचित थे। अतएव वे ब्रह्मदेव के उत्तरवर्ती ज्ञात होते हैं। यों तो ब्रह्मदेव की टीकाशैली जयसेनाचार्य जैसी ही प्रतीत होती है। जयसेनाचार्य ने टीकाओं में शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ का कथन करने का निर्देश किया है। मंगलादि की चर्चा एवं व्याख्यान करने की पद्धति जयसेनाचार्य जैसी ही प्रतीत होती है। अतः सहसा ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मदेव ने जयसेनाचार्य का अनुसरण किया हो। जयसेन ने 'पंचास्तिकाय' की १४६वीं गाथा और समयसार की २१७वीं गाथा की टीका में, द्रव्यसंग्रह की ५७वीं गाथा की टीका में उद्धृत उद्धरणों को अपनाया है। अतः अनुमान यह है कि बृहद्द्रव्यसंग्रह की १३वीं गाथा में उद्धृत गद्यवाक्यों के आधार पर पण्डित आशाधरजी ने श्लोक की रचना की है–

''सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृतिषड्द्रव्य-पञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति। पाषाणरेखासदृशानन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान्य-तरोदयेन... इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते, परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्। यः पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिः सन् भूमिरेखादि-समानक्रोधादिद्वितीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेनैकदेशरागादिरहित-स्वाभाविक-सुखानुभूतिलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनरेकदेशहिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणेषु दंसणवयसामाइय-पोसहसचित्तराइभत्ते य...स एव सदृष्टिर्धूलिरेखादिसदृशक्रोधादितृतीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेन रागाद्युपाधिरहितस्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतानुभवलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनः

१. परमात्मप्रकाश, प्रस्तावना (अंग्रेजी), पृ० ७२

सामस्त्येन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणेषु च पञ्चमहाव्रतेषु वर्तते...''स एव जलरेखादिसदृशसंज्वलनकषायमन्दोदये...सत्यपूर्वपरमाह्लादैकसुखानुभूतिलक्षणापूर्व-करणोपशमकक्षपकसंज्ञोऽष्टमगुणस्थानवर्ती भवति।[1]

यही अभिप्राय पण्डित आशाधरजी के निम्नलिखित पद्य में अंकित उपलब्ध होता है–

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिंदादिमान्।
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोप्यघैः[2]॥

उक्त गद्य–पद्य में शब्द और अर्थ सादृश्य है। अतः यह मानना पड़ता है कि किसी एक ने दूसरे का अनुसरण किया है। आशाधरजी का समय वि० की १३ वीं शताब्दी है। आशाधरजी ने बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका के अनेक वाक्य ग्रहण किये हैं। अतः ब्रह्मदेव आशाधर के पूर्ववर्ती हैं। इनका समय जयसेन से पूर्व है।

पं० अजितकुमारशास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित बृहद्द्रव्यसंग्रह की भूमिका में लिखा है– ''जयसलमेर के श्वेताम्बरीय भण्डार में वि० सं० १४८५ श्रावण सुदी तेरस शनिवार की लिखी हुई टीका वाली द्रव्यसंग्रह की एक प्रति है। जो माण्डवगढ़ वर्तमान माण्डू में काष्ठासंघ, माथुरसंघ के भट्टारक गुणकीर्ति के शिष्य भट्टारक यशःकीर्ति, हरिभूषणदेव और ज्ञानचन्द्र की आम्नाय में अग्रवालवंशी, गर्गगोत्री श्रावक साहु धीनु के पुत्र हींगा की धर्मपत्नी ने अपने ज्ञानावरणकर्म के क्षयार्थ लिखवायी थी। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मदेव का समय इस पाण्डुलिपि की तिथि से पूर्ववर्ती है। अतः निष्कर्षरूप में ब्रह्मदेव का समय ई० सन् की १२वीं शती है।

रचनाएँ–

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, २. परमार्थप्रकाश टीका, ३. तत्त्वदीपक, ४. ज्ञानदीपक, ५. प्रतिष्ठातिलक, ६. विवाहपटल, ७. कथाकोष।

बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका–बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका में अनेक सैद्धान्तिक बातों का समावेश किया गया है। १०वीं गाथा के व्याख्यान में समुद्घात का, तेरहवीं के व्याख्यान में गुणस्थान और मार्गणाओं का, ३५वीं गाथा के व्याख्यान में १२ अनुप्रेक्षाओं का और विशेषतः तीनों लोकों का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। ज्ञान और दर्शन के प्रकरण में ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों की चर्चा कर

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, प्रथम संस्करण, गाथा १३, पृ० ३३–३५

२. सागारधर्मामृत, १/१३

दर्शनोपयोग का वर्णन किया गया है।

द्वितीय अधिकार की प्रारम्भिक गाथाओं की उत्थानिका में 'परिणामि जीवमुत्तं' गाथा उद्धृत कर छहों द्रव्यों का विस्तार से व्याख्यान किया है। लिखा है–परिणामपरिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपर्यायाभ्यां कृत्वा, शेषचत्वारि द्रव्याणि विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनीति। 'जीव' शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः। व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति, जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि। 'मुत्तं' शुद्धात्मनो विलक्षणस्पर्श-गन्धवर्णवती मूर्तिरुच्यते, तत्सद्भावान्मूर्तः पुद्गलः। जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्त्तमपि शुद्धनिश्चयनयेनामूर्तम्, धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्त्तानि। 'सपदेसं' लोकमात्रप्रमितासंख्येय-प्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमादिं कृत्वा पंचद्रव्याणि पंचास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि। कालद्रव्यं पुनर्बहुप्रदेशत्वलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम्।[१] अर्थात् स्वभाव और विभाव पर्यायों द्वारा परिणाम से जीव एवं पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं। शेष चार द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल विभाव व्यञ्जनपर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी हैं। 'जीव' शुद्धनिश्चयनय से निर्मल ज्ञान-दर्शनस्वभावधारक शुद्ध चैतन्यरूप है। आगम में शुद्ध चैतन्य को प्राण कहते हैं। उस शुद्ध चैतन्यरूप प्राण से जो जीता है, वह जीव है। व्यवहारनय से कर्मों के उदय से प्राप्त द्रव्य तथा भावरूप चार प्राणों से अर्थात् इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास नामक प्राण से जीता है, जियेगा और पहले जीता था, वह जीव है। पुद्गल आदि पाँच द्रव्य अजीवरूप हैं। शुद्ध आत्मा से विलक्षण, स्पर्श, गन्ध, रस तथा वर्ण का सद्भाव जिसमें पाया जाता है, वह मूर्तिक हैं। पुद्गल मूर्ति वाला होने से मूर्ति कहलाता हैं। जीवद्रव्य अनुपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय से मूर्त है किन्तु शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अमूर्त है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य भी अमूर्तिक है। लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशों को धारण करने से जीवादि पाँच द्रव्य पंचास्तिकाय नाम से कहे जाते हैं और बहुप्रदेशरूप कायत्व के न होने से कालद्रव्य अप्रदेश है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा द्रव्यों का विस्तार से निरूपण किया है। द्रव्यों के इस विवेचनप्रसंग में शंका-समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। बताया है कि यदि जीव-अजीव ये दोनों द्रव्य सर्वथा अपरिणामी ही हैं तो संयोगपर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है और यदि सर्वथा अपरिणामी हैं, तो जीव-अजीव द्रव्यरूप दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं, आस्रवादि सात पदार्थ नहीं ? इस शंका का उत्तर देते हुए बताया है कि कथंचित् परिणामी होने से सात पदार्थों का कथन संगत होता है। जीव शुद्धद्रव्यार्थिकनय से शुद्ध चिदानन्द स्वभावरूप है, पर अनादि कर्मबन्धरूप पर्याय के कारण राग आदि परद्रव्यजनित उपाधिपर्याय

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, प्रथम संस्करण, द्वितीय अधिकार, चूलिका प्रकरण, पृ० ७६-७७

को ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर्यायरूप से परिणमन करता है, तो भी निश्चयनय से अपने शुद्ध रूप को नहीं छोड़ता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों का भी कथन किया है।

इस प्रकार टीकाकार ब्रह्मदेव ने गाथा का शाब्दिक व्याख्यान ही नहीं किया, अपितु उसका विशेष विवेचन या व्याख्यान किया है। जैन आगमिक परम्परानुसार मति, श्रुत ज्ञान को परोक्ष कहा है, किन्तु ब्रह्मदेव ने गाथा ५ की टीका में शंका-समाधानपूर्वक उन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। इसी प्रकार गाथा ४४ की व्याख्या में दर्शन का स्वरूप तर्कशास्त्र और सिद्धान्त ग्रन्थानुसार उपस्थित किया गया है। ब्रह्मदेव ने इस स्वरूप का विवेचन धवला और जयधवला टीकाओं के आधार पर किया है। निश्चयतः ब्रह्मदेव ने आगम और अध्यात्म के प्रकाश में द्रव्यसंग्रह की टीका लिखी है। इस टीका में उद्धरण पद्यों की बहुलता है। समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमार्थप्रकाश, योगसार, मूलाचार, भगवतीआराधना, इष्टोपदेश, यशस्तिलक, आप्तस्वरूप, त्रिलोकसार और तत्त्वानुशासन के उद्धरण उपलब्ध होते हैं। गाथा ४९ में पंचनमस्कारग्रन्थ, लघुसिद्धचक्र और बृहद् सिद्धचक्र का कथन आया है। पंचनमस्कारग्रन्थ को १२००० श्लोकप्रमाण कहा है-''अन्यदपि द्वादशसहस्रप्रमितपंचनमस्कारग्रन्थ-कथितक्रमेण लघुसिद्धचक्रं, बृहत्सिद्धचक्रमित्यादि-देवार्चनविधानं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकगुरुप्रसादेन ज्ञात्वा ध्यातव्यम्[१]।'' इसीप्रकार पंचपरमेष्ठिग्रन्थ का कथन भी आया है। लिखा है-''तथैव विस्तरेण पंचपरमेष्ठिग्रन्थकथितक्रमेण, अतिविस्तारेण तु सिद्धचक्रादि-देवार्चनाविधिरूपमन्त्रवादसम्बन्धि-पंचनमस्कारग्रन्थे[२] चेति।'' इस प्रकार बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का निर्देश आया है, जो इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्रह्मदेव की टीकाशैली भाष्यात्मक होने पर भी सरल है। व्याख्याएँ नये रूप में प्रस्तुत की गयी हैं। अन्य ग्रन्थों से जो उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनका विषय के साथ मेल बैठता है। टीकाकार के व्यक्तित्व के साथ मूललेखक का व्यक्तित्व भी ब्रह्मदेव में समाविष्ट है।

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, प्रथम संस्करण, गाथा ४९, पृ० २०८

२. वही, गाथा ५४, पृ० २२२

मूलपाठ एवं ब्रह्मदेवसूरि कृत वृत्ति के अनुवादक एवं सम्पादक

पं० अजितकुमार शास्त्री

स्वार्थ की संकीर्णता से मुक्त होकर जब मानवचेतना अखिल विश्व के स्तर पर मांगलिक विधान करती है तब वह मानवीयता का प्रतिनिधि होती है। उसी से करुणा, दया, परोपकार जैसे जर्जर होते मूल्यों को संबल मिलता है।

पण्डितप्रवर अजितकुमारजी शास्त्री का जन्म चावली (आगरा) उत्तरप्रदेश में विक्रम संवत् १९७७ में माघ शुक्ला अष्टमी को उस समय हुआ जब देश प्लेग रोग से संघर्षरत था। ढाई वर्ष की अवस्था में माता-पिता के साथ सम्मेदशिखरजी की यात्रा ने आपके धार्मिक संस्कारों को संयोजित किया और पर्वत जैसी अडिगता व अटलता आपके अन्दर स्थापित हो गयी। शैशवकाल में ही माता-पिता के सुख से वंचित हो बड़े भाई इन्द्रप्रसादजी के संरक्षण और दादी सीताबाई की गोद में क्रमशः बढ़े और खड़े हुए।

शिक्षा—

सात वर्ष की आयु में आपने विद्याध्ययन आरम्भ किया। सन् १९१९ से आप दिगम्बर जैन महाविद्यालय चौरासी मथुरा में चार वर्ष तक पढ़े। पण्डित श्री राजेन्द्रकुमारजी और पण्डित कैलाशचन्द्रजी जैसे मेधावी साथियों के साथ कुछ समय तक बनारस में भी रहने का अवसर मिला। बाद में माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन परीक्षालय बम्बई से शास्त्री की परीक्षा पास की। इसके साथ ही आपने राजकीय परीक्षा में न्यायमध्यमा उत्तीर्ण की। न्यायतीर्थ परीक्षा की तैयारी तो की पर देशव्यापी असहयोग आन्दोलन के कारण परीक्षा नहीं दी। सन् १९४४ में पंजाब विश्वविद्यालय से प्रभाकर परीक्षा के साथ प्रवेशिका (मैट्रिक) परीक्षा भी उत्तीर्ण की। इस प्रकार शिक्षा को प्राप्त कर आपने अपने जीवन को योग्य एवं गतिशील बनाया।

कर्मक्षेत्र—

सन् १९२० से ही आप कर्मक्षेत्र में आगे आ गये। आजीविकोपार्जन हेतु सन् १९२४ में मुलतान आकर बसे और अध्यापक बन गये। १९२५ में दुकान का शुभारम्भ किया और १९३४ में अकलंक नाम से प्रेस की नींव डाली। १६ जुलाई १९४७ को जब देश के विभाजन की योजना बनी, तब आपको भी मुलतान छोड़कर सहारनपुर आना पड़ा। यहाँ लाला हुलासरायजी ने आपको और मुद्रणालय दोनों को समुचित स्थान दिया। १० माह तक यहाँ रहे, प्रेस के व्यवसाय के योग्य क्षेत्र न होने से आपको दिल्ली आना पड़ा। दिल्ली में अभय प्रेस सदर बाजार में खोला और अपनी एक

दयामयी भूल से सन् १९५० में प्रेस से स्वत्व खो बैठे। सन् १९५६ में आपने पुनः उसे सुदृढ़ स्थिति में पहुँचाया। सन् १९६६ से श्री महावीरजी को आपने अपना आवास स्थान बनाया।

सम्पादनकार्य—

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ के मुखपत्र जैनदर्शन का आपने ९ वर्ष तक सम्पादन किया। बाद में १ वर्ष तक सिद्धान्तसंरक्षिणी सभा के जैनदर्शन के सम्पादन व प्रकाशन में हाथ बँटाया। सन् १९५० से १९६८ तक जैनगजट के सम्पादन का श्रेय आपको है। सन् १९६६ से शान्तिवीरनगर महावीरजी के श्रेयोमार्ग का सम्पादन भी आपके ही करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

साहित्यसेवा—

सन् १९१८ में ब्र० ज्ञानानन्दजी की प्रेरणा से आपने अपनी लेखनी को साहित्य के क्षेत्र प्रवेश कराया। सर्वप्रथम 'मानव जीवन की सफलता' नामक निबन्ध को लिखकर पर्याप्त यश प्राप्त किया। छात्र जीवन में भी आपने कभी एक-दो लेख लिखे थे, जो पद्मावती पुरवाल नामक पत्रिका में कलकत्ता से प्रकाशित भी हुए थे। आपकी प्रमुख रचनाओं में सत्यार्थदर्पण, सत्यपथदर्शन, जैनधर्मपरिचय, अनेकान्तपरिचय, दैनिकजीवनचर्या, स्वास्थ्यविज्ञान, आर्य समाज की गप्पाष्टक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आपने कुछ ऐसे भी ग्रन्थ लिखे हैं, जिन पर नाम नहीं दिया, किन्तु शैली व भाषा की विशेषताओं से वह आपकी ही रचनायें सिद्ध होती हैं। आपने पत्रों के माध्यम से भी करीब चार-पाँच हजार पृष्ठों की सामग्री समाज को प्रदान की। आपने अनेक ग्रन्थों का अनुवाद एवं सम्पादन ब्र० रतनचन्द्रजी मुख्तार के साथ मिलकर किया।

सामाजिक अवदान—

आप परोपकार एवं आदर्श सिद्धान्तवादी होने के साथ ईमानदार व सेवाभाव में किसी से कम नहीं थे। आपके जीवन में अनेक ऐसी घटनायें घटित हुईं, जिनसे आपके इन गुणों की मिशाल स्पष्ट होती है। इसी तरह समाजसेवा के कार्यों में भी आप कभी पीछे नहीं रहे। शास्त्रि-परिषद् के मन्त्री पद पर आपने जो सेवाएँ प्रदान कीं, उनका उल्लेख होना अनिवार्य है। सच्चे अर्थों में मानवता के इस पुजारी ने श्री महावीरजी के शान्त व स्वच्छ वातावरण में २० मई, सन् १९६६ को अन्तिम सांस लेकर चिरविश्राम हेतु प्रयाण किया।

आपका सेवाकार्य एवं जुझारूपन युवापीढ़ी को सदैव उत्साहित करने वाला तथा समाज व देश के लिए गौरवपूर्ण रहेगा।

विषयानुक्रमणिका

द्वितीयोऽधिकार

सिरिणेमिचंदसिद्धांतिदेवविरइयो

दव्वसंगहो

(बृहद्द्रव्यसंग्रहः)

[श्रीब्रह्मदेवसूरिकृतसंस्कृतवृत्तिसहितः]

वृत्तिकारकृतं मङ्गलाचरणम्

प्रणम्य परमात्मानं सिद्धं त्रैलोक्यवन्दितम्।
स्वाभाविकचिदानन्दस्वरूपं निर्मलाव्ययम् ॥१॥
शुद्धजीवादिद्रव्याणां[1] देशकं च जिनेश्वरम्।
द्रव्यसंग्रहसूत्राणां वृत्तिं वक्ष्ये समासतः ॥२॥युग्मम्॥

१. अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानककलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपालमहामण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्ति-समुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो

शुद्धं प्रबुद्धं वसुकर्ममुक्तं, निःसीमज्ञानादिकशक्तियुक्तम्।
भव्येषु नन्द्यं भुवनेषु वन्द्यं, अजितं जिनेशं प्रणमामि नित्यम्॥

भावार्थ—स्वाभाविक ज्ञान-आनन्दस्वरूप (केवलज्ञानी-अनन्तसुखी), निर्मल (कर्ममल रहित), अविनाशी शुद्ध जीव आदि द्रव्यों के उपदेशक, जिनेश्वर (गणधर आदि कषायविजेता जिनों के स्वामी), त्रिलोक-वन्दित (ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोकवर्ती जीवों से वन्दनीक) सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करके सूत्र (बहुत अर्थ को थोड़े शब्दों द्वारा प्रतिपादन करना) रूप द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ की मैं (ब्रह्मदेव) संक्षेप से व्याख्या करूँगा।

१. मालवदेश में धारा नगरी के शासक कलिकालचक्रवर्ती 'भोजदेव' राजा का सम्बन्धी 'श्रीपाल' महामण्डलेश्वर (राज्य के कुछ अंश का शासक) था। उस श्रीपाल के 'आश्रम' नगर में श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के मन्दिर में 'सोम' सेठ के लिए 'श्रीनेमिचन्द्र' सिद्धान्तिदेव ने लघु द्रव्यसंग्रह का पहले २६ गाथाओं में निर्माण किया था। वह सोम सेठ शुद्ध आत्म-ज्ञान द्वारा आत्मा के सुखामृत का अनुभव किया, इस कारण वह दुःखरूप नरकादि से भयभीत था और परमात्मा की भावना से प्रकट होने वाले सुखरूपी अमृत रस को पीना चाहता था, भेद-अभेद रूप रत्नत्रय (निश्चय व्यवहाररूप रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) भावना का बहुत प्रेमी था, अच्छा भव्य

१. 'तत्त्वानाम्' इति पाठान्तरम्।

निमित्तं **श्रीनेमिचंद्रसिद्धान्तिदेवैः** पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्व-परिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।

२. तत्रादौ **जीवमजीवं दव्वं** इत्यादिसप्तविंशतिगाथापर्यन्तं षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादक नामा प्रथमोऽधिकारः। तदनन्तरं **आसवबंधण** इत्याद्येकादशगाथापर्यन्तं सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादन-मुख्यतया द्वितीयो महाधिकारः। ततः परं **सम्मद्दंसणणाणं** इत्यादिविंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गकथन-मुख्यत्वेन[1] तृतीयोऽधिकारश्च। इत्यष्टाधिकपञ्चाशद्गाथाभिरधिकारत्रयं ज्ञातव्यम्। तत्राप्यादौ प्रथमाधिकारे चतुर्दशगाथापर्यन्तं जीवद्रव्यव्याख्यानम्। ततः परं ''अज्जीवो पुण णेओ'' इत्यादिगाथाष्टकपर्यन्तम-जीवद्रव्यकथनम्। ततः परं 'एवं छब्भेयमिदं' एवं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पञ्चास्तिकाय-विवरणम् इति प्रथमाधिकारमध्येऽन्तराधिकार-त्रयमवबोद्धव्यम्॥

था तथा राजकोष (राज-खजाने) का कोषाध्यक्ष (खजांची) आदि अनेक राज-कार्यों का अधिकारी था। फिर श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने उस लघु द्रव्यसंग्रह को विशेष तत्त्वज्ञान कराने के लिए बढ़ाकर ५८ गाथाओं में रच डाला, उस बड़ी द्रव्यसंग्रह के अधिकारों का विभाजन करते हुए मैं (ब्रह्मदेव) वृत्ति प्रारम्भ करता हूँ।

२. उस बृहद्द्रव्यसंग्रहनामक शास्त्र में पहले **जीवमजीवं दव्वं** इस गाथा से लेकर **जावदियं आयासं** इस सत्ताईसवीं गाथा तक १.जीव, २. पुद्गल, ३.धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश और ६. काल इन छह द्रव्यों का तथा १. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म और ५.आकाश इन पाँचों अस्तिकायों का वर्णन करने वाला षड्द्रव्य पंचास्तिकाय-प्रतिपादक नामक पहला अधिकार है। इसके बाद **आसवबंधणसंवर** इस गाथा से लेकर **असुहसुहभावजुत्ता** इस अड़तीसवीं गाथा तक १.जीव, २.अजीव, ३.आस्रव, ४. बन्ध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७. मोक्ष, इन सातों तत्त्वों का और १.जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४.बन्ध, ५. संवर, ६. निर्जरा, ७. मोक्ष, ८. पुण्य और ९. पाप इन नव पदार्थों का मुख्यता से प्रतिपादन करने वाला ''सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादक' नामक दूसरा महा अधिकार है। तदनन्तर **सम्मद्दंसणणाणं** इस गाथा से लेकर अगली बीस गाथाओं तक मुख्यता से मोक्षमार्ग का वर्णन करने वाला तीसरा अधिकार है। इसप्रकार अट्ठावन गाथाओं द्वारा तीन अधिकार जानने चाहिए। उन तीनों अधिकारों में भी आदि का जो पहला अधिकार है उसमें १४ गाथा द्वारा **णिक्कम्मा अट्ठगुणा** इस गाथा तक जीवद्रव्य का व्याख्यान है। उसके आगे **अज्जीवो पुण णेओ** इस गाथा से लेकर **लोयायासपदेसे** गाथा तक की आठ गाथाओं में अजीवद्रव्य का वर्णन है। तदनन्तर **एवं छब्भेयमिदं** गाथा से लेकर पाँच गाथाओं में **जावदियं आयासं** इस गाथा तक पाँच अस्तिकायों का वर्णन करने वाला तीसरा अन्तराधिकार है।

---

१. 'मुख्यतया' इति पाठान्तरम्।

तत्रापि चतुर्दशगाथासु मध्ये नमस्कारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। जीवादिनवाधिकारसूचनरूपेण **जीवो उवओगमओ** इत्यादिद्वितीयसूत्रगाथा। तदनन्तरं नवाधिकारविवरणरूपेण द्वादशसूत्राणि भवन्ति। तत्राप्यादौ जीवसिद्ध्यर्थं **तिक्काले चदुपाणा** इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयकथनार्थं **उवओगो दुवियप्पो** इत्यादिगाथात्रयम्, ततः परममूर्त्तत्वकथनेन **वण्ण-रसपंच** इत्यादिसूत्रमेकम्, ततोऽपि कर्मकर्तृत्व-प्रतिपादनरूपेण **पुग्गलकम्मादीणं** इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तरं भोक्तृत्वनिरूपणार्थं **ववहारा सुहदुक्ख** इत्यादिसूत्रमेकम्, ततः परं स्वदेहप्रमितिसिद्ध्यर्थं **अणुगुरुदेहपमाणो** इतिप्रभृति-सूत्रमेकम्, ततोऽपि संसारिजीवस्वरूपकथनेन **पुढविजलतेउवाऊ** इत्यादिगाथात्रयम्, तदनन्तरं **णिक्कम्मा अट्ठगुणा** इतिप्रभृतिगाथापूर्वार्धेन सिद्धस्वरूपकथनम्, उत्तरार्धेन पुनरूर्ध्वगतिस्वभावः। इति नमस्कारादिचतुर्दश-गाथामेलापकेन प्रथमाऽधिकारे समुदायपातनिका ॥

इस तरह प्रथम अधिकार में तीन अन्तराधिकार समझने चाहिए। प्रथम अधिकार के पहले अन्तराधिकार में जो १४ गाथायें हैं उनमें नमस्कार की मुख्यता से पहली गाथा है। जीव आदि ९ अधिकारों की सूचना रूप से **जीवो उवओगमओ** दूसरी सूत्र गाथा है। इसके पश्चात् ९ अधिकारों का विशेष वर्णन करने रूप १२ गाथायें हैं। उन १२ सूत्रों में भी प्रथम ही जीव की सिद्धि के लिए **तिक्काले चदुपाणा** इत्यादि एक गाथा है। इसके बाद ज्ञान और दर्शन इन दोनों उपयोगों को कहने के लिए **उवओगो दुवियप्पो** इत्यादि ३ गाथा सूत्र हैं। तदनन्तर जीव की अमूर्त्तता का कथन रूप **वण्णरसपंचगंधा** एक गाथासूत्र है। तत्पश्चात् जीव के कर्मकर्तृता का प्रतिपादन करने रूप **पुग्गलकम्मादीणं** एक गाथासूत्र है। इसके पीछे जीव के कर्मफलों के भोक्तापने का कथन करने के लिए **ववहारा सुहदुक्खं** इत्यादि १ गाथा है। उसके पीछे जीव को अपने देह-प्रमाण सिद्ध करने के लिए **अणुगुरुदेह-पमाणो** १ गाथासूत्र है। इसके बाद संसारी जीव के स्वरूप का कथन करने रूप **पुढविजलतेउवाऊ** आदि ३ गाथासूत्र हैं। इसके अनन्तर **णिक्कम्मा अट्ठगुणा** गाथा के पूर्वार्ध में जीव के सिद्धस्वरूप का कथन किया है और उत्तरार्ध में जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का वर्णन किया है। इस प्रकार नमस्कार गाथा से लेकर जो १४ गाथासूत्र हैं, उनका मेल करने से प्रथम अधिकार में समुदाय रूप से पातनिका का कथन है।

३. अथेदानीं गाथापूर्वार्द्धेन सम्बन्धाऽभिधेयप्रयोजनानि कथयाम्युत्तरार्द्धेन च मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति–

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा॥१॥

जीव सचेतन द्रव्य रहे हैं तथा अचेतन शेष रहें,
जिनवर में भी जिनपुंगव वे इस विध जिन वृषभेश कहें।
शत-शत सुरपति शत-शत वंदन जिन चरणों में सिर धरते,
उन्हें नमूँ मैं भाव-भक्ति से मस्तक से झुक-झुक करके॥१॥

४. वृत्ति–वंदे इत्यादिक्रियाकारकसम्बन्धेन पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **वंदे** एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्माराधनलक्षणभावस्तवनेन, तथा च असद्भूतव्यवहारनयेन तत्प्रतिपादकवचनरूपद्रव्यस्तवनेन च 'वन्दे' नमस्करोमि। परमशुद्धनिश्चयनयेन पुनर्वन्द्यवन्दकभावो नास्ति। स कः कर्त्ता? अहं **नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवः**। कथं वन्दे? **सव्वदा** सर्वकालम्। केन? **सिरसा** उत्तमाङ्गेन। **तं**

---

३. अब गाथा के पूर्वार्ध द्वारा सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन कहता हूँ और गाथा के उत्तरार्ध से मंगल के लिए इष्ट देवता को नमस्कार करता हूँ, इस अभिप्राय को मन में रखकर भगवान् (श्रीनेमिचन्द्र) प्रथमसूत्र कहते हैं–

अन्वयार्थ–(जेण जिणवरवसहेण) जिन जिनवर वृषभ ने **(जीवं अजीवं दव्वं)** जीव और अजीव द्रव्य को **(णिद्दिट्ठं)** कहा है **(देविंदविंदवंदं)** देवेन्द्रों के समूह से वन्दनीय हैं **(तं)** उनको **(सव्वदा)** सदा **(सिरसा)** मस्तक से **(वंदे)** मैं नमस्कार करता हूँ।

गाथार्थ–मैं (नेमिचन्द्र) जिनवरों में प्रधान जिसने जीव और अजीव द्रव्य का वर्णन किया, देवेन्द्रादिकों के समूह से वंदित उस तीर्थंकर परमदेव को सदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ॥१॥

४. वृत्त्यर्थ–वंदे इत्यादि पदों का क्रियाकारकभाव सम्बन्ध से पदखण्डना रीति द्वारा व्याख्यान किया जाता है।'वंदे' एकदेश शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से निज-शुद्ध आत्मा का आराधन करने रूप भावस्तवन से और असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा उस निज-शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करने वाले वचनरूप द्रव्यस्तवन से नमस्कार करता हूँ तथा परमशुद्ध निश्चयनय से वन्द्यवंदकभाव नहीं है। (अर्थात् एकदेश शुद्धनिश्चयनय और असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से जिनेन्द्रदेव वन्दनीय हैं और मैं वन्दना करने वाला हूँ किन्तु परमशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वन्द्यवन्दक भाव नहीं है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् और मेरा आत्मा समान है।) वह नमस्कार करने वाला कौन है? मैं द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ का निर्माता श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव हूँ। कैसे नमस्कार करता हूँ **सव्वदा** सदा, **शिरसा** सिर झुका

कर्म्मतापन्नं वीतरागसर्वज्ञम्। तं किं विशिष्टम्? **देविंदविंदवंदं** मोक्षपदाभिलाषिदेवेन्द्रादिवन्द्यम्,

''भवणालयचालीसा विंतरदेवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामरचउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ॥१॥''

इति गाथाकथितलक्षणेन्द्राणां शतेन वन्दितं[१] देवेन्द्रवृन्दवन्द्यम्। **जेण** येन भगवता। किं कृतं? **णिद्दिट्ठं** निर्दिष्टं कथितं प्रतिपादितम्। किं ? **जीवमजीवं दव्वं** जीवाजीवद्रव्यद्वयम्। तद्यथा, सहजशुद्ध-चैतन्यादिलक्षणं जीवद्रव्यं, तद्विलक्षणं पुद्गलादिपञ्चभेदमजीवद्रव्यं च, तथैव चिच्चमत्कारलक्षणशुद्ध-जीवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायानां, परमचिज्ज्योतिःस्वरूप शुद्धजीवादिसप्ततत्त्वानां निर्दोष-परमात्मादि-नवपदार्थानां च स्वरूपमुपदिष्टम्। पुनरपि कथम्भूतेन[२] भगवता? **जिणवरवसहेण** जितमिथ्यात्व-रागादित्वेन एकदेशजिनाः असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्तेषां वराः गणधरदेवास्तेषां जिनवराणां वृषभः प्रधानो जिनवरवृषभस्तीर्थंकरपरमदेवस्तेन जिनवरवृषभेणेति॥

५. अत्राध्यात्मशास्त्रे यद्यपि सिद्धपरमेष्ठिनमस्कार उचितस्तथापि व्यवहारनयमाश्रित्य प्रत्युपकार-स्मरणार्थमर्हत्परमेष्ठिनमस्कार एव कृतः। तथा चोक्तं-

---

करके नमस्कार करता हूँ। **तं** वन्दना क्रिया के कर्मपने को प्राप्त किसको नमस्कार करता हूँ? उस वीतरागसर्वज्ञ को, वह वीतरागसर्वज्ञ देव कैसे हैं ? **देविंदविंदवंदं** मोक्ष पद के अभिलाषी देवेन्द्रादि से वन्दनीक हैं। भवनवासी देवों के ४० इन्द्र, व्यन्तर देवों के ३२ इन्द्र, कल्पवासी देवों के २४ इन्द्र, ज्योतिष्क देवों के चन्द्र और सूर्य ये २ इन्द्र, मनुष्यों का १ इन्द्र-चक्रवर्ती तथा तिर्यञ्चों का १ इन्द्र-सिंह ऐसे सब मिलकर १०० इन्द्र हैं ॥१॥ इस गाथा में कहे १०० इन्द्रों से वंदनीय है। इन भगवान् ने क्या किया है? **णिद्दिट्ठं** कहा है। क्या कहा है? **जीवमजीवं दव्वं** जीव और अजीव दो द्रव्य कहे हैं। जैसे कि स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य आदि लक्षण वाला जीव द्रव्य है और इससे विलक्षण गुणी यानि-अचेतन १ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश और ५ काल, इन पाँच भेदों वाला अजीव द्रव्य है। तथा चिच्चमत्काररूप लक्षण वाला शुद्ध जीव-अस्तिकाय एवं पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय हैं। परमज्ञान-ज्योति-स्वरूप शुद्ध जीव तथा अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं और दोषरहित परमात्मा जीव आदि नौ पदार्थ हैं; उन सबका स्वरूप कहा है। पुनः वे भगवान् कैसे हैं? **जिणवरवसहेण** मिथ्यात्व तथा राग आदि को जीतने के कारण असंयतसम्यग्दृष्टि आदि एकदेशी जिन हैं, उनमें जो वर-श्रेष्ठ हैं वे जिनवर यानि गणधरदेव हैं, उन जिनवरों-गणधरों में भी जो प्रधान है; वह जिनवर वृषभ अर्थात् तीर्थंकर परमदेव हैं। उन जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये हैं, इति।

५. आध्यात्मिक शास्त्र में यद्यपि सिद्ध परमेष्ठियों को नमस्कार करना उचित है तो भी व्यवहारनय का अवलम्बन लेकर जिनेन्द्र के उपकार-स्मरण करने के लिए अर्हत्परमेष्ठी को ही नमस्कार किया है। ऐसा कहा भी है कि-

१. वंद्यत्वात्' इति पाठान्तरम्। २. कथम्भूतेन? तेन भगवता जिणवरवसहेण' इति पाठान्तरम्।

"श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः॥१॥" (आप्तपरीक्षा १)

६.अत्र गाथापरार्द्धेन-"नास्तिकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम्। पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नः शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः॥२॥" इति श्लोककथितफलचतुष्टयं समीक्षमाणा ग्रन्थकाराः शास्त्रादौ त्रिधा देवतायै [१]त्रिधा नमस्कारं कुर्वन्ति। इत्यादिमङ्गलव्याख्यानं सूचितम्। मङ्गलमित्युपलक्षणम्। उक्तं च-

"मंगलणिमित्तहेउं परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमायरिओ ॥३॥" (तिलोयपण्णत्ति)

'वक्खाणउ' व्याख्यातु। स कः? 'आयरिओ' आचार्यः। कं ? सत्थं शास्त्रं 'पच्छा' पश्चात्। किं कृत्वा पूर्वं? 'वागरिय' व्याकृत्य व्याख्याय। कान्? 'छप्पि' षडप्यधिकारान्। कथंभूतान्? "मंगल-णिमित्तहेउं परिमाणं णाम तह य कत्तारं" मङ्गलं निमित्तं हेतुं परिमाणं नाम कर्त्तृसंज्ञामिति। इतिगाथाकथित-क्रमेण मंगलाद्यधिकारषट्कमपि ज्ञातव्यम्॥ गाथापूर्वार्द्धेन तु संबंधाभिधेयप्रयोजनानि सूचितानि। कथमिति चेत्, विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मस्वरूपादिविवरणरूपो वृत्तिग्रन्थो व्याख्यानम्। व्याख्येयं तु तत्प्रतिपादकसूत्रम्। इति व्याख्यानव्याख्येयसंबंधो विज्ञेयः। यदेव व्याख्येयसूत्रमुक्तं तदेवाभिधानं वाचकं

अर्हत्परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। इसलिए प्रधान मुनियों ने शास्त्र के प्रारम्भ में अर्हत् परमेष्ठी के गुणों की स्तुति की है ॥१॥

६. यहाँ गाथा के उत्तरार्ध से १. नास्तिकता का त्याग, २. सभ्य पुरुषों के आचरण का पालन, ३. पुण्य की प्राप्ति और ४. विघ्नविनाश, इन चार लाभों के लिए शास्त्र के आरम्भ में इष्टदेव की स्तुति की जाती है ॥१॥ इस तरह श्लोक में कहे हुए चार फलों को देखते हुए शास्त्रकार तीन प्रकार के देवता के लिए मन, वचन और काय द्वारा नमस्कार करते हैं। तीन प्रकार के देवता कहे जाते हैं। किस प्रकार? इष्ट, अधिकृत और अभिमत ये तीन भेद हैं। **१. इष्ट**—अपने द्वारा पूज्य इष्ट है। **२. अधिकृत**—ग्रन्थ अथवा प्रकरण के आदि में नमस्कार करने के लिए जिसकी विवक्षा की जाती है वह अधिकृत है। **३. अभिमत**—विवाद बिना सब लोगों को सम्मत हो; वह अभिमत है। इस तरह मंगल का व्याख्यान किया।

यहाँ मंगल यह उपलक्षण पद है। कहा भी है कि आचार्य १. मंगलाचरण, २. शास्त्र बनाने का निमित्त-कारण, ३. शास्त्र का प्रयोजन, ४. शास्त्र का परिमाण यानि श्लोक संख्या, ५. शास्त्र का नाम और शास्त्र का कर्ता। इन छह अधिकारों को बतला करके शास्त्र का व्याख्यान करे ॥१॥ इस गाथा में कहे हुए मंगल आदि छह अधिकार भी जानने चाहिए। गाथा के पूर्वार्ध से सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन सूचित किया है। कैसे सूचित किया है? इसका उत्तर यह है कि निर्मल ज्ञान दर्शन-रूप स्वभाव-धारक जो परमात्मा है, उसके स्वरूप को विस्तार से कहने वाली जो वृत्ति है, वह तो व्याख्यान है और उसके प्रतिपादन करने वाले जो गाथा सूत्ररूप हैं, वे व्याख्येय (व्याख्या करने योग्य)

प्रतिपादकं भण्यते, अनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारपरमात्मादिस्वभावोऽभिधेयो वाच्यः प्रतिपाद्यः। इत्यभिधानाभिधेय-स्वरूपं बोधव्यम्। प्रयोजनं तु व्यवहारेण षड्द्रव्यादिपरिज्ञानम्, निश्चयेन निजनिरञ्जनशुद्धात्मसंवित्ति-समुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरूपं स्वसंवेदनज्ञानम्। परमनिश्चयेन पुनस्तत्फलरूपा केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाविनाभूता निजात्मोपादानसिद्धानन्तसुखावाप्तिरिति। एवं नमस्कारगाथा व्याख्याता ॥१॥

७. अथ नमस्कारगाथायां प्रथमं यदुक्तं जीवद्रव्यं तत्संबंधे नवाधिकारान् संक्षेपेण सूचयामीति अभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य कथनसूत्रमिति निरूपयति–

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥२॥

सुनो! जीव उपयोग-मयी है तथा अमूर्तिक कहलाता।
स्व-तन बराबर प्रमाणवाला कर्त्ता - भोक्ता है भाता ॥
ऊर्ध्वगमन का स्वभाव-वाला सिद्ध तथा है अविकारी।
स्वभाव के वश विभाव के वश कसा कर्म से संसारी ॥२॥

हैं। इस प्रकार व्याख्यान-व्याख्येय रूप 'सम्बन्ध' जानना चाहिए। और जो व्याख्यान करने योग्य सूत्र है वही अभिधान अर्थात् वाचक कहलाता है। तथा अनन्त ज्ञानादि अनन्त गुणों का आधार जो परमात्मा आदि का स्वभाव है वह अभिधेय है अर्थात् कथन करने योग्य विषय है। इसप्रकार 'अभिधान-अभिधेय' का स्वरूप जानना चाहिए। व्यवहारनय की अपेक्षा से ''षट्द्रव्य आदि का जानना'' इस ग्रन्थ का प्रयोजन है और निश्चयनय से अपने निर्लेप शुद्ध आत्मा के ज्ञान से प्रकट हुआ जो विकार रहित परम आनन्दरूपी अमृत रस का आस्वादन करने रूप जो स्व-संवेदन ज्ञान है, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। परम निश्चयनय से उस आत्मज्ञान के फलरूप-केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के बिना न होने वाली और निज आत्मारूप उपादान कारण से सिद्ध होने वाली ऐसी जो अनन्त सुख की प्राप्ति है, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। इस तरह पहली नमस्कार-गाथा का व्याख्यान किया है।

७. अब ''नमस्कार गाथा में जो प्रथम ही जीवद्रव्य कहा गया है, उस जीवद्रव्य के सम्बन्ध में नौ अधिकारों को मैं संक्षेप से सूचित करता हूँ।'' यह अभिप्राय मन में धारण करके जीव आदि नौ अधिकारों का कथन करने वाले सूत्र का निरूपण करते हैं—

अन्वयार्थ— (सो) वह आत्मद्रव्य **(जीवो)** जीने वाला है **(उवओगमओ)** उपयोग वाला है **(अमुत्ति)** अमूर्तिक है **(कत्ता)** कर्मों का कर्ता है **(सदेहपरिमाणो)** अपने शरीर के प्रमाण अर्थात् बराबर है **(भोत्ता)** कर्मों का भोक्ता है **(संसारत्थो)** संसार में स्थित है **(सिद्धो)** सिद्ध है **(विस्ससा उड्ढगई)** स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

गाथार्थ—जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्ता है, अपने शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है ॥२॥

८. **वृत्ति—जीवो** शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधिशुद्धचैतन्य-लक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबंधवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवतीति जीवः। **उवओगमओ** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिर्वृत्तत्वात् ज्ञानदर्शनोपयोगमयो भवति। **अमुत्ति** यद्यपि व्यवहारेण मूर्त-कर्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्त्तस्तथापि परमार्थेनामूर्त्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैक-स्वभावत्वादमूर्त्तः। **कत्ता** यद्यपि भूतार्थनयेन निष्क्रियटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽयं जीवस्तथाप्य-भूतार्थनयेन मनोवचनकायव्यापारोत्पादककर्मसहितत्वेन शुभाशुभकर्मकर्तृत्वात् कर्त्ता। **सदेहपरिमाणो** यद्यपि निश्चयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्म्मबन्धाधीनत्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्थप्रदीपवत् स्वदेहपरिमाणः। **भोत्ता** यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वात्मोत्थसुखामृतभोक्ता, तथाप्यशुद्धनयेन तथा-विधसुखामृतभोजनाभावाच्छुभाशुभकर्मजनितसुखदुःखभोक्तृत्वाद्भोक्ता। **संसारत्थो** यद्यपि शुद्धनिश्चय-नयेन निःसंसारनित्यानन्दैकस्वभावस्तथाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चप्रकारसंसारे तिष्ठतीति

---

८. **वृत्त्यर्थ—जीवो** यह जीव यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से आदि, मध्य और अंत से रहित, निज तथा अन्य का प्रकाशक, अविनाशी उपाधिरहित और शुद्ध चैतन्य लक्षण वाले निश्चय प्राण से जीता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अनादिकर्म-बन्धन के वश अशुद्ध द्रव्यप्राण और भावप्राण से जीता है, इसलिए जीव है। **उवओगमओ** यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से पूर्ण निर्मल केवलज्ञान व दर्शन दो उपयोगमय जीव है, तो भी अशुद्धनय से क्षायोपशमिक-ज्ञान और दर्शन से बना हुआ है, इस कारण ज्ञानदर्शनोपयोगमय है। **अमुत्ति** यद्यपि जीव व्यवहारनय से मूर्तिक कर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाली मूर्ति से सहित होने के कारण मूर्तिक है, तो भी निश्चयनय से अमूर्तिक, इन्द्रियों के अगोचर, शुद्ध, बुद्धरूप एक स्वभाव का धारक होने से अमूर्तिक है। **कत्ता** यद्यपि यह जीव निश्चयनय से क्रियारहित, टंकोत्कीर्ण—अविचल ज्ञायक एक स्वभाव का धारक है, तथापि व्यवहारनय से मन, वचन, काय के व्यापार को उत्पन्न करने वाले कर्मों से सहित होने के कारण शुभ और अशुभ कर्मों का करने वाला होने से कर्ता है। **सदेहपरिमाणो** यद्यपि जीव निश्चयनय से लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात स्वाभाविक शुद्ध प्रदेशों का धारक है, तो भी व्यवहार से अनादि कर्मबंधवशात् शरीर कर्म के उदय से उत्पन्न, संकोच तथा विस्तार के अधीन होने से, घट आदि में स्थित दीपक की तरह, अपने देह के बराबर है। **भोत्ता** यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से रागादिविकल्प रूप उपाधियों से रहित तथा अपनी आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत का भोगने वाला है, तो भी अशुद्धनय की अपेक्षा उस प्रकार के सुख अमृत भोजन के अभाव से शुभ कर्म से उत्पन्न सुख और अशुभ कर्म से उत्पन्न दुःख का भोगने वाला होने के कारण भोक्ता है। **संसारत्थो** यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से संसार रहित है और नित्य आनन्द एक स्वभाव का धारक है, फिर भी अशुद्धनय की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव इन

संसारस्थः। **सिद्धो** व्यवहारेण स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धस्तथापि निश्चयनयेनानन्तज्ञानानन्तगुणस्वभावत्वात् सिद्धः। **सो** स एवं गुणविशिष्टो जीवः। **विस्ससोड्ढगई** यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदयवशेनोद्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावस्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्त-गुणावाप्तिलक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोद्ध्र्वगतिश्चेति। अत्र पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्थोऽप्युक्तः।

इदानीं मतार्थः कथ्यते। जीवसिद्धिश्चार्वाकं प्रति, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति, अमूर्त्त-जीवस्थापनं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, कर्मकर्तृत्वस्थापनं सांख्यं प्रति, स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिक-मीमांसकसांख्यत्रयं प्रति, कर्मभोक्तृत्वव्याख्यानं बौद्धं प्रति, संसारस्थव्याख्यानं सदाशिवं प्रति, सिद्धत्वव्याख्यानं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, ऊर्ध्वगतिस्वभावकथनं माण्डलिकग्रन्थकारं प्रति, इति मतार्थो ज्ञातव्यः। आगमार्थः पुनः "**अस्त्यात्मानादिबद्धः**" इत्यादि प्रसिद्ध एव। शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूप-मुपादेयं, शेषं च हेयम्। इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यवबोधव्यः। एवं शब्दनयमतागमभावार्थो यथासम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः। इति जीवादिनवाधिकारसूचनसूत्रगाथा ॥२॥

पाँच प्रकार के संसार में रहता है; इस कारण संसारस्थ है। **सिद्धो** यद्यपि यह जीव व्यवहारनय से निज-आत्मा की प्राप्ति स्वरूप जो सिद्धत्व है उसके प्रतिपक्षी कर्मों के उदय से असिद्ध है; तो भी निश्चयनय से अनन्तज्ञान और अनन्त-गुण-स्वभाव होने से सिद्ध है। **सो** वह इस प्रकार के गुणों से युक्त जीव है। **विस्ससोडढ्गई** यद्यपि व्यवहार से चार गतियों को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदय-वश ऊँचा, नीचा तथा तिरछा गमन करने वाला है, फिर भी निश्चयनय से केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों की प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है उसमें पहुँचने के समय स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। यहाँ खण्डान्वय के ढंग से शब्दों का अर्थ कहा; तथा शुद्ध, अशुद्ध नयों के विभाग से नय का भी अर्थ कहा है।

अब मत का अर्थ कहते हैं। **चार्वाक** के लिए जीव की सिद्धि की गई है। **नैयायिक** के लिए जीव के ज्ञान तथा दर्शन उपयोगमय लक्षण का कथन है। **भट्ट तथा चार्वाक** के प्रति जीव का अमूर्त स्थापन है, "आत्मा कर्म का कर्ता है" ऐसा कथन सांख्य के प्रति है। "आत्मा अपने शरीर प्रमाण है", यह कथन नैयायिक, मीमांसक और सांख्य इन तीनों के प्रति है। "आत्मा कर्मों का भोक्ता है" यह कथन बौद्ध के प्रति है। "आत्मा संसारस्थ है" ऐसा वर्णन सदाशिव के लिए है। "आत्मा सिद्ध है" यह कथन भट्ट और चार्वाक के प्रति है। "जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है" यह कथन मण्डलीक मतानुयायी के लिए है। इस तरह मत का अर्थ जानना चाहिए। "अनादिकाल से कर्मों से बंधा हुआ आत्मा है" इत्यादि आगम का अर्थ तो प्रसिद्ध ही है। शुद्ध नय के आश्रित जो जीव स्वरूप है, वह तो उपादेय यानि ग्रहण करने योग्य है और शेष सब त्याज्य है। इस प्रकार हेयोपादेयरूप से भावार्थ भी समझना चाहिए। इस तरह शब्द, नय, मत, आगमार्थ, भावार्थ यथासंभव व्याख्यान के समय में सब जगह जानना चाहिए। इस तरह जीव आदि नौ अधिकारों को सूचित करने वाली यह सूत्र गाथा है ॥२॥

९. अतः परं द्वादशगाथाभिर्नवाधिकारान् विवृणोति, तत्रादौ जीवस्वरूपं कथयति–

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥३॥

आयु, श्वास और बल इन्द्रिय यूँ चार प्राण को धार रहा।
विगत, अनागत, आगत में यह जीव रहा व्यवहार रहा॥
किन्तु जीव का सदा-सदा से मात्र चेतना श्वास रहा।
निश्चय नय का कथन यही है दिला हमें विश्वास रहा॥३॥

१०. **वृत्ति–तिक्काले चदुपाणा** कालत्रये चत्वारः प्राणा भवन्ति। ते के ? **इंदियबलमाउ-आणपाणो य** अतीन्द्रियशुद्धचैतन्यप्राणात्प्रतिशत्रुपक्षभूतः क्षायोपशमिक इन्द्रियप्राणः, अनन्तवीर्यलक्षण-बलप्राणादनन्तैकभागप्रमिता मनोवचनकायबलप्राणाः, अनाद्यनन्तशुद्धचैतन्यप्राणविपरीततद्विलक्षणः सादिः सान्तश्चायुः प्राणः, उच्छ्वासपरावर्त्तोत्पन्नखेदरहितविशुद्धचित्प्राणाद्विपरीतसदृश आनपानप्राणः। **ववहारा सो जीवो** इत्थंभूतैश्चतुर्भिर्द्रव्यभावप्राणैर्यथासंभवं जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा यो व्यवहारनयात्स जीवः द्रव्येन्द्रियादिर्द्रव्यप्राणा अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, भावेन्द्रियादिः क्षायोपशमिकभावप्राणाः

---

९. अब इसके आगे १२ गाथाओं द्वारा नौ अधिकारों का विवरण कहते हैं। उनमें पहले जीव का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ववहारा) व्यवहारनय से **(जस्स)** जिसके **(तिक्काले)** तीनों कालों में **(इंदियबलमाउ य आणपाणो)** इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये **(चदुपाणा)** चार प्राण **(दु)** तथा **(णिच्छय-णयदो)** निश्चय नय से जिसके **(चेदणा)** चेतना हो **(सो जीवो)** वह जीव है।

गाथार्थ—तीन काल में इन्द्रिय, बल, आयु, श्वास-निश्वास इन चारों प्राणों को जो धारण करता है, व्यवहारनय से वह जीव है। निश्चयनय से जिसके चेतना है, वही जीव है॥३॥

१०. **वृत्त्यर्थ—तिक्काले चदुपाणा** तीन काल में जीव के चार प्राण होते हैं। वे कौन से? **इंदियबलमाउआणपाणो य** इन्द्रियों के अगोचर जो शुद्ध चैतन्य प्राण है उसके प्रतिपक्षभूत क्षायोपशमिक (क्षयोपशम से होने वाले) इन्द्रिय प्राण है, अनन्तवीर्यरूप जो बलप्राण है उसके अनन्तवें भाग के प्रमाण मनोबल, वचनबल और कायबल प्राण हैं, अनादि, अनन्त तथा शुद्ध जो चैतन्य प्राण है, उससे विपरीत एवं विलक्षण सादि (आदि सहित) और सान्त (अन्त सहित) आयु प्राण है, श्वासोच्छ्वास के आने जाने से उत्पन्न खेद से रहित जो शुद्ध चित्-प्राण है उससे विपरीत श्वासोच्छ्वास प्राण है। **ववहारा सो जीवो** व्यवहारनय से, इस प्रकार के चार द्रव्य व भाव प्राणों से जो जीता है, जीवेगा या पहले जी चुका है, वह जीव है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा द्रव्येन्द्रिय आदि द्रव्य प्राण हैं और अशुद्ध निश्चयनय से भावेन्द्रिय आदि क्षायोपशमिक भावप्राण हैं और निश्चयनय से

पुनरशुद्धनिश्चयेन। सत्ताचैतन्यबोधादिः शुद्धभावप्राणाः निश्चयनयेति **णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स** शुद्धनिश्चयनयतः सकाशादुपादेयभूता शुद्धचेतना यस्य स जीवः, एवं

''वच्छक्खरभवसारिच्छ, सग्गणिरयपियराय।
चुल्लयहंडिय पुण मडउ, णव दिट्ठंता जाय ॥१॥''

इति दोहककथितनवदृष्टान्तैश्चार्वाकमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं जीवसिद्धिव्याख्यानेन गाथा गता ॥३॥

सत्ता, चैतन्य, बोध आदि शुद्धभाव जीव के प्राण हैं। **णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स** शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा उपादेयभूत यानि ग्रहण करने योग्य शुद्ध चेतना जिसके हो वह जीव है।

वच्छक्खभवसारिच्छ सग्गणिरय पियराय। चुल्लय हंडिय पुण मडउ णव दिट्ठंता जाय। **१. वत्स—**जन्म लेते ही बछड़ा पूर्वजन्म के संस्कार से, बिना सिखाये अपने आप ही माता के स्तन पीने लगता है। **२. अक्षर—**जीव जानकारी के साथ अक्षरों का उच्चारण आवश्यकतानुसार करता है, जड़ पदार्थों में यह विशेषता नहीं होती। **३. भव—**आत्मा यदि एक स्थायी पदार्थ न हो तो जन्म-ग्रहण किसका होगा? **४. सादृश्य—**आहार, परिग्रह, भय, मैथुन, हर्ष, विषाद आदि सब जीवों में एक समान दृष्टिगोचर होते हैं। **५-६. स्वर्ग-नरक—**जीव यदि स्वतंत्र पदार्थ न हो तो स्वर्ग में जाना तथा नरक में जाना किसके सिद्ध होगा। **७. पितर—**अनेक मनुष्य मरकर भूत आदि हो जाते हैं और फिर अपने पुत्र, पत्नी आदि को कष्ट, सुख आदि देकर अपने पूर्व भव का हाल बताते हैं। **८. चूल्हा हंडी—**जीव यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाँच भूतों से बन जाता हो तो दाल बनाते समय चूल्हे पर रक्खी हुई हंडिया में पाँचों भूत पदार्थों का संसर्ग होने के कारण वहाँ भी जीव उत्पन्न हो जाना चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं है। **९. मृतक—**मुर्दा शरीर में पाँचों भूत पदार्थ पाये जाते हैं किन्तु फिर भी उसमें जीव के ज्ञान आदि नहीं होते। इस तरह जीव एक पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध होता है। इस दोहे में कहे हुए नौ दृष्टान्तों द्वारा चार्वाक मतानुयायी शिष्यों को समझाने के लिए जीव की सिद्धि के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई। अब अध्यात्म भाषा द्वारा नयों के लक्षण कहते हैं। ''सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले हैं'', यह **शुद्ध निश्चयनय** का लक्षण है। ''रागादि ही जीव हैं'' यह **अशुद्ध निश्चयनय** का लक्षण है। ''गुण और गुणी का अभेद होने पर भी भेद का उपचार करना'' यह **सद्भूत व्यवहारनय** का लक्षण है। ''भेद होने पर भी अभेद का उपचार'' यह **असद्भूत व्यवहारनय** का लक्षण है। विशेष इस प्रकार है—''जीव के केवलज्ञान आदि गुण हैं'' यह **अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय** का लक्षण है। ''जीव के मतिज्ञानादि विभाव गुण हैं'' यह **उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय** है। ''संश्लेष संबन्ध सहित पदार्थ शरीरादि मेरे हैं'' यह **अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का लक्षण** है। ''जिनका संश्लेष संबन्ध नहीं है, ऐसे पुत्र आदि मेरे हैं'' यह **उपचरित असद्भूत व्यवहारनय** का लक्षण है। यह नयचक्र का मूल है। संक्षेप में यह छह नय जानने चाहिए ॥३॥

११. अथ गाथात्रयपर्यन्तं ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं कथ्यते। तत्र प्रथमगाथायां मुख्यवृत्त्या दर्शनोपयोगव्याख्यानं करोति। यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासंभवमन्यदपि विवक्षितं लभ्यत इति ज्ञातव्यम्—

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू [1]ओही दंसणमध केवलं णेयं॥४॥

आतम में उपयोग द्विविध है आगम ने यह गाया है।
ज्ञान रूप औ दर्शनपन में गुरुवर ने समझाया है॥
ज्ञात रहे फिर दर्शन भी वह चउविध माना जाता है।
अचक्षुदर्शन चक्षु अवधि औ केवलदर्शन साता है॥४॥

१२. वृत्ति—उवओगो दुवियप्पो उपयोगो द्विविकल्पः। **दंसणणाणं च** निर्विकल्पकं दर्शनं सविकल्पकं ज्ञानं, च पुनः **दंसणं चदुधा** दर्शनं चतुर्धा भवति **चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं** चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनमथ अथो केवलदर्शनमिति विज्ञेयम्। तथाहि—आत्मा हि जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिसमस्तवस्तुसामान्यग्राहकसकलविमलकेवलदर्शनस्वभावस्तावत् पश्चादनादिकर्मबन्धाधीनः सन् चक्षुर्दर्शनावरणक्षयोपशमाद्बहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्त्तसत्तासामान्यं निर्विकल्पं संव्यवहारेण

---

११. अब तीन गाथा पर्यंत ज्ञान तथा दर्शन इन दो उपयोगों का वर्णन करते हैं?। उनमें भी पहली गाथा में मुख्य रूप से दर्शनोपयोग का व्याख्यान करते हैं। जहाँ पर यह कथन हो कि ''अमुक विषय का मुख्यता से वर्णन करते हैं'', वहाँ पर ''गौण रूप से अन्य विषय का भी यथासंभव कथन प्राप्त होता है'' यह जानना चाहिए—

अन्वयार्थ—(उवओगो दुवियप्पो) उपयोग दो प्रकार का है **(दंसणणाणं)** दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग **(च)** तथा **(दंसणं चदुधा)** दर्शनोपयोग चार प्रकार का **(चक्खु अचक्खू ओही अध केवलं दंसणं)** चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन **(णेयं)** जानना चाहिए।

गाथार्थ—उपयोग दो प्रकार का है—दर्शन और ज्ञान। उसमें दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, ऐसे चार प्रकार का जानना चाहिए ॥४॥

१२. वृत्त्यर्थ—उपयोग दो प्रकार का है—दर्शन और ज्ञान। दर्शन तो निर्विकल्पक है और ज्ञान सविकल्पक है। दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन, ऐसा जानना चाहिए। **विशेष विवरण**-आत्मा तीन लोक और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान इन तीनों कालों में रहने वाले संपूर्ण द्रव्य सामान्य को ग्रहण करने वाला जो पूर्ण निर्मल केवलदर्शन स्वभाव है उसका धारक है किन्तु अनादि कर्मबन्ध के अधीन होकर चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम से तथा बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्तिक पदार्थ के सत्ता सामान्य को (जो

---

१. छन्दपूर्ति के लिए यहाँ पर दीर्घ ऊकार प्रतीत होता है।

प्रत्यक्षमपि निश्चयेन परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तच्चक्षुर्दर्शनम्। तथैव स्पर्शनरसनघ्राण-श्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमत्वात्स्वकीयस्वकीयबहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं सत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम्। तथैव च मनइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्सहकारिकारणभूताष्ट-दलपद्माकारद्रव्यमनोऽवलम्बनाच्च मूर्त्तामूर्त्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेण यत्पश्यति तन्मानसमचक्षुर्दर्शनम्। स एवात्मा यदवधिदर्शनावरणक्षयोपशमान्मूर्त्तवस्तुगतसत्तासामान्यं निर्विकल्प-रूपेणैकदेशप्रत्यक्षेण यत्पश्यति तदवधिदर्शनम्। यत्पुनः सहजशुद्धसदानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसंवित्ति-प्राप्तिबलेन केवलदर्शनावरणक्षये सति मूर्त्तामूर्त्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्यं विकल्परहितं सकलप्रत्यक्ष-रूपेणैकसमये पश्यति तदुपादेयभूतं क्षायिकं केवलदर्शनं ज्ञातव्यमिति ॥४॥

१३. अथाष्टविकल्पं ज्ञानोपयोगं प्रतिपादयति–

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जवकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥५॥

मति-श्रुत दो-दो और अवधि दो उलटे-सुलटे चलते हैं।
मन-पर्यय औ केवल दो यूँ ज्ञान भेद वसु मिलते हैं॥
मति-श्रुत परोक्ष, शेष सभी हो विकल-सकल प्रत्यक्ष रहे।
लोकालोकालोकित करते त्रिभुवन के अध्यक्ष कहें ॥५॥

संव्यवहार से प्रत्यक्ष है किन्तु निश्चय से परोक्षरूप है, उसको) एक देश से विकल्परहित जो देखता है वह **चक्षुदर्शन** है, उसी तरह स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा कर्णइन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से और अपनी-अपनी बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्तिक सत्तासामान्य को परोक्षरूप एक देश से जो विकल्परहित देखता है वह **अचक्षुदर्शन** है और इसी प्रकार मन इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से तथा सहकारी कारण रूप जो आठ पाँखुड़ी के कमल के आकार द्रव्य मन है, उसके अवलंबन समस्त द्रव्यों में विद्यमान सत्तासामान्य को परोक्ष रूप से विकल्प से मूर्त तथा अमूर्त वह मानस अचक्षुदर्शन है। वही आत्मा अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्त वस्तु में सत्तासामान्य को एक देश प्रत्यक्ष से विकल्परहित जो देखता है, वह **अवधिदर्शन** है। तथा सहज शुद्ध अविनाशी आनन्द रूप एक स्वरूप के धारक परमात्म तत्त्व के ज्ञान तथा प्राप्ति के बल से केवल-दर्शनावरण के क्षय होने पर समस्त मूर्त, अमूर्त वस्तु के सत्तासामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय में विकल्परहित जो देखता है उसको उपादेय रूप क्षायिक **केवलदर्शन** जानना चाहिए ॥४॥

१३. अब आठ भेद सहित ज्ञानोपयोग का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(मदिसुदओही अणाणणाणाणि) मति, श्रुत, अवधि ये तीनों अज्ञान/मिथ्याज्ञानरूप और ज्ञान/सम्यग्ज्ञानरूप हैं तथा **(मणपज्जवकेवलमवि)** मन:पर्यय और केवलज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप ही हैं इस तरह यह सभी **(अट्ठवियप्पं णाणं)** आठ प्रकार का ज्ञान है **(च)** और

१४. वृत्ति—णाणं अट्ठवियप्पं ज्ञानमष्टविकल्पं भवति। **मदिसुदिओही अणाणणाणाणि** अत्राष्टविकल्पमध्ये मतिश्रुतावधयो मिथ्यात्वोदयवशाद्विपरीताभिनिवेशरूपाण्यज्ञानानि भवन्ति, तान्येव शुद्धात्मादितत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन सम्यग्दृष्टिजीवस्य सम्यग्ज्ञानानि भवन्ति। **मणपज्जवकेवलमवि** मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमप्येवमष्टविधं ज्ञानं भवति, **पच्चक्खपरोक्खभेयं च** प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च अवधिमनःपर्ययद्वयमेकदेशप्रत्यक्षं, विभङ्गावधिरपि देशप्रत्यक्षं, केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं शेषचतुष्टयं परोक्षमिति। इतो विस्तरः—आत्मा हि निश्चयनयेन सकलविमलाखण्डैक-प्रत्यक्षप्रतिभासमयकेवलज्ञानरूपस्तावत्। स च व्यवहारेणानादिकर्मबन्धप्रच्छादितः सन्मतिज्ञानावरणीय-क्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च बहिरङ्गपञ्चेन्द्रियमनोऽवलम्बनाच्च मूर्तामूर्तं वस्त्वेकदेशेन विकल्पाकारेण परोक्षरूपेण सांव्यवहारिकप्रत्यक्षरूपेण वा यज्जानाति तत्क्षायोपशमिकं मतिज्ञानम्। किञ्च छद्मस्थानां वीर्यान्तरायक्षयोपशमः केवलिनां तु निरवशेषक्षये ज्ञानं चारित्राद्युत्पत्तौ सहकारी सर्वत्र ज्ञातव्यः।

(पच्चक्ख परोक्ख भेयं) प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद से वह ज्ञान दो प्रकार का भी है।

गाथार्थ—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ऐसे आठ प्रकार का ज्ञान है। इनमें कुअवधि, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ये चार प्रत्यक्ष हैं और शेष चार परोक्ष हैं ॥५॥

१४. वृत्त्यर्थ—णाणं अट्ठवियप्पं ज्ञान आठ प्रकार का है। **मदिसुदिओही अणाणणाणाणि** उन आठ प्रकार के ज्ञानों में मति, श्रुत तथा अवधि ये तीन मिथ्यात्व के उदय के वश से विपरीताभिनिवेश रूप अज्ञान होते हैं इसी से कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि (विभंगावधि इनके नाम हैं, तथा वे ही मति, श्रुत तथा अवधि ज्ञान आत्मा आदि तत्त्व के विषय में विपरीत श्रद्धा न होने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्ज्ञान होते हैं। इस तरह कुमति आदि तीन अज्ञान और मति आदि तीन ज्ञान, ज्ञान के ये ६ भेद हुए तथा **मणपज्जवकेवलमवि** मनःपर्यय और केवलज्ञान ये दोनों मिलकर ज्ञान के सब आठ भेद हुए। **पच्चक्खपरोक्खभेयं च** प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद रूप है। इन आठों में अवधि और मनःपर्यय ये दोनों तथा विभंगावधि तो देशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, शेष कुमति, कुश्रुत, मति और श्रुत ये चार परोक्ष हैं।

विस्तार—जैसे आत्मा निश्चयनय से पूर्ण, विमल, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष, केवलज्ञानस्वरूप है; वही आत्मा व्यवहारनय से अनादिकालीन कर्मबन्ध से आच्छादित हुआ, मतिज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और बहिरंग पाँच इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन से मूर्त और अमूर्त वस्तु को एक देश से विकल्पाकार परोक्ष रूप से अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से जो जानता है वह क्षायोपशमिक 'मतिज्ञान' है। छद्मस्थों के तो वीर्यान्तराय का क्षयोपशम सर्वत्र ज्ञानचारित्र आदि की उत्पत्ति में सहकारी कारण है और केवलियों के वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय, ज्ञान-चारित्र आदि की उत्पत्ति में सर्वत्र सहकारी कारण है, ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए।

१५. संव्यवहारलक्षणं कथ्यते—समीचीनो व्यवहारः संव्यवहारः। प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः संव्यवहारो भण्यते। संव्यवहारे भवं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। यथा घटरूपमिदं मया दृष्टमित्यादि। तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमान्नोइन्द्रियावलम्बनाच्च प्रकाशोपाध्यायादिबहिरङ्गसहकारिकारणाच्च मूर्त्तामूर्त्त-वस्तुलोकालोकव्याप्तिज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत्परोक्षं श्रुतज्ञानं भण्यते। किञ्च विशेषः—शब्दात्मकं श्रुतज्ञानं परोक्षमेव तावत्, स्वर्गापवर्गादिबहिर्विषयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विकल्परूपं तदपि परोक्षं, यत्पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहमनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तदीषत्परोक्षम्, यच्च निश्चयभाव-श्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादि-विकल्पजालरहितत्वेन निर्विकल्पम्, अभेदनयेन तदेवात्मशब्दवाच्यं वीतरागसम्यक् चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते।

अत्राह शिष्यः—आद्ये परोक्षमिति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति कथं प्रत्यक्षं भवतीति। परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इदं पुनरपवादव्याख्यानं, यदि तदुत्सर्गव्याख्यानं न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थे परोक्षं भणितं तिष्ठति। तर्कशास्त्रे सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातं। यथा

---

१५. अब सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण कहते हैं—समीचीन अर्थात् ठीक जो व्यवहार है वह संव्यवहार कहलाता है, संव्यवहार का लक्षण प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप है। संव्यवहार में जो हो सो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। जैसे—''घट का रूप मैंने देखा'' इत्यादि। ऐसे ही श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और नो इन्द्रिय मन के अवलम्बन से प्रकाश और अध्यापक आदि बहिरंग सहकारी कारण के संयोग से मूर्तिक तथा अमूर्तिक वस्तु को, लोक तथा अलोक को व्याप्ति रूप ज्ञान से जो अस्पष्ट जानता है उसको परोक्ष श्रुतज्ञान कहते हैं। इसमें विशेष यह है कि शब्दात्मक जो श्रुतज्ञान है वह तो परोक्ष है ही तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि बाह्य विषयों का बोध कराने वाला विकल्परूप जो ज्ञान है वह भी परोक्ष है और जो अभ्यन्तर में ''सुख-दुख विकल्परूप मैं हूँ'' अथवा ''मैं अनंत ज्ञान आदि रूप हूँ'', इत्यादिक ज्ञान है वह ईषत् (किंचित्) परोक्ष है तथा जो निश्चय भावश्रुत ज्ञान है वह शुद्ध आत्मा के अभिमुख (सन्मुख) होने से सुख संवित्ति-सुखानुभव-स्वरूप है और वह निज आत्मज्ञान के आकार से सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न जो रागादि विकल्पसमूह हैं, उनसे रहित होने के कारण निर्विकल्प है और अभेद नय से वही ज्ञान 'आत्मा' शब्द से कहा जाता है तथा वह वीतराग सम्यक्चारित्र के बिना नहीं होता, वह ज्ञान यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है, तथापि संसारियों को क्षायिकज्ञान का अभाव होने से क्षायोपशमिक होने पर भी 'प्रत्यक्ष' कहलाता है।

यहाँ पर शिष्य शंका करता है कि आद्ये परोक्षम् कहकर तत्त्वार्थसूत्र में मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहा है, फिर श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? इस शंका का उत्तर देते हैं कि तत्त्वार्थ सूत्र में जो श्रुत को परोक्ष कहा है सो उत्सर्ग व्याख्यान है और ''भाव श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है'' यह अपवाद की अपेक्षा से कथन है। यदि 'तत्त्वार्थसूत्र' में उत्सर्ग का कथन न होता तो 'तत्त्वार्थसूत्र' में मतिज्ञान

अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत्प्रत्यक्षं भण्यते। यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति तर्हि सुखदुःखादिसंवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति न च तथा। तथैव च स एवात्मा अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमान्मूर्त्तं वस्तु यदेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदवधिज्ञानम्। यत्पुनर्मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च स्वकीयमनोऽवलम्बनेन परकीयमनोगतं मूर्त्तमर्थमेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदीहामतिज्ञानपूर्वकं मनःपर्ययज्ञानम्। तथैव निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणैकाग्रध्यानेन केवलज्ञानावरणादिघातिचतुष्टयक्षये सति यत्समुत्पद्यते तदेवसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावग्राहकं सर्वप्रकारोपादेयभूतं केवलज्ञानमिति ॥५॥

१६. अथ ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयव्याख्यानस्य नयविभागेनोपसंहारः कथ्यते–

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥६॥

आतम का साधारण लक्षण वसु-चउ-विध उपयोग रहा।
गीत रहा व्यवहार गा रहा सुनो! जरा उपयोग लगा॥
किन्तु शुद्धनय के नयनों में शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला।
आतम प्रतिभासित होता है बुध-मुनि मन हर्षणहारा ॥६॥

को परोक्ष कैसे कहा जाता? और यदि वह सूत्र में परोक्ष ही कहा गया है तो तर्कशास्त्र में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे हुआ? इसलिए जैसे अपवाद व्याख्यान से परोक्ष होने परभी मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है वैसे ही अपने आत्मा के सन्मुख जो भावश्रुत-ज्ञान है वह परोक्ष है तो भी उसको प्रत्यक्ष कहा जाता है। यदि एकान्त से ये मति, श्रुत दोनों परोक्ष ही हों तो सुख-दुःख आदि का जो स्वसंवेदन-स्वानुभव है वह भी परोक्ष ही होगा किन्तु वह स्वसंवेदन परोक्ष नहीं है। उसी तरह वही आत्मा अवधि-ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्तिक पदार्थ को जो एकदेश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह अवधिज्ञान है तथा जो मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अपने मन के अवलम्बन द्वारा पर के मन में प्राप्त हुए मूर्त पदार्थ को एकदेश प्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है वह ईहा मतिज्ञान पूर्वक मनःपर्यय ज्ञान है एवं अपने शुद्ध आत्म-द्रव्य के यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप एकाग्र ध्यान द्वारा केवल-ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर जो उत्पन्न होता है, वह एक समय में समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव को ग्रहण करने वाला और सब प्रकार से उपादेय (ग्रहण करने योग्य) 'केवलज्ञान' है ॥५॥

१६. अब ज्ञान, दर्शन दोनों उपयोगों के व्याख्यान का नय-विभाग द्वारा उपसंहार कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ववहारा) व्यवहार नय से **(अट्ठ णाण)** आठ प्रकार का ज्ञान **(चदु दंसण)** चार प्रकार का दर्शन **(सामण्णं)** सामान्य से **(पुण)** और **(सुद्धणया)** शुद्ध निश्चय नय से **(सुद्धं दंसणं णाणं)** शुद्धदर्शन व शुद्धज्ञान **(जीवलक्खणं)** जीव का लक्षण **(भणियं)** कहा है।

१७. वृत्ति—अट्ठचदुणाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं अष्टविधं ज्ञानं चतुर्विधं दर्शनं सामान्यं जीवलक्षणं भणितम्। सामान्यमिति कोऽर्थः संसारिजीवमुक्तजीवविवक्षा नास्ति, अथवा शुद्धाशुद्धज्ञानदर्शनविवक्षा नास्ति। तदपि कथमिति चेद् विवक्षाया अभावः सामान्यलक्षणमिति वचनात्, कस्मात्सामान्यं जीवलक्षणं भणितं, **ववहारा** व्यवहारात् व्यवहारनयात्। अत्र केवलज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्भूतशब्दवाच्योऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः छद्मस्थज्ञानदर्शनापरिपूर्णापेक्षया पुनरशुद्धसद्भूतशब्द वाच्य उपचरितसद्भूतव्यवहारः, कुमतिकुश्रुतविभङ्गत्रये पुनरुपचरितासद्भूतव्यवहारः।

सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं शुद्धनिश्चयनयात्पुनः शुद्धमखण्डं केवलज्ञानदर्शनद्वयं जीवलक्षणमिति। किञ्च ज्ञानदर्शनोपयोगविवक्षायामुपयोगशब्देन विवक्षितार्थपरिच्छित्तिलक्षणोऽर्थ-ग्रहणव्यापारो गृह्यते। शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयविवक्षायां पुनरुपयोगशब्देन शुभाशुभशुद्धभावनैकरूपमनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति। अत्र सहजशुद्धनिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्य साक्षादुपादेयभूतस्याक्षयसुखस्योपादान-कारणत्वात्केवलज्ञानदर्शनद्वयमुपादेयमिति। एवं नैयायिकं प्रति गुणगुणिभेदैकान्तनिराकरणार्थमुपयोग-व्याख्यानेन गाथात्रयं गतम् ॥६॥

गाथार्थ—व्यवहारनय से आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन को सामान्य रूप से जीव का लक्षण कहा गया है और शुद्ध नय की अपेक्षा से शुद्ध ज्ञान, दर्शन को जीव का लक्षण कहा है ॥६॥

१७. वृत्त्यर्थ—अट्ठ चदुणाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं आठ प्रकार का ज्ञान तथा चार प्रकार का दर्शन सामान्य रूप से जीव का लक्षण कहा गया है। यहाँ पर 'सामान्य' इस कथन का यह तात्पर्य है कि इस लक्षण में संसारी तथा मुक्त जीव की विवक्षा नहीं है, अथवा शुद्ध अशुद्ध ज्ञान दर्शन की भी विवक्षा नहीं है। सो कैसे? इस शंका का उत्तर यह है कि ''विवक्षा का अभाव ही सामान्य का लक्षण है'' ऐसा कहा है। किस अपेक्षा से जीव का सामान्य लक्षण कहा है? इसका उत्तर यह है कि **ववहारा** अर्थात् व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा है। यहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन के प्रति शुद्ध-सद्भूत शब्द से वाच्य (कहने योग्य) अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहार है और छद्मस्थ के अपूर्ण ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से ''अशुद्ध-सद् भूत-शब्द, से वाच्य उपचरित-सद्भूत'' व्यवहार है; तथा कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि इनमें 'उपचरित-असद्भूत' व्यवहार नय है।

सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध अखण्ड केवलज्ञान तथा केवलदर्शन ये दोनों जीव के लक्षण हैं। यहाँ ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग की विवक्षा में उपयोग शब्द से विवक्षित पदार्थ के जानने रूप वस्तु के ग्रहण रूप व्यापार का ग्रहण किया जाता है और शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों उपयोगों की विवक्षा में उपयोग से शुभ, अशुभ तथा शुद्ध भावना में एक रूप अनुष्ठान जानना चाहिए। यहाँ सहज शब्द शुद्ध निर्विकार परमानन्द रूप साक्षात् उपादेय जो अक्षय सुख है उसका उपादान कारण होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपादेय हैं। इस प्रकार नैयायिक के प्रति गुण, गुणी अर्थात् ज्ञान और आत्मा इन दोनों के एकान्त रूप से भेद के निराकरण के लिए उपयोग के व्याख्यान द्वारा तीन गाथाएँ समाप्त हुईं ॥६॥

१८. अथामूर्तातीन्द्रियनिजात्मद्रव्यसंवित्तिरहितेन मूर्तपञ्चेन्द्रियविषयासक्तेन च यदुपार्जितं मूर्तं कर्म तदुदयेन व्यवहारेण मूर्तोऽपि निश्चयेनामूर्तो जीव इत्युपदिशति–

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो॥७॥

पंच रूप रस पंच, गंध दो आठ स्पर्श सब ये जिनमें।
होते ना हैं 'जीव' वही है कथन किया है यूँ जिन ने॥
इसीलिए हैं जीव अमूर्तिक निश्चय-नय ने माना है।
जीव मूर्त व्यवहार बताता कर्मबंध का बाना है॥७॥

१९. वृत्ति–वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो संति श्वेतपीतनीलारुण-कृष्णसंज्ञाः पञ्च वर्णाः, तिक्तकटुककषायाम्लमधुरसंज्ञाः पञ्च रसाः, सुगन्धदुर्गन्धसंज्ञौ द्वौ गन्धौ, शीतोष्ण-स्निग्धरूक्षमृदुकर्कशगुरुलघुसंज्ञा अष्टौ स्पर्शाः, **णिच्छया** शुद्धनिश्चयनयात् शुद्धबुद्धैकस्वभावे शुद्धजीवे न सन्ति। **अमुत्ति तदो** ततः कारणादमूर्तः यद्यमूर्तस्तर्हि तस्य कथं कर्मबन्ध इति चेत् **ववहारा मुत्ति** अनुपचरितासद्भूतव्यवहारान्मूर्तो यतस्तदपि कस्मात् **बंधादो** अनन्तज्ञानाद्युपलम्भ-लक्षणमोक्ष-

---

१८. अब, अमूर्तिक तथा अतीन्द्रिय निज आत्मा के ज्ञान से रहित होने के कारण मूर्त जो पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं उनमें आसक्ति के द्वारा जीव ने जो मूर्तिक उपार्जित किये हैं उनके उदय से व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव मूर्तिक है तथापि निश्चयनय से अमूर्तिक है, ऐसा उपदेश देते हैं–

अन्वयार्थ–(णिच्छया) निश्चय नय से **(जीवे)** जीव में **(पंच वण्ण रस दो गंधा अट्ठ फासा)** पाँच वर्ण व पाँच रस, दो गंध तथा आठ स्पर्श **(णो)** नहीं **(संति)** हैं **(तदो)** इसलिए **(अमुत्ति)** जीव अमूर्तिक है **(ववहारा)** व्यवहारनय से **(बंधादो)** कर्मबन्ध होने के कारण **(मुत्ति)** जीव मूर्तिक है।

गाथार्थ– निश्चयनय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं हैं; इसलिए जीव अमूर्तिक है और व्यवहारनय की अपेक्षा कर्म-बन्ध होने के कारण जीव मूर्तिक है॥७॥

१९. वृत्त्यर्थ–वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो संति सफेद, पीला, नीला, लाल तथा काला ये पाँच वर्ण; चरपरा, कड़वा, कषायला, खट्टा और मीठा ये पाँच रस; सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गंध तथा ठंडा, गर्म, चिकना, रूखा, कड़ा, नरम, भारी और हल्का ये आठ प्रकार के स्पर्श शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध स्वभाव-धारक शुद्ध जीव में नहीं हैं। **अमुत्ति तदो** इस कारण यह जीव अमूर्तिक है अर्थात् मूर्ति-रहित है। **शंका–**यदि जीव अमूर्तिक है तो इस जीव के कर्म का बन्ध कैसे होता है? **उत्तर–ववहारा मुत्ति** क्योंकि अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से जीव मूर्तिक कर्म-बन्ध होता है; अतः कर्म-बन्ध होता है। **शंका–**जीव मूर्त भी किस कारण से है? **उत्तर–बंधादो** अनंतज्ञान आदि की प्राप्ति रूप जो मोक्ष है उस मोक्ष से विपरीत अनादि कर्मों के बन्धन के कारण

विलक्षणादनादिकर्मबन्धनादिति। तथा चोक्तं—कथंचिन्मूर्तामूर्तजीवलक्षणम्—

''बंधं पडिएयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिण्णत्तं।
तम्हा अमुत्तिभावो णेगंतो होदि जीवस्स॥१॥''

अयमत्रार्थः—यस्यैवामूर्तस्यात्मनः प्राप्त्यभावादनादिसंसारे भ्रमितोऽयं जीवः स एवामूर्तो मूर्तपञ्चेन्द्रियविषयत्यागेन निरन्तरं ध्यातव्यः। इति भट्टचार्वाकमतं प्रत्यमूर्तजीवस्थापनमुख्यत्वेन सूत्रं गतम् ॥७॥

२०. अथ निष्क्रियामूर्तटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावेन कर्मादिकर्तृत्वरहितोऽपि जीवो व्यवहारादिनयविभागेन कर्त्ता भवतीति कथयति—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

पुद्‍गल कर्मादिक का कर्त्ता जीव रहा व्यवहार रहा।
रागादिक चेतन का कर्त्ता अशुद्धनय से क्षार रहा॥
विशुद्ध नय से शुद्धभाव का कर्त्ता कहते संत सभी।
शुद्धभाव का स्वागत कर लो कर लो भव का अंत अभी ॥८॥

जीव मूर्त है। कथंचित् मूर्त तथा कथंचित् अमूर्त जीव का लक्षण है। कहा भी है—कर्मबंध के प्रति जीव की एकता है और लक्षण से उस कर्मबंध की भिन्नता है इसलिए एकांत से जीव के अमूर्तभाव नहीं है ॥१॥

इसका तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्त आत्मा की प्राप्ति के अभाव से इस जीव ने अनादि संसार में भ्रमण किया है उसी अमूर्तिक शुद्धस्वरूप आत्मा का मूर्त पाँचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग करके ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार भट्ट और चार्वाक के प्रति जीव को मुख्यता से अमूर्त सिद्ध करने वाला सूत्र कहा ॥७॥

२०. अब क्रिया-शून्य, अमूर्तिक, टंकोत्कीर्ण (टाँकी से उकेरी हुई मूर्ति के समान अविचल) ज्ञायक एक स्वभाव से जीव यद्यपि कर्म आदि के कर्त्तापने से रहित है, फिर भी व्यवहार आदि नय की अपेक्षा कर्ता होता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आदा) आत्मा **(ववहारदो)** व्यवहारनय से **(पुग्गलकम्मादीणं)** पुद्‍गल कर्म-ज्ञानावरणादि का **(णिच्छयदो)** अशुद्ध निश्चयनय से **(चेदणकम्माण)** चेतनकर्म-रागद्वेष आदि का **(सुद्धणया)** शुद्ध निश्चयनय से **(सुद्धभावाणं)** शुद्ध भाव-शुद्ध ज्ञान-दर्शन का **(कत्ता)** कर्ता है।

गाथार्थ—आत्मा व्यवहारनय से पुद्‍गल कर्म आदि का कर्ता है; निश्चयनय से चेतन कर्म का कर्ता है और शुद्धनय की अपेक्षा से शुद्ध भावों का कर्ता है ॥८॥

२१. वृत्ति—अत्र सूत्रे भिन्नप्रक्रमरूपव्यवहितसम्बन्धेन मध्यपदं गृहीत्वा व्याख्यानं क्रियते। **आदा** आत्मा **पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु** पुद्‌गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतस्तु पुनः, तथाहि-मनो-वचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्यः सन्ननुपचरितासद्‌भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्मणामादिशब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्‌पर्याप्तियोग्यपुद्‌गलपिण्डरूपनोकर्मणां तथैवोपचरितासद्‌भूतव्यवहारेण बहिर्विषयघटपटादीनां च कर्त्ता भवति। **णिच्छयदो चेदणकम्माणादा** निश्चयनयतश्चेतनकर्मणां तद्यथा रागादिविकल्पोपाधिरहितनिष्क्रियपरमचैतन्यभावनारहितेन यदुपार्जितं रागाद्युत्पादकं कर्म तदुदये सति निष्क्रियनिर्मलस्वसंवित्तिमलभमानो भावकर्मशब्दवाच्यरागादिविकल्प-रूपचेतनकर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति।

अशुद्धनिश्चयस्यार्थः कथ्यते—कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वादशुद्धः, तत्काले तप्तायःपिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चयः, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते। **सुद्धणया सुद्धभावाणं** शुभाशुभयोगत्रय-व्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञानसुखादिशुद्धभावानां छद्मस्थावस्थायां भावनारूपेण विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता, मुक्तावस्थायां तु शुद्धनयेनेति। किन्तु शुद्धाशुद्धभावानां

---

२१. वृत्त्यर्थ—इस सूत्र में भिन्न प्रक्रमरूप व्यवहित सम्बन्ध से बीच के पद को ग्रहण करके व्याख्यान किया जाता है। **आदा** आत्मा **पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु** व्यवहारनय की अपेक्षा से पुद्‌गल कर्म आदि का कर्ता है। जैसे—मन, वचन तथा शरीर की क्रिया से रहित निज शुद्ध आत्मतत्त्व की जो भावना है उस भावना से शून्य होकर अनुपचरित असद्‌भूत व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का तथा आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक रूप तीन शरीर तथा आहार आदि ६ पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्‌गल पिंड रूप नो कर्म हैं उनका तथा उपचरित असद्‌भूत व्यवहार नय से बाह्य विषय घट, पट आदि का भी यह जीव कर्ता होता है। **णिच्छयणयदो चेदणकम्मणादा** और निश्चय नय की अपेक्षा से यह आत्मा चेतन कर्मों का कर्ता है। वह इस तरह-राग आदि विकल्प उपाधि से रहित निष्क्रिय, परमचैतन्य भावना से रहित होने के कारण जीव ने राग आदि को उत्पन्न करने वाले कर्मों का जो उपार्जन किया है उन कर्मों का उदय होने पर निष्क्रिय और निर्मल आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त होता हुआ, यह जीव भावकर्म इस शब्द से वाच्य जो रागादि विकल्प रूप चेतन-कर्म हैं उनका अशुद्ध निश्चयनय से कर्ता होता है।

अशुद्ध निश्चय का अर्थ यह है—कर्म-उपाधि से उत्पन्न होने से अशुद्ध कहलाता है और उस समय अग्नि में तपे हुए लोहे के गोले के समान तन्मय (उसी रूप) होने से निश्चय कहा जाता है, इस रीति से अशुद्ध और निश्चय इन दोनों को मिलाकर अशुद्ध निश्चय कहा जाता है। **सुद्धणया सुद्धभावाणं** जब जीव शुभ, अशुभ, मन, वचन, काय इन तीनों योगों के व्यापार से रहित शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव से परिणमन करता है तब अनंतज्ञान, सुख आदि शुद्ध भावों का छद्मस्थ अवस्था में भावना रूप से विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय से कर्ता होता है और मुक्त अवस्था में शुद्ध निश्चय

परिणममानानामेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यम्, न च हस्तादिव्यापाररूपाणामिति। यतो हि नित्यनिरंजननिष्क्रिय-निजात्मस्वरूपभावनारहितस्य कर्मादिकर्तृत्वं व्याख्यातम्। ततस्तत्रैव निजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्या। एवं सांख्यमतं प्रति एकान्ताकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथा गता ॥८॥

२२. अथ यद्यपि शुद्धनयेन निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतस्य भोक्ता तथाप्यशुद्धनयेन सांसारिक सुखदुःखस्यापि भोक्तात्मा भवतीत्याख्याति—

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं[1] पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स[2] ॥९॥

आतम को कृत-कर्मों का फल सुख-दुःख मिलता रहता है।
जिसका वह व्यवहार भाव से भोक्ता बनता रहता है॥
किन्तु निजी शुचि चेतन भावों का भोक्ता यह आतम है।
निश्चयनय की यही दृष्टि है कहता यूँ परमागम है॥९॥

नय से अनन्तज्ञान-सुखादि शुद्ध भावों का कर्ता है। किन्तु परिणमन करते हुए शुद्ध, अशुद्ध भावों का कर्तृत्व जीव में जानना चाहिए और हस्त आदि के व्यापाररूप परिणमनों का कर्तापन न समझना चाहिए क्योंकि नित्य; निरंजन; निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूप की भावना से रहित जीव के कर्म आदि का कर्तृत्व कहा गया है; इसलिए उस निज शुद्ध आत्मा में ही भावना करनी चाहिए। इस तरह सांख्यमत के प्रति ''एकान्त से जीव कर्ता नहीं है'' इस मत के निराकरण की मुख्यता से गाथा समाप्त हुई ॥८॥

२२. अब यद्यपि आत्मा शुद्ध नय से विकार रहित परम आनंद रूप लक्षण वाले ऐसे सुखरूपी अमृत को भोगने वाला है तो भी अशुद्धनय से सांसारिक सुख-दुःख का भी भोगने वाला है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आदा) आत्मा **(ववहारा)** व्यवहारनय से **(सुहदुक्खं)** सुख-दुःखरूप **(पुग्गलकम्मप्फलं)** पुद्गल कर्म के फल को **(पभुंजेदि)** भोगता है **(खु)** और **(णिच्छयणयदो)** निश्चयनय से **(आदस्स चेदणभावं)** आत्मा के चेतनभाव—ज्ञान, दर्शन, सुख आदि को भोगता है।

गाथार्थ—व्यवहार नय से आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगता है और निश्चय नय से अपने चेतन भाव को भोगता है ॥९॥

---

१. प्राकृत में तैल (तेल्लं) सेवा (सेव्वा) आदि शब्दों को द्वित्व पाया जाता है। इसी तरह यहाँ पर कर्मफल (कम्मप्फलं) प्राप्त हो रहा है।

२. शौरसेनी प्राकृत में आत्मा के स्थान पर आदा रूप होता है। तदनुसार यहाँ पर षष्ठी एकवचन में 'आदस्स' बना है।

२३. वृत्ति—ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफ्फलं पभुंजेदि व्यवहारात्सुखदुःखरूपं पुद्गल-कर्मफलं प्रभुङ्क्ते। स कः कर्त्ता **आदा** आत्मा **णिच्छयणयदो चेदणभावं आदस्स** निश्चयनयतश्चेतनभावं भुङ्क्ते **खु** स्फुटं कस्य सम्बन्धिनमात्मनः स्वस्येति। तद्यथा—आत्मा हि निजशुद्धात्मसंवित्तिसमुद्भूतपारमार्थिक-सुखसुधारसभोजनमलभमान उपचरितासद्भूतव्यवहारेणेष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदुःखं भुङ्क्ते तथैवानुपचरितासद्भूतव्यवहारेणाभ्यन्तरे सुखदुःखजनकं द्रव्यकर्मरूपं सातासातोदयं भुङ्क्ते। स एवा-शुद्धनिश्चयनयेन हर्षविषादरूपं सुखदुःखं च भुङ्क्ते। शुद्धनिश्चयनयेन तु परमात्मस्वभावसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुष्ठानोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणं सुखामृतं भुङ्क्त इति। अत्र यस्यैव स्वाभाविकसुखामृतस्य भोजनाभावादिन्द्रियसुखं भुञ्जानः सन् संसारे परिभ्रमति तदेवातीन्द्रियसुखं सर्वप्रकारेणोपादेयमित्यभिप्रायः। एवं कर्त्ता कर्मफलं न भुङ्क्त इति बौद्धमतनिषेधार्थं भोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण सूत्रं गतम् ॥९॥

२४. अथ निश्चयेन लोकप्रमितासंख्येयप्रदेशमात्रोऽपि व्यवहारेण देहमात्रो जीव इत्यावेदयति—

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो[1] ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥१०॥

---

२३. वृत्त्यर्थ—ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि व्यवहार नय की अपेक्षा से सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्म फलों को भोगता है। वह कर्म फलों का भोक्ता कौन है? **आदा** आत्मा। **णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स** और निश्चय नय से तो स्पष्ट रीति से चेतन भाव का ही भोक्ता आत्मा है। वह चेतन भाव किस सम्बन्धी है? आत्मा का अपना ही है। वह ऐसे-अपने शुद्ध आत्म अनुभव से उत्पन्न पारमार्थिक सुखरूप अमृत रस का भोजन न प्राप्त करता हुआ आत्मा, उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से इष्ट, अनिष्ट पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख-दुःख को भोगता है; उसी तरह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से अन्तरंग में सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाले द्रव्य कर्मरूप साता-असाता के उदय को भोगता है तथा अशुद्ध निश्चयनय से वही आत्मा हर्ष-विषाद रूप सुख-दुःख को भोगता है और शुद्ध निश्चयनय से तो परमात्म स्वभाव के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण से उत्पन्न अविनाशी आनन्दरूप वाले सुखामृत को भोगता है। यहाँ पर जिस स्वाभाविक सुखामृत के भोजन के अभाव से आत्मा इन्द्रियों के सुखों को भोगता हुआ संसार में भ्रमण करता है, वही अतीन्द्रिय सुख सब प्रकार से ग्रहण करने योग्य है, ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार 'कर्त्ता कर्म के फल को नहीं भोगता है', इस बौद्ध मत का खण्डन करने के लिए ''जीव कर्म फलका भोक्ता है'' यह व्याख्यान रूप सूत्र समाप्त हुआ ॥९॥

२४. ''आत्मा यद्यपि निश्चयनय से लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशों का धारक है फिर भी व्यवहारनय से अपनी देह के बराबर है'' यह बतलाते हैं—

---

१. समुद्घातः का सामान्यतः समुग्घाओ या समुग्घादो रूप होता है। परन्तु यहाँ 'असमुहदो' (असमुद्घातात्) पञ्चमी विभक्ति का आर्ष प्रयोग है।

समुद्घात बिन सिकुड़न-प्रसरण-स्वभाव को जो धार रहा।
लघु-गुरु तन के प्रमाण होता जीव यही व्यवहार रहा॥
स्वभाव से तो जीवात्मा में असंख्यात-परदेश रहे।
निश्चयनय का यही कथन है संतों के उपदेश रहे॥१०॥

२५. **वृत्ति—अणुगुरुदेहपमाणो** निश्चयेन स्वदेहाद् भिन्नस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणराशेरभिन्नस्य निजशुद्धात्मस्वरूपस्योपलब्धेरभावात्तथैव देहममत्वमूलभूताहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाप्रभृतिसमस्तरागादि-विभावानामासक्तिसद्भावाच्च यदुपार्जितं शरीरनामकर्म तदुदये सति अणुगुरुदेहप्रमाणो भवति। स कः कर्त्ता **चेदा** चेतयिता जीवः। कस्मात् **उवसंहारप्पसप्पदो** उपसंहारप्रसर्पतः शरीरनामकर्मजनितविस्तारोपसंहार-धर्माभ्यामित्यर्थः। कोऽत्र दृष्टान्तः, यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं सर्वं प्रकाशयति लघुभाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं प्रकाशयति। पुनरपि कस्मात् **असमुहदो** असमुद्घातात् वेदनाकषाय-विक्रियामारणान्तिकतैजसाहारककेवलिसंज्ञसप्तसमुद्घातवर्ज्जनात। तथा चोक्तं सप्तसमुद्घातलक्षणम्–

अन्वयार्थ—(चेदा) आत्मा **(व्यवहारा)** व्यवहारनय से **(असमुहदो)** समुद्घात के सिवाय अन्य सब समयों में **(उवसंहारप्पसप्पदो)** संकोच विस्तार गुण के कारण **(अणुगुरुदेहपमाणो)** अपने छोटे बड़े शरीर के बराबर **(वा)** और **(णिच्छयणयदो)** निश्चयनय से **(असंखदेसो)** असंख्यात प्रदेशों वाला अर्थात् लोक के बराबर असंख्यात प्रदेशी है।

गाथार्थ—समुद्घात के बिना यह जीव व्यवहार नय से संकोच तथा विस्तार से अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चयनय से असंख्यात प्रदेशों का धारक है ॥१०॥

२५. **वृत्त्यर्थ—अणुगुरुदेहपमाणो** निश्चयनय से अपने देह से भिन्न तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों की राशि से अभिन्न, ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अभाव से तथा देह की ममता के मूलभूत आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप संज्ञा आदि; समस्त राग आदि विभावों में आसक्ति के होने से जीव ने जो शरीर नामकर्म उपार्जन किया उसका उदय होने पर अपने छोटे तथा बड़े देह के बराबर होता है। **प्रश्न—**शरीर प्रमाण वाला कौन है? **उत्तर—चेदा** चेतन अर्थात् जीव है। प्रश्न—किस कारण से? **उत्तर—उवसंहारप्पसप्पदो** संकोच तथा विस्तार स्वभाव से। यानि—शरीर नामकर्म से उत्पन्न हुआ विस्तार तथा संकोच रूप जीव के धर्म हैं; उनसे यह जीव अपने देह के प्रमाण होता है। **प्रश्न—** यहाँ दृष्टान्त क्या है? **उत्तर—**जैसे दीपक किसी बड़े पात्र से ढक दिया जाता है तो दीपक उस पात्र के भीतर सबको प्रकाशित करता है और यदि छोटे पात्र में रख दिया जाता है तो उस पात्र के भीतर प्रकाशित करता है। **प्रश्न—**फिर अन्य किस कारण से यह जीव देहप्रमाण है? **उत्तर—असमुहदो** समुद्घात के न होने से। वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली नामक सात समुद्घातों के न होने से जीव शरीर के बराबर होता है। (समुद्घात की दशा में तो जीव देह से बाहर भी रहता है किन्तु समुद्घात के बिना देहप्रमाण ही रहता है)। सात समुद्घातों का लक्षण इस

''वेयणकसायवेउव्वियमारणंतिओ समुग्घादो।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु॥१॥''

तद्यथा—

''मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।
णिग्गमणं देहादो हवदि समुग्घादयं णाम॥१॥''

तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमनमिति वेदनासमुद्घातः।१। तीव्र-कषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति कषायसमुद्घातः।२। मूल-शरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति विक्रियासमुद्घातः।३। मरणान्तसमये मूलशरीरमपरित्यज्य यत्र कुत्रचिद्बद्धमायुस्तत्प्रदेशं स्फुटितुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति मारणान्तिक-समुद्घातः।४। स्वस्य मनोनिष्टजनकं किञ्चित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमत्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यङ्गुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनवत्, असावशुभस्तेजःसमुद्घातः। लोकं

प्रकार कहा है— १. वेदना, २. कषाय, ३. विक्रिया, ४. मारणान्तिक, ५. तैजस, ६. आहारक और ७. केवली—ये सात समुद्घात हैं।

इनका स्वरूप इस प्रकार है—''अपने मूल शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के कुछ प्रदेश देह से बाहर निकलकर उत्तर देह के प्रति जाते हैं उसको समुद्घात कहते हैं।'' तीव्र पीड़ा के अनुभव से मूल शरीर न छोड़ते हुए जो आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना, सो वेदना समुद्घात है ॥१॥ तीव्र क्रोधादिक कषाय के उदय से अपने धारण किये हुए शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के प्रदेश दूसरे को मारने के लिए शरीर के बाहर जाते हैं उसको कषाय समुद्घात कहते हैं ॥२॥ किसी प्रकार की विक्रिया (छोटा या बड़ा शरीर अथवा अन्य शरीर) उत्पन्न करने के लिए मूल शरीर को न त्याग कर जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना है उसको विक्रिया समुद्घात कहते हैं ॥३॥ मरण के समय में मूल शरीर को न त्याग कर जहाँ इस आत्मा ने आगामी आयु बाँधी है उसके छूने के लिए जो आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना सो मारणान्तिक समुद्घात है ॥४॥ अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देखकर क्रोधित संयम के निधान महामुनि के बाएँ कन्धे से सिन्दूर के ढेर जैसी क्रान्ति वाला, बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण मूल-विस्तार और नौ योजन के अग्र-विस्तार वाला, काहल (विलाव) के आकार का धारक पुरुष (पुतला) निकल करके बायीं प्रदक्षिणा देकर, मुनि जिस पर क्रोधी हो उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे। जैसे द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकल कर द्वारिकानगरी को भस्म

व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य शुभ्राकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्तेजःसमुद्घातः ।५। समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमर्द्धिसंपन्नस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुद्ध-स्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्यान्निर्गत्य यत्र कुत्रचिदन्तर्मुहूर्त्तमध्ये केवलज्ञानिनं पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाश्रयस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति, असावाहारसमुद्घातः ।६। सप्तमः केवलिनां दण्डकपाटप्रतरपूरणः सोऽयं केवलिसमुद्घातः ।७।

२६. नयविभागः कथ्यते। **ववहारा** अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् **णिच्छयणयदो असंखदेसो वा** निश्चयनयतो लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः वा शब्देन तु स्वसंवित्तिसमुत्पन्न-केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापकः न च प्रदेशापेक्षया नैयायिक-मीमांसकसांख्यमतवत्। तथैव पञ्चेन्द्रियमनोविषयविकल्परहितसमाधिकालेस्वसंवेदन लक्षणबोध-सद्भावेऽपि बहिर्विषयेन्द्रियबोधाभावाज्जडः, न च सर्वथा सांख्यमतवत्। तथा रागादिविभाव-

---

करने के बाद उसी ने द्वीपायन मुनि को भस्म किया और वह पुतला आप भी भस्म हो गया। सो अशुभ तैजस समुद्घात है।[१] तथा जगत् को रोग, दुर्भिक्ष आदि से दुःखित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई ऐसे परम संयम निधान महाऋषि के मूल शरीर को न त्याग कर पूर्वोक्त देह के प्रमाण, सौम्य आकृति का धारक पुरुष दाएँ कंधे से निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणा करके रोग, दुर्भिक्ष आदि को दूरकर फिर अपने स्थान में आकर प्रवेश कर जावे वह शुभ तैजस समुद्घात है ॥५॥ पद और पदार्थ में जिसको कुछ संशय उत्पन्न हुआ हो, उस परम ऋद्धि के धारक महर्षि के मस्तक में से मूल शरीर को न छोड़कर, निर्मल स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकलकर अंतर्मुहूर्त में जहाँ कहीं भी केवली को देखता है तब उन केवली के दर्शन से अपने आश्रय मुनि को पद और पदार्थ का निश्चय उत्पन्न कराकर फिर अपने स्थान में प्रवेश कर जावे, सो आहारक समुद्घात है ॥६॥ केवलियों के जो दंड-कपाट-प्रतर-लोकपूरण होता है सो सातवाँ केवलिसमुद्घात है ॥७॥

२६. अब नयों का विभाग कहते हैं। **ववहारा** अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से जीव अपने शरीर के बराबर है तथा **णिच्छयणयदो असंखदेसो वा** निश्चयनय से लोकाकाश प्रमाण जो असंख्य प्रदेश हैं उन प्रमाण असंख्यात प्रदेशों का धारक यह आत्मा है। **असंखदेसो वा** यहाँ जो वा शब्द दिया है उस शब्द से ग्रन्थकर्त्ता ने यह सूचित किया है कि स्वसंवेदन (आत्मानुभूति) से उत्पन्न हुए केवलज्ञान की उत्पत्ति की अवस्था में ज्ञान की अपेक्षा से व्यवहार नय द्वारा आत्मा लोक, अलोक व्यापक है। किन्तु नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य मत अनुयायी जिस तरह आत्मा के प्रदेशों की अपेक्षा से व्यापक मानते हैं, वैसा नहीं है। इसी तरह पाँचों इन्द्रियों और मन के विषयों के विकल्पों से रहित जो ध्यान का समय है उस समय आत्म-अनुभव रूप ज्ञान के विद्यमान होने पर भी बाहरी विषय रूप

---

१. धवला पु॰ १४ पृ॰ ३२८ तथा राजवार्तिक २/४९/८ भी द्रष्टव्य हैं।

परिणामापेक्षया शून्योऽपि भवति न चानन्तज्ञानाद्यपेक्षया बौद्धमतवत्।

किञ्च, अणुमात्रशरीरशब्देनात्र उत्सेधघनाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितं लब्ध्यपूर्णसूक्ष्मनिगोदशरीरं ग्राह्यं न च पुद्गलपरमाणुः। गुरुशरीरशब्देन च योजनसहस्रपरिमाणं महामत्स्यशरीरं मध्यमावगाहेन मध्यमशरीराणि च। इदमत्र तात्पर्यं—देहममत्वनिमित्तेन देहं गृहीत्वा संसारे परिभ्रमति तेन कारणेन देहादिममत्वं त्यक्त्वा निर्मोहनिजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति। एवं स्वदेहमात्रव्याख्यानेन गाथा गता॥१०॥

२७. अतः परं गाथात्रयेण नयविभागेन संसारिजीवस्वरूपं तदवसाने शुद्धजीवस्वरूपं च कथयति। तद्यथा–

पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी॥११॥

पृथिवी-जल-अगनी-कायिक औ वायु-वृक्ष-कायिक सारे।
बहु-विध स्थावर कहलाते हैं मात्र एक इन्द्रिय धारे॥
द्वय-तिय-चउ-पञ्चेन्द्रिय-धारक त्रसकायिक प्राणी जाने।
भवसागर में भ्रमण कर रहे कीट पतंगे मनमाने॥११॥

इन्द्रिय ज्ञान के अभाव से आत्मा जड़ माना गया है परन्तु सांख्य मत की तरह आत्मा सर्वथा जड़ नहीं है।[१] इसी तरह आत्मा राग, द्वेष आदि विभाव परिणामों की अपेक्षा से (उनके न होने से) शून्य होता है किन्तु बौद्ध मत के समान अनन्त ज्ञानादि की अपेक्षा शून्य नहीं है।

और भी अणुमात्र शरीर आत्मा है, यहाँ अणु शब्द से उत्सेधघनांगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण जो लब्धि-अपर्याप्तक सूक्ष्म-निगोद शरीर है, उस शरीर का ग्रहण करना चाहिए किन्तु पुद्गल परमाणु का ग्रहण न करना चाहिए एवं गुरु शरीर शब्द से एक हजार योजन प्रमाण जो महामत्स्य का शरीर है, उसको ग्रहण करना चाहिए और मध्यम अवगाहना से मध्यम शरीरों का ग्रहण है। तात्पर्य यह है—जीव देह के साथ ममत्व के निमित्त से देह को ग्रहण कर संसार में भ्रमण करता है, इसलिए देह आदि के ममत्व को छोड़कर निर्मोह अपने शुद्ध आत्मा में भावना करनी चाहिए। इस प्रकार जीव स्वदेह-मात्र है इस व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ॥१०॥

२७. अब तीन गाथाओं द्वारा नयविभाग पूर्वक संसारी जीव का स्वरूप और उसके अन्त में शुद्ध जीव का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पुढविजलतेऊवाऊवणप्फदी) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक **(विविह-थावरेइंदी)** ये विविध प्रकार के स्थावर जीव एकेन्द्रिय हैं और **(संखादी विग-तिग-चदु-**

---

१. सांख्य मत के अनुसार चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है, ज्ञान नहीं। वे आत्मा को चेतन तो मानते हैं पर ज्ञान गुण वाला नहीं मानते। उनका कहना है कि ज्ञान तो बुद्धि (जो कि प्रकृति तत्त्व से उत्पन्न हुई है) का धर्म है। –षड्दर्शनसमुच्चय पृष्ठ १५१; भारतीयदर्शन–एन० के० देवराज, पृ० ३८७ एवं ४१२

२८.वृत्ति—होंति इत्यादिव्याख्यानं क्रियते। **होंति** अतीन्द्रियामूर्त्तनिजपरमात्मस्वभावानुभूतिजनित-सुखामृतरसस्वभावमलभमानास्तुच्छमपीन्द्रियसुखमभिलषन्ति छद्मस्थाः, तदासक्ताः सन्त एकेन्द्रियादि-जीवानां घातं कुर्वन्ति तेनोपार्जितं यत्त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयेन जीवा भवन्ति। कथंभूता भवन्ति? **पुढविजलतेयवाऊवणप्फदी विविहथावरेइंदी** पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः। कतिसंख्योपेता? विविधा आगमकथितस्वकीयस्वकीयान्तर्भेदैर्बहुविधाः। स्थावरनामकर्मोदयेन स्थावरा, एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयेन स्पर्शनेन्द्रिययुक्ता एके न्द्रियाः, न केवलमित्थंभूताः स्थावरा भवन्ति। **विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा** द्वित्रिचतुःपञ्चाक्षास्त्रसनामकर्मोदयेन त्रसजीवा भवन्ति। ते च कथंभूताः? **संखादी** शङ्खादयः स्पर्शन-रसनेन्द्रियद्वययुक्ताः शङ्खशुक्तिकृम्यादयो द्वीन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियत्रययुक्ताः कुन्थुपिपीलिका-यूकामत्कुणादयस्त्रीन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियचतुष्टययुक्ता दंशमशकमक्षिकाभ्रमरादयश्-चतुरिन्द्रियाः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्रेन्द्रियपञ्चयुक्ता मनुष्यादयः पञ्चेन्द्रिया इति। अयमत्रार्थः—विशुद्ध-ज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखमलभमाना इन्द्रियसुखासक्ता एकेन्द्रियादिजीवानां वधं कृत्वा त्रसस्थावरा भवन्तीत्युक्तं पूर्वं तस्मात्त्रसस्थावरोत्पत्तिविनाशार्थं तत्रैव परमात्मनि भावना

पंचक्खा) शंख आदि द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय, भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय और मनुष्यादि पंचेन्द्रिय जीव **(तसजीवा)** त्रस जीव **(होंति)** होते हैं।

गाथार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव हैं ये सब एक स्पर्शन इन्द्रिय के ही धारक हैं तथा शंख आदि दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं ॥११॥

२८. वृत्त्यर्थ—यहाँ **होंति** आदि पदों की व्याख्या की जाती है। **होंति** अल्पज्ञ जीव, अतीन्द्रिय अमूर्तिक अपने परमात्म स्वभाव के अनुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृत रस को न पा करके, इन्द्रियों से उत्पन्न तुच्छ सुख की अभिलाषा करते हैं। उस इन्द्रियजनित सुख में आसक्त होकर एकेन्द्रिय आदि जीवों का घात करते हैं, उस जीव-घात से उपार्जन किये त्रस, स्थावर नामकर्म के उदय से स्वयं त्रस, स्थावर होते हैं। किस प्रकार होते हैं? **पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदीविविहथावरेइंदी** पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा वनस्पति जीव होते हैं। वे कितने हैं? अनेक प्रकार के हैं। शास्त्र में कहे हुए अपने-अपने अवान्तर भेद से बहुत प्रकार के हैं। स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर, एकेन्द्रिय जाति कर्म के उदय से स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते हैं। इस प्रकार से केवल स्थावर ही नहीं होते बल्कि **विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा** दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियों वाले त्रस नामकर्म के उदय से त्रस जीव भी होते हैं। वे कैसे हैं? **संखादी** शंख आदि। स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों वाले शंख, कृमि, सीप आदि दो इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना तथा घ्राण इन तीन इन्द्रियों वाले कुन्थु, पिपीलिका (कीड़ी), जूँ, खटमल आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण और नेत्र इन चार इन्द्रियों वाले डांस, मच्छर, मक्खी, भौंरा, बर्र आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन

कर्त्तव्येति॥११॥

२९. तदेव त्रसस्थावरत्वं चतुर्दशजीवसमासरूपेण व्यक्तीकरोति–

समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य॥१२॥

द्विविध रहे हैं पञ्चेन्द्रिय भी, रहित मना औ सहित-मना ।
शेष जीव सब रहित-मना हैं कहते इस विध विजितमना ॥
स्थावर, बादर सूक्ष्म द्विविध हैं दुख से पीड़ित हैं भारी।
फिर सब ये पर्याप्त तथा हैं पर्याप्तेतर संसारी ॥१२॥

३०. वृत्ति–समणा अमणा समस्तशुभाशुभविकल्पातीतपरमात्मद्रव्यविलक्षणं नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते तेन सह ये वर्त्तन्ते ते समनस्काः, तद्विपरीता अमनस्का असंज्ञिनः **णेया** ज्ञेया ज्ञातव्याः।

पाँचों इन्द्रियों वाले मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीव हैं।[1]

सारांश यह है कि निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख है उसको न पाकर जीव इन्द्रियों के सुख में आसक्त होकर जो एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा करते हैं उससे त्रस तथा स्थावर होते हैं, ऐसा पहले कह चुके हैं, इस कारण त्रस, स्थावरों में जो उत्पत्ति होती है, उसको मिटाने के लिए उसी पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा में भावना करनी चाहिए ॥११॥

२९. अब उसी त्रस तथा स्थावरपन को १४ जीवसमासों द्वारा प्रकट करते हैं—

अन्वयार्थ–(पंचिंदिय) पंचेन्द्रिय जीव **(समणा)** मन सहित और **(अमणा)** मन रहित **(णेया)** जानना चाहिए **(परे सव्वे)** शेष सभी जीव याने एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय जीव **(णिम्मणा)** मन रहित हैं **(एइंदी बादर सुहुमा)** एकेन्द्रिय जीव बादर व सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हैं **(सव्वे पज्जत्त य इदरा)** ये सभी सातों प्रकार के जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं इस प्रकार ये १४ जीवसमास हो जाते हैं।

गाथार्थ–पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो तरह के जानने चाहिए, शेष सब जीव मन रहित असंज्ञी हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं और ये सब जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त होते हैं। (पंचेन्द्रिय संज्ञी, पंचेन्द्रिय असंज्ञी, दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से जीवसमास १४ होते हैं।) ॥१२॥

३०. वृत्त्यर्थ–समणा अमणा समस्त शुभ-अशुभ विकल्पों से रहित जो परमात्मरूप द्रव्य उससे विलक्षण अनेक तरह के विकल्पजालरूप मन है, ऐसे मन सहित जीव को 'समनस्कसंज्ञी'

---

१. देखिये तत्त्वार्थसार, अधिकार २, गाथा ५४ से ५६; धवल १, २४५-२४८ आदि।

पंचिंदिय ते संज्ञिनस्तथैवासंज्ञिनश्च पञ्चेन्द्रियाः। एवं संज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्च एव, नारकमनुष्यदेवाः संज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव। **णिम्मणा परे सव्वे** निर्मनस्काः पञ्चेन्द्रियात्सकाशादपरे सर्वे द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः **बादरसुहमेइंदी** बादरसूक्ष्मा एकेन्द्रियास्तेऽपि यदष्टपत्रपद्माकारं द्रव्यमनस्तदाधारेण शिक्षालापोपदेशादि-ग्राहकं भावमनश्चेति तदुभयाभावादसंज्ञिन एव। **सव्वे पज्जत्त इदरा य** एवमुक्तप्रकारेण संज्ञ्यसंज्ञिरूपेण पञ्चेन्द्रियद्वयं द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेण विकलेन्द्रियत्रयं बादरसूक्ष्मरूपेणैकेन्द्रियद्वयं चेति सप्तभेदाः।

''आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारिपंचछप्पिय एइंदियवियलसण्णि-सण्णीणं॥१॥''

इति गाथाकथितक्रमेण ते सर्वे प्रत्येकं स्वकीयस्वकीयपर्याप्तिसंभवात्सप्तपर्याप्ताः सप्तापर्याप्ताश्च भवन्ति। एवं चतुर्दशजीवसमासा ज्ञातव्यास्तेषां च–

''इंदियकायाऊणिय पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा।
बीइंदियादिपुण्णे सुवचिमणो सण्णिपुण्णे य ॥१॥
दस सण्णीणं पाणा सेसेगूणंति मण्णवे ऊणा।
पज्जत्ते मिदरेसुयसत्तदुगे सेसगेगूणा ॥२॥''

कहते हैं तथा मन से शून्य अमनस्क यानि असंज्ञी **णेया** जानने चाहिए। **पंचिंदिया** पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी तथा असंज्ञी दोनों होते हैं। ऐसे संज्ञी तथा असंज्ञी ये दोनों पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ही होते हैं। नारकी, मनुष्य और देव संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। **णिम्मणा परे सव्वे** पंचेन्द्रिय से भिन्न अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव मन रहित असंज्ञी होते हैं। **बादरसुहमेइंदी** बादर और सूक्ष्म जो एकेन्द्रिय जीव हैं, वे भी आठ पाँखुड़ी के कमल के आकार जो द्रव्य मन और उस द्रव्य मन के आधार से शिक्षा, वचन, उपदेश आदि का ग्राहक भावमन, इन दोनों प्रकार के मन न होने से असंज्ञी ही हैं। **सव्वे पज्जत्त इदरा य** इस तरह उक्त प्रकार से संज्ञी और असंज्ञी दोनों पंचेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप विकलत्रय तथा बादर सूक्ष्म दो तरह के एकेन्द्रिय ये सात भेद हुए। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा मन ये ६ पर्याप्तियाँ हैं। इनमें से एकेन्द्रिय जीव के आहार, शरीर, स्पर्शनेन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। विकलेन्द्रिय (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय) तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन के बिना पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

इस गाथा में कहे हुए क्रम से वे जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों के पूर्ण होने से सातों पर्याप्त हैं और अपनी पर्याप्तियाँ पूरी न होने की दशा में सातों अपर्याप्त भी होते हैं। ऐसे चौदह जीवसमास जानने चाहिए। ''इन्द्रिय, काय, आयु ये तीन प्राण, पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही के होते हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्त के ही होता है। वचन बल प्राण पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि के ही होता है। मनोबल प्राण संज्ञी पर्याप्त के ही होता है' ॥१॥ ''पर्याप्त अवस्था में संज्ञी पंचेन्द्रियों के १० प्राण, असंज्ञी

इति गाथाद्वयकथितक्रमेण यथासंभवमिन्द्रियादिदशप्राणाश्च विज्ञेयाः। अत्रैतेभ्यो भिन्नं निज-शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थः॥१२॥

३१. अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावा अपि जीवाः पश्चादशुद्धनयेन चतुर्दशमार्गणास्थानचतुर्दशगुणस्थानसहिता भवन्तीति प्रतिपादयति—

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

तथा मार्गणाओं में चौदह गुणस्थानों में मिलते हैं।
अशुद्ध-नय से प्राणी-भव में युगों-युगों से फिरते हैं॥
किन्तु सिद्ध-सम विशुद्ध-तम हैं सभी जीव ये अविकारी।
विशुद्धनय का विषय यही है विषय-त्याग दे अघकारी॥१३॥

३२. वृत्ति—मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया यथा पूर्वसूत्रोदितचतुर्दश-जीवसमासैर्भवन्ति मार्गणागुणस्थानैश्च तथा भवन्ति संभवन्तीति विज्ञेया ज्ञातव्याः। कति संख्योपेतैः

पंचेन्द्रियों के मन के बिना ९ प्राण, चौइन्द्रियों के मन और कर्ण इन्द्रिय के बिना ८ प्राण, तीन इन्द्रियों के मन, कर्ण और चक्षु के बिना ७ प्राण, दो इन्द्रियों के मन, कर्ण, चक्षु और घ्राण के बिना ६ प्राण और एकेन्द्रियों के मन, कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना तथा वचन बल के बिना ४ प्राण होते हैं। अपर्याप्त जीवों में संज्ञी तथा असंज्ञी इन दोनों पंचेन्द्रियों के श्वासोच्छ्‌वास, वचनबल और मनोबल के बिना ७ प्राण होते हैं और चौइन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक क्रम से एक-एक प्राण घटता हुआ है॥२॥ इन दो गाथाओं द्वारा कहे हुए क्रम से यथासंभव इन्द्रियादिक दस प्राण समझने चाहिए। अभिप्राय यह है कि इन पर्याप्तियों तथा प्राणों से भिन्न अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है॥१२॥

३१. अब शुद्ध पारिणामिक परम भाव का ग्राहक जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसकी अपेक्षा सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं तो भी अशुद्धनय से चौदह मार्गणा-स्थान और चौदह गुणस्थानों सहित होते हैं, ऐसा बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(तह) तथा **(संसारी)** संसारी जीव **(असुद्धणया)** अशुद्धनय से **(मग्गण गुणठाणेहि चउदसहि)** मार्गणा व गुणस्थानों की अपेक्षा चौदह-चौदह भेद वाले **(हवंति)** होते हैं **(य)** और **(सुद्धणया)** शुद्धनय से **(सव्वे)** सभी जीव **(सुद्धा)** शुद्ध **(हु)** ही **(विण्णेया)** जानना चाहिए।

गाथार्थ-संसारी जीव अशुद्ध नय की दृष्टि से चौदह मार्गणा तथा चौदह गुणस्थानों के भेद से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं॥१३॥

३२. वृत्त्यर्थ—मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया जिस प्रकार पूर्व गाथा में कहे हुए १४ जीवसमासों से जीवों के १४ भेद होते हैं उसी तरह मार्गणा और गुणस्थानों से भी होते हैं, ऐसा

चउदसहि प्रत्येकं चतुर्दशभिः। कस्मात् **असुद्धणया** अशुद्धनयात् सकाशात्। इत्थंभूताः के भवन्ति। **संसारी** संसारिजीवाः **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** त एव सर्वे संसारिणः शुद्धाः सहजशुद्धज्ञायकैकस्वभावाः। कस्मात् शुद्धनयात् शुद्धनिश्चयनयादिति।

३३. अथागमप्रसिद्धगाथाद्वयेन गुणस्थाननामानि कथयति।

''**मिच्छो सासणमिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।**
विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥१॥
उवसंत-खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदसगुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥२॥''(गो० जी०)

इदानीं तेषामेव गुणस्थानानां प्रत्येकं संक्षेपलक्षणं कथ्यते। तथाहि—सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शन-रूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादि-पञ्चविंशतिमलरहितं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति ॥१॥ पाषाणरेखासदृशानन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान्यतरोदयेन प्रथममौपशमिकसम्यक्त्वात्पतितो मिथ्यात्वं नाद्यापि गच्छतीत्यन्तरालवर्ती सासादनः॥२॥ निजशुद्धात्मादितत्त्वं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं परप्रणीतं च मन्यते

जानना चाहिए। मार्गणा और गुणस्थानों से कितनी संख्या वाले होते हैं? **चउदसहि** प्रत्येक से १४-१४ संख्या वाले हैं किस अपेक्षा से? **अशुद्धणया** अशुद्धनय की अपेक्षा से। मार्गणा और गुणस्थानों से अशुद्ध नय की अपेक्षा चौदह-चौदह प्रकार के कौन होते हैं? **संसारी** संसारी जीव होते हैं। **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** वे ही सब संसारी जीव शुद्ध यानि—स्वाभाविक शुद्ध ज्ञायक रूप एक-स्वभाव-धारक हैं। किस अपेक्षा से? शुद्ध नय से अर्थात् शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से।

३३. अब शास्त्र प्रसिद्ध दो गाथाओं द्वारा गुणस्थानों के नाम कहते हैं। ''१. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरतसम्यक्त्व, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तविरत, ७. अप्रमत्तविरत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसांपराय, ११. उपशांतमोह, १२. क्षीणमोह, १३.सयोगकेवली और १४. अयोगकेवली। इस तरह क्रम से चौदह गुणस्थान जानने चाहिए ॥२॥'' अब इन गुणस्थानों में से प्रत्येक का संक्षेप से लक्षण कहते हैं। वह इस प्रकार स्वाभाविक शुद्ध केवलज्ञान केवलदर्शन रूप अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभास-मय निजपरमात्मा आदि षट् द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों में तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोष रहित वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए नयविभाग से जिस जीव के श्रद्धान नहीं है वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है ॥१॥

पाषाणरेखा (पत्थर में उकेरी हुई लकीर) के समान जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ में से किसी एक के उदय से प्रथम-औपशमिक सम्यक्त्व से गिरकर जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त न हो, तब तक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों के बीच के परिणाम वाला जीव सासादन होता है ॥२॥ जो अपने शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों को वीतराग सर्वज्ञ के कहे अनुसार मानता है और अन्य

यः स दर्शनमोहनीयभेदमिश्रकर्मोदयेन दधिगुडमिश्रभाववत् मिश्रगुणस्थानवर्ती भवति॥३॥

३४. अथ मतं येन केनाप्येकेन मम देवेन प्रयोजनं तथा सर्वे देवा वन्दनीया न च निन्दनीया इत्यादिवैनयिक मिथ्यादृष्टिः संशयमिथ्यादृष्टिर्वा तथा मन्यते तेन सह सम्यग्मिथ्यादृष्टेः को विशेष इति, अत्र परिहारः–स सर्वदेवेषु सर्वसमयेषु च भक्तिपरिणामेन येन केनाप्येकेन मम पुण्यं भविष्यतीति मत्वा संशयरूपेण भक्तिं कुरुते निश्चयो नास्ति। मिश्रस्य पुनरुभयत्र निश्चयोऽस्तीति विशेषः। स्वाभाविकानन्त-ज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीत-निश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारण-निमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दादिसहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्। यः पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिः सन् भूमिरेखादिसमानक्रोधादिद्वितीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चय-नयेनैकदेशरागादिरहितस्वाभाविकसुखानुभूतिलक्षणेषु बहिर्विषये पुनरेकदेशहिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रह-निवृत्तिलक्षणेषु ''**दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तराइभत्ते य। बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ**

मत के अनुसार भी मानता है वह मिश्रदर्शनमोहनीय कर्म के उदय से दही और गुड़ मिले हुए पदार्थ की भाँति मिश्रगुणस्थान वाला है[१] ॥३॥

३४. **शंका**–''चाहे जिससे हो मुझे तो एक देव से मतलब है अथवा सब ही देव वन्दनीय हैं, निन्दा किसी भी देव की न करनी चाहिए'' इस प्रकार वैनयिक और संशय मिथ्यादृष्टि मानता है; तब उनमें तथा मिश्रगुणस्थानवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि में क्या अन्तर है? इसका उत्तर यह है कि–वैनयिक मिथ्यादृष्टि तथा संशयमिथ्यादृष्टि तो सभी देवों में तथा सब शास्त्रों में से किसी एक की भक्ति के परिणाम से मुझे पुण्य होगा ऐसा मानकर संशय रूप से भक्ति करता है; उसको किसी एक देव में निश्चय नहीं है और मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव के दोनों में निश्चय है। बस, यही अन्तर है। जो ''स्वाभाविक अनंतज्ञान आदि अनंतगुण का आधारभूत निज परमात्मद्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि परद्रव्य त्याज्य हैं'' इस तरह सर्वज्ञदेवप्रणीत निश्चय व व्यवहारनय को साध्य-साधक भाव से मानता है, परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध आदि अप्रत्याख्यानकषाय के उदय से मारने के लिए कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भाँति आत्मनिन्दादि सहित होकर इन्द्रिय-सुख का अनुभव करता है; यह अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवर्ती का लक्षण है ॥४॥ पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि होकर भूमि रेखादि के समान क्रोधादि अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषायों के उदय का अभाव होने पर अन्तरंग में निश्चयनय से एकदेश राग आदि से रहित स्वाभाविक सुख के अनुभव लक्षण तथा बाह्य विषयों में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इनके एकदेश त्याग रूप पाँच अणुव्रतों में और दर्शन, व्रत,

---

१. पूर्व स्वीकृत अन्य देवता के अपरित्याग के साथ-साथ अरहन्त भी देव हैं, ऐसे अभिप्रायवाला पुरुष इस गुणस्थान में पाया जाता है। (गोम्मटसार जीवकाण्ड मन्द प्रबोधिनी टीका २२, धवल पु० १ पृ० १६८-६९ तथा उपासकाध्ययन ४/१४३-४४

देसविरदो य ॥१॥'' इति गाथाकथितैकादशनिलयेषु वर्त्तते स पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावको भवति ॥५॥ स एव सद्दृष्टिर्धूलिरेखादिसदृशक्रोधादितृतीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेन रागाद्युपाधिरहित-स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतानुभवलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनः सामस्त्येन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रह-निवृत्तिलक्षणेषु च पञ्चमहाव्रतेषु वर्त्तते यदा तदा दुःस्वप्नादिव्यक्ताव्यक्तप्रमादसहितोऽपि षष्ठगुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयतो भवति॥६॥ स एव जलरेखादिसदृशसंज्वलनकषायमन्दोदये सति निष्प्रमादशुद्धात्मसंवित्ति-मलजनक व्यक्ताव्यक्तप्रमादरहितः सन्सप्तमगुणस्थानवर्त्ती अप्रमत्तसंयतो भवति॥७॥ स एवातीतसंज्वलन-कषायमन्दोदये सत्यपूर्वपरमाह्लादैकसुखानुभूतिलक्षणापूर्वकरणोपशमकक्षपकसंज्ञोऽष्टमगुणस्थानवर्त्ती भवति ॥८॥ दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षादिरूपसमस्तसङ्कल्परहितनिजनिश्चलपरमात्मतत्त्वैकाग्रध्यानपरिणामेन कृत्वा येषां जीवानामेकसमये ये परस्परं पृथक्कर्त्तुं नायान्ति ते वर्णसंस्थानादिभेदेऽप्यनिवृत्तिकरणौपशमिक क्षपकसंज्ञा द्वितीयकषायाद्येकविंशतिभेदभिन्नचारित्रमोहप्रकृतीनामुपशमक्षपणसमर्था नवमगुणस्थानवर्त्तिनो भवन्ति ॥९॥ सूक्ष्मपरमात्मतत्त्वभावनाबलेन सूक्ष्मकृष्टिगतलोभकषायस्योपशमकाः क्षपकाश्च दशम-गुणस्थानवर्त्तिनो भवन्ति॥१०॥ परमोपशममूर्त्तिनिजात्मस्वभावसंवित्तिबलेन सकलोपशान्तमोहा एकादश-

---

सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ॥१॥'' इस गाथा में कहे हुए श्रावक के एकादश स्थानों में से किसी एक में वर्तने वाला है वह पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक होता है ॥५॥ जब वही सम्यग्दृष्टि; धूलि की रेखा के समान क्रोध आदि प्रत्याख्यानावरण तीसरी कषाय के उदय का अभाव होने पर निश्चय नय से अंतरंग में राग आदि उपाधि-रहित; निज-शुद्ध अनुभव से उत्पन्न सुखामृत के अनुभव लक्षण रूप और बाहरी विषयों में सम्पूर्ण रूप से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के त्याग रूप ऐसे पाँच महाव्रतों का पालन करता है; तब वह बुरे स्वप्न आदि प्रकट तथा अप्रकट प्रमाद सहित होता हुआ छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत होता है ॥६॥ वही; जलरेखा के तुल्य संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर प्रमादरहित जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है उसमें मल उत्पन्न करने वाले व्यक्त अव्यक्त प्रमादों से रहित होकर; सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्तसंयत होता है ॥७॥ वही; संज्वलन कषाय का अत्यन्त मन्द उदय होने पर; अपूर्व परम आह्लाद एक सुख के अनुभव रूप अपूर्वकरण में उपशमक या क्षपक नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती होता है ॥८॥ देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगों की वांछादिरूप संपूर्ण संकल्प तथा विकल्प रहित अपने निश्चल परमात्मस्वरूप के एकाग्र ध्यान के परिणाम से जिन जीवों के एक समय में परस्पर अंतर नहीं होता वे वर्ण तथा संस्थान के भेद होने पर भी अनिवृत्तिकरण उपशमक क्षपक संज्ञा के धारक; अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय आदि इक्कीस प्रकार की चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण में समर्थ नवम गुणस्थानवर्ती जीव हैं ॥९॥ सूक्ष्म परमात्मतत्त्व भावना के बल से जो सूक्ष्म कृष्टि रूप लोभ कषाय के उपशमक और क्षपक हैं वे दशम गुणस्थानवर्ती हैं ॥१०॥ परम उपशममूर्ति निज आत्मा के स्वभाव अनुभव के बल से सम्पूर्ण मोह को उपशम करने

गुणस्थानवर्त्तिनो भवन्ति॥११॥ उपशमश्रेणिविलक्षणेन क्षपकश्रेणिमार्गेण निष्कषायशुद्धात्मभावनाबलेन क्षीणकषाया द्वादशगुणस्थानवर्त्तिनो भवन्ति॥१२॥ मोहक्षपणानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तकालं स्वशुद्धात्मसंवित्ति-लक्षणैकत्ववितर्कवीचारद्वितीयशुक्लध्याने स्थित्वा तदन्त्यसमये ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायत्रयं युगपदेक-समयेन निर्मूल्य मेघपञ्जरविनिर्गतदिनकर इव सकलविमलकेवलज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकास्त्रयो-दशगुणस्थानवर्त्तिनो जिनभास्करा भवन्ति॥१३॥ मनोवचनकायवर्गणालम्बनकर्मादाननिमित्तात्मप्रदेश-परिस्पन्दलक्षणयोगरहिताश्चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनोऽयोगिजिना भवन्ति॥१४॥ ततश्च निश्चयरत्नत्रयात्मक-कारणभूतसमयसारसंज्ञेन परमयथाख्यातचारित्रेण चतुर्दशगुणस्थानातीताः ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहिताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतनिर्नामगोत्राद्यनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति।

३५. अत्राह शिष्यः—केवलज्ञानोत्पत्तौ मोक्षकारणभूतरत्नत्रयपरिपूर्णतायां सत्यां तस्मिन्नेव क्षणे मोक्षेण भाव्यं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये कालो नास्तीति। परिहारमाह—यथाख्यातचारित्रं जातं परं किन्तु परमयथाख्यातं नास्ति। अत्र दृष्टान्तः। यथा चौरव्यापाराभावेऽपि पुरुषस्य चौरसंसर्गो दोषं जनयति तथा चारित्रविनाशकचारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोगिकेवलिनां निष्क्रियशुद्धात्माचरणविलक्षणो योगत्रय-

---

वाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं ॥११॥ उपशमश्रेणी से भिन्न क्षपक श्रेणी के मार्ग से कषायरहित शुद्ध आत्मा की भावना के बल से जिनके समस्त कषाय नष्ट हो गये हैं वे बारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं ॥१२॥ मोह का नाश होने के पश्चात् अंतर्मुहूर्त काल में ही निज शुद्ध आत्मानुभव रूप एकत्ववितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान में स्थिर होकर उसके अन्तिम समय में ज्ञानावरण; दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों को एक साथ एक काल में सर्वथा निर्मूल करके मेघपटल से निकले हुए सूर्य के समान सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान किरणों से लोक अलोक के प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन भास्कर (सूर्य) होते हैं ॥१३॥ और मन, वचन, कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्मों के ग्रहण करने में कारण जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द रूप योग है उससे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन होते हैं ॥१४॥ तदनंतर निश्चय रत्नत्रयात्मक कारणभूत समयसार नामक जो परम यथाख्यात चारित्र है उससे पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानों से रहित, ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों से रहित तथा सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणों में गर्भित निर्नाम (नाम रहित), निर्गोत्र (गोत्र रहित) आदि, अनन्त गुण सहित सिद्ध होते हैं।

३५. यहाँ शिष्य पूछता है कि केवलज्ञान हो जाने पर जब मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय की पूर्णता हो गई तो उसी समय मोक्ष होना चाहिए, सयोगी और अयोगी इन दो गुणस्थानों में रहने का कोई समय ही नहीं है? इस शंका का परिहार करते हैं कि केवलज्ञान हो जाने पर यथाख्यात चारित्र तो हो जाता है किन्तु परम यथाख्यात चारित्र नहीं होता है। यहाँ दृष्टान्त है—जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता किन्तु उसको चोर के संसर्ग का दोष लगता है, उसी तरह सयोग केवलियों के चारित्र का नाश करने वाले चारित्रमोह के उदय का अभाव है तो भी निष्क्रिय शुद्ध आत्मा के आचरण से विलक्षण जो तीन योगों का व्यापार है वह चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है। तीनों योगों से रहित जो अयोगी जिन हैं उनके अंत

व्यापारश्चारित्रमलं जनयति, योगत्रयगते पुनरयोगिजिने चरमसमयं विहाय शेषाघातिकर्मतीव्रोदयश्चारित्र-मलं जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्रमलाभावान्मोक्षं गच्छति। इति चतुर्दशगुणस्थानव्याख्यानं गतम्।

३६. इदानीं मार्गणाः कथ्यन्ते।

''गइ इंदियं[1] च काये जोए वेए कसायणाणे य।
संयमदंसणलेस्सा भविआ सम्मत्तसण्णि आहारे ॥१॥'' (गो॰ जी॰ १४)

इति गाथाकथितक्रमेण गत्यादिचतुर्दशमार्गणा ज्ञातव्याः। तद्यथा—स्वात्मोपलब्धिसिद्धिविलक्षणा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिभेदेन चतुर्विधा गतिमार्गणा भवति ॥१॥ अतीन्द्रियशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूता ह्येकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदेन पञ्चप्रकारेन्द्रियमार्गणा ॥२॥ अशरीरात्मतत्त्वविसदृशी पृथिव्यप्तेजोवायु-वनस्पतित्रसकायभेदेन षड्भेदा कायमार्गणा ॥३॥ निर्व्यापारशुद्धात्मपदार्थविलक्षणमनोवचनकाययोगभेदेन त्रिधा योगमार्गणा, अथवा विस्तरेण सत्यासत्योभयानुभयभेदेन चतुर्विधो मनोयोगो वचनयोगश्च, औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्राहारकाहारकमिश्रकार्मणकायभेदेन सप्तविधो काययोगश्चेति समुदायेन पञ्चदशविधा वा योगमार्गणा ॥४॥ वेदोदयोद्भवरागादिदोषरहितपरमात्मद्रव्याद्भिन्ना स्त्री-

---

समय को छोड़कर शेष चार अघातिया कर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है और अन्तिम समय में उन अघातिया कर्मों का मन्द उदय होने पर चारित्र में दोष का अभाव हो जाने से अयोगी जिन मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार चौदह गुणस्थानों का व्याख्यान समाप्त हुआ।

३६. अब चौदह मार्गणाओं का कथन किया जाता है—

''गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी तथा आहार ॥१॥'' इस तरह क्रम से गति आदि चतुर्दश मार्गणा जाननी चाहिए। निज आत्मा की प्राप्ति से विलक्षण नारक, तिर्यक्, मनुष्य तथा देवगति भेद से गतिमार्गणा चार प्रकार की है—१. अतीन्द्रिय; शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रतिपक्षभूत एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय भेद से इन्द्रियमार्गणा पाँच प्रकार की है ॥२॥ शरीर रहित आत्मतत्त्व से भिन्न पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस काय के भेद से कायमार्गणा छह तरह की होती है ॥३॥ व्यापार रहित शुद्ध आत्मतत्त्व से विलक्षण मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग के भेद से योगमार्गणा तीन प्रकार की है अथवा विस्तार से सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग के भेद से चार प्रकार का मनोयोग है। ऐसे ही सत्य, असत्य, उभय, अनुभय इन चार भेदों से वचनयोग भी चार प्रकार का है एवं औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण ऐसे काययोग सात प्रकार का है। सब मिलकर योगमार्गणा १५ प्रकार की हुई ॥४॥ वेद के उदय से उत्पन्न होने वाले रागादिक दोषों से रहित जो परमात्मद्रव्य है उससे भिन्न स्त्रीवेद, पुरुषवेद और

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १४२ में ''गइ इंदियेसु काये जोगे वेदे...'' पाठ मिलता है, जो अधिक उपयुक्त और प्राचीन लगता है।

पुंनपुंसकभेदेन त्रिधा वेदमार्गणा ॥५॥ निष्कषायशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलक्रोधलोभमायामानभेदेन चतुर्विधा कषायमार्गणा, विस्तरेण कषायनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधा वा ॥६॥ मत्यादिसंज्ञापञ्चकं कुमत्याद्य-ज्ञानत्रयं चेत्यष्टविधा ज्ञानमार्गणा ॥७॥ सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यात-भेदेन चारित्रं पञ्चविधम्, संयमासंयमस्तथैवासंयमश्चेति प्रतिपक्षद्वयेन सह सप्तप्रकारा संयममार्गणा ॥८॥ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदेन चतुर्विधा दर्शनमार्गणा ॥९॥ कषायोदयरञ्जितयोगप्रवृत्तिविसदृश-परमात्मद्रव्यप्रतिपन्थिनी कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लभेदेन षड्विधा लेश्यामार्गणा ॥१०॥ भव्याभव्य-भेदेन द्विविधा भव्यमार्गणा ॥११॥

३७. अत्राह शिष्यः—शुद्धपारिणामिकपरमभावरूपशुद्धनिश्चयेन गुणस्थानमार्गणास्थानरहिता जीवा इत्युक्तं पूर्वम्, इदानीं पुनर्भव्याभव्यरूपेण मार्गणामध्येऽपि पारिणामिकभावो भणित इति पूर्वापरविरोधः। अत्र परिहारमाह—पूर्वं शुद्धपारिणामिकभावापेक्षया गुणस्थानमार्गणानिषेधः कृतः, इदानीं पुनर्भव्याभव्यत्वद्वय-मशुद्धपारिणामिकभावरूपं मार्गणामध्येऽपि घटते।

३८. ननु शुद्धाशुद्धभेदेन पारिणामिकभावो द्विविधो नास्ति किन्तु शुद्ध एव नैवं, यद्यपि

नपुंसकवेद ऐसे तीन प्रकार की वेदमार्गणा है ॥५॥ कषाय रहित शुद्ध आत्मा के स्वभाव से प्रतिकूल क्रोध, मान, माया, लोभ भेदों से चार प्रकार की कषायमार्गणा है। विस्तार से अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन भेद से १६ कषाय और हास्यादिक भेद से ९ नोकषाय ये सब मिलकर पच्चीस प्रकार की कषायमार्गणा है ॥६॥ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल, पाँच ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन अज्ञान, इस तरह ८ प्रकार की ज्ञानमार्गणा है ॥७॥ सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये पाँच प्रकार का चारित्र और संयमासंयम तथा असंयम ये दो प्रतिपक्षी; ऐसे संयममार्गणा सात प्रकार की है ॥८॥ चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन इन भेदों से दर्शनमार्गणा चार प्रकार की है ॥९॥ कषायों के उदय से रँगी हुई जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति है, उससे भिन्न जो परमात्मद्रव्य है; उस परमात्मद्रव्य से विरोध करने वाली कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ऐसे ६ प्रकार की लेश्यामार्गणा है ॥१०॥ भव्य और अभव्य भेद से भव्य-मार्गणा दो प्रकार की है ॥११॥

३७. यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि—''शुद्ध पारिणामिक परमभावरूप शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीव गुणस्थान तथा मार्गणास्थानों से रहित है'' ऐसा पहले कहा गया है और अब यहाँ भव्य अभव्य रूप से मार्गणा में भी आपने पारिणामिक भाव कहा; सो यह तो पूर्वापरविरोध है? अब इस शंका का समाधान करते हैं—पूर्व प्रसंग में तो शुद्ध पारिणामिक भाव की अपेक्षा से गुणस्थान और मार्गणा का निषेध किया है और यहाँ पर अशुद्ध पारिणामिक भाव रूप से भव्य तथा अभव्य ये दोनों मार्गणा में भी घटित होते हैं।

३८. यदि कदाचित् ऐसा कहो कि— ''शुद्ध अशुद्ध भेद से पारिणामिक भाव दो प्रकार का नहीं

सामान्यरूपेणोत्सर्गव्याख्यानेनशुद्धपारिणामिकभावः कथ्यते तथाप्यपवादव्याख्यानेना-शुद्धपारिणामिक-भावोऽप्यस्ति। तथाहि-''**जीवभव्याभव्यत्वानि च**'' इति तत्त्वार्थसूत्रे त्रिधा पारिणामिक भावो भणितः, तत्रशुद्धचैतन्यरूपं जीवत्वमविनश्वरत्वेन शुद्धद्रव्याश्रितत्वाच्छुद्धद्रव्यार्थिकसंज्ञः शुद्धपारिणामिक भावो भण्यते, यत्पुनः कर्मजनितदशप्राणरूपं जीवत्वं, भव्यत्वम्, अभव्यत्वं चेति त्रयं, तद्विनश्वरत्वेन पर्यायाश्रितत्वात्पर्यायार्थिकसंज्ञस्त्वशुद्धपारिणामिकभाव उच्यते। अशुद्धत्वं कथमिति चेत्-यद्यप्येतदशुद्ध-पारिणामिकत्रयं व्यवहारेण संसारिजीवेऽस्ति तथापि **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इति वचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्ति त्रयं, मुक्त जीवे पुनः सर्वथैव नास्ति, इति हेतोरशुद्धत्वं भण्यते। तत्र शुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये

है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है'' तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि यद्यपि सामान्य रूप से पारिणामिक भाव शुद्ध है, ऐसा कहा जाता है, तथापि अपवाद व्याख्यान से अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है। इसी कारण **जीवभव्याभव्यत्वानि च** इस तत्त्वार्थसूत्र (अ० २, सू० ७) में जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व इन भेदों से पारिणामिक भाव तीन प्रकार का कहा है। उनमें शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है वह अविनश्वर होने के कारण शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने से शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है। तथा जो कर्म से उत्पन्न दश प्रकार के प्राणों रूप जीवत्व है वह जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व के भेद से तीन तरह का है और ये तीनों विनाशशील होने के कारण पर्याय के आश्रित होने से पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अशुद्ध पारिणामिकभाव कहे जाते हैं।[१] ''इनकी अशुद्धता किस प्रकार से है?'' इस शंका का उत्तर यह है—यद्यपि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक व्यवहारनय से संसारी जीव में हैं, तथापि **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इस वचन से ये तीनों भाव शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा नहीं हैं और मुक्त जीवों में तो सर्वथा ही नहीं है; इस कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है। उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भाव में से जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यान

---

१. इस प्रकरण में जीवत्व, भव्यत्व व अभव्यत्व भावों को किसी दृष्टि से औदयिक भाव सिद्ध किया जा रहा है—''सिद्धों में प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता, इससे मालूम पड़ता है कि जीवत्व पारिणामिक नहीं है किन्तु वह कर्म के विपाक से उत्पन्न होता है, क्योंकि ''जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है वह उसका है; ऐसा कारण-कार्यभाव के ज्ञाता कहते हैं।'' ऐसा न्याय है। इसलिए जीवभाव औदयिक है, यह सिद्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र में जो जीवत्व को पारिणामिक भाव कहा है वह प्राणों के धारण करने की अपेक्षा नहीं कहा है किन्तु चैतन्य गुण की अपेक्षा से वहाँ वैसा कथन किया है इसलिए वह कथन भी विरोध को प्राप्त नहीं होता।

चार अघाती कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्धभाव है। वह दो प्रकार का है-अनादि अनन्त और अनादि सान्त। इनमें से जिनके असिद्धभाव अनादि-अनन्त है वे अभव्यजीव हैं और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्यजीव हैं। इसलिए भव्यत्व व अभव्यत्व ये भी विपाक प्रत्ययिक (औदयिक) ही हैं। शंका-'तत्त्वार्थसूत्र' में इन्हें पारिणामिक कहा है, इसलिए इस कथन का उसके साथ विरोध कैसे नहीं होगा? समाधान-नहीं, क्योंकि असिद्धत्व का अनादि अनन्तपना और अनादि सान्तपना निष्कारण है, ऐसा समझकर उन्हें वहाँ पारिणामिक स्वीकार किया गया है। (धवला १४ पृ० १३-१४)

शुद्धपारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति, कस्मात् ध्यानपर्यायस्य विनश्वरत्वात्, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूपत्वादविनश्वरः, इति भावार्थः।

३९. औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वभेदेन त्रिधा सम्यक्त्वमार्गणा मिथ्यादृष्टिसासादन-मिश्रसंज्ञविपक्षत्रयभेदेन सह षड्विधा ज्ञातव्या ॥१२॥ संज्ञित्वासंज्ञित्वविसदृशपरमात्मस्वरूपाद्भिन्ना संज्ञ्यसंज्ञिभेदेन द्विधा संज्ञिमार्गणा ॥१३॥ आहारकानाहारकजीवभेदेनाहारकमार्गणापि द्विधा ॥१४॥ इति चतुर्दशमार्गणास्वरूपं ज्ञातव्यम्। एवं **पुढविजलतेयवाऊ** इत्यादिगाथाद्वयेन, तृतीयगाथापादत्रयेण च

''गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो विय कमसो वीसं तु परूवणा भणिया॥१॥'' (गो० जी०)

इति गाथाप्रभृतिकथितस्वरूपं धवलजयधवलमहाधवलप्रबन्धाभिधानसिद्धान्तत्रयबीजपदं सूचितम्। **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इति शुद्धात्मतत्त्वप्रकाशकं तृतीयगाथाचतुर्थपादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसार-समयसाराभिधानप्राभृतत्रयस्यापि बीजपदं सूचितमिति।

के समय ध्येय (ध्यान करने योग्य) होता है, ध्यानरूप नहीं होता क्योंकि ध्यान पर्याय विनश्वर है; और शुद्ध पारिणामिक द्रव्यरूप होने के कारण अविनाशी है, यह सारांश है। सम्यक्त्व के भेद से सम्यक्त्वमार्गणा तीन प्रकार की है।

३९. औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक और मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन विपक्ष भेदों के साथ छह प्रकार की भी सम्यक्त्वमार्गणा जाननी चाहिए ॥१२॥ संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व से विलक्षण परमात्मस्वरूप से भिन्न संज्ञिमार्गणा संज्ञी तथा असंज्ञी भेद से दो प्रकार की है ॥१३॥ आहारक अनाहारक जीवों के भेद से आहार-मार्गणा भी दो प्रकार की है ॥१४॥ इस प्रकार चौदह मार्गणाओं का स्वरूप जानना चाहिए। इस रीति से **पुढविजलतेयवाऊ** इत्यादि दो गाथाओं और तीसरी गाथा **णिक्कम्मा अट्ठगुणा** के तीन पदों से ''गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा चौदह मार्गणा और उपयोगों से इस प्रकार क्रमशः बीस प्ररूपणा कही हैं ॥१॥'' इत्यादि गाथा में कहा हुआ स्वरूप **धवल, जयधवल** और **महाधवल**[1] प्रबन्ध नामक जो तीन सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उनके बीज-पद की सूचना ग्रन्थकार ने की है। **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इस तृतीय गाथा के चौथे पाद से शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रकाशक पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार इन तीनों प्राभृतों का बीजपद सूचित किया है।

---

१. यद्यपि षट्खण्डागम के छठे खण्ड का नाम महाबन्ध ही है पर वह इतने विस्तार पूर्वक विवेचित है कि उस पर टीका लिखने की आवश्यकता अभी तक किसी आचार्य के अनुभव में नहीं आई। फलस्वरूप षट्खण्ड के आद्य पाँच खण्डों की टीका को धवला तथा छठे खण्ड महाबन्ध का नाम महाधवला के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस तरह तीनों महाकाय ग्रन्थ धवलान्त नाम वाले हो गये; धवला, जयधवला तथा महाधवला। महाबन्ध का महाधवल नाम अन्यत्र भी मिलता है; महाबन्ध पु० १ पृ० १, कषायपाहुडसुत्त प्रस्तावना, पृ० ८, धवला पु० १ प्रस्तावना पृ० ६०, धवला पु० ३ सम्पादकीय पृ० ३-४ एवं चित्रपरिचय पृ० १। अतः महाबन्ध को महाधवल नाम से अभिहित करना अनुचित नहीं है।

४०. अत्र गुणस्थानमार्गणादिमध्ये केवलज्ञानदर्शनद्वयं क्षायिकसम्यक्त्वमनाहारकशुद्धात्मस्वरूपं च साक्षादुपादेयं, यत्पुनश्च शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणं कारणसमयसारस्वरूपं तत्तस्यैवोपादेय-भूतस्य विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन साधकत्वात्पारम्पर्येणोपादेयं, शेषं तु हेयमिति। यच्चाध्यात्मग्रन्थस्य बीजपदभूतं शुद्धात्मस्वरूपमुक्तं तत्पुनरुपादेयमेव। अनेन प्रकारेण जीवाधिकारमध्ये शुद्धाशुद्धजीवकथन-मुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथात्रयं गतम्॥१३॥

४१. अथेदानीं गाथापूर्वार्द्धेन सिद्धस्वरूपमुत्तरार्धेन पुनरूर्ध्वगतिस्वभावं च कथयति—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता॥१४॥

अष्ट कर्म से रहित हुए हैं अष्ट गुणों से सहित हुए।
अंतिम तन से कुछ कम आकृति ले अपने में निहित हुए॥
तीन लोक के अग्रभाग पर सहज रूप से निवस रहे।
उदय नाश-ध्रुव स्वभाव युत हो शुद्ध सिद्ध हो विलस रहे॥१४॥

---

४०. यहाँ गुणस्थान और मार्गणाओं में केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों तथा क्षायिक सम्यक्त्व और अनाहारक शुद्ध आत्मा के स्वरूप हैं, अतः साक्षात् उपादेय हैं; और जो शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप कारण समयसार है वह उसी उपादेयभूत का विवक्षित एक देश शुद्ध नय द्वारा साधक होने से परम्परा से उपादेय है, इसके सिवाय और सब हेय हैं। और जो अध्यात्म ग्रन्थ का बीजपदभूत शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहा है वह तो उपादेय ही है। इस प्रकार जीवाधिकार में शुद्ध, अशुद्ध जीव के कथन की मुख्यता से सप्तम स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं॥१३॥

४१. अब निम्नलिखित गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा सिद्धों के स्वरूप[1] का और उत्तरार्द्ध द्वारा उनके ऊर्ध्वगमन स्वभाव का कथन करते हैं—

अन्वयार्थ—(णिक्कम्मा) आठकर्मों से रहित **(अट्ठगुणा)** आठगुणों से सहित **(चरमदेहदो किंचूणा)** अन्तिम शरीर से कुछ कम प्रमाण वाले **(लोयग्गठिदा)** ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित **(णिच्चा)** विनाश रहित और **(उप्पादवएहिं संजुत्ता)** उत्पाद व व्यय से संयुक्त हैं वे **(सिद्धा)** सिद्ध भगवान् हैं।

गाथार्थ—सिद्ध भगवान् ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं और (ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण) लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद-व्यय से युक्त हैं॥१४॥

---

१. गाथा ५१ में भी सिद्धों का स्वरूप कहा है।

४२. **वृत्ति—सिद्धा** सिद्धा भवन्तीति क्रियाध्याहारः। किं विशिष्टाः **णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो** निष्कर्माणोऽष्टगुणाः किञ्चिदूनाश्चरमदेहतः सकाशादिति सूत्रपूर्वार्द्धेन सिद्धस्वरूप-मुक्तम्। ऊर्ध्वगमनं कथ्यते **लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता** ते च सिद्धा लोकाग्रस्थिता नित्या उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः।

४३. अतो विस्तरः—कर्मारिविध्वंसकस्वशुद्धात्मसंवित्तिबलेन ज्ञानावरणादिमूलोत्तरगतसमस्तकर्म-प्रकृतिविनाशकत्वादष्टकर्मरहिताः—

''सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुअव्वबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं॥१॥''

इति गाथाकथितक्रमेण तेषामष्टकर्मरहितानामष्टगुणाः कथ्यन्ते। तथाहि—केवलज्ञानादिगुणास्पद-निजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं यत्पूर्वं तपश्चरणावस्थायां भावितं तस्य फलभूतं समस्तजीवादितत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशरहितपरिणतिरूपं परमक्षायिकसम्यक्त्वं भण्यते। पूर्वं छद्मस्थावस्थायां भावितस्य निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्य फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतविशेष-परिच्छेदकं केवलज्ञानम्। निर्विकल्पस्वशुद्धात्मसत्तावलोकनरूपं यत्पूर्वं दर्शनं भावितं तस्यैव फलभूतं युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतसामान्यग्राहकं केवलदर्शनम्। कस्मिंश्चित्स्वरूपचलनकारणे जाते सति

---

४२. वृत्त्यर्थ—सिद्धा सिद्ध होते हैं, इस रीति से यहाँ भवन्ति इस क्रिया का अध्याहार करना चाहिए। सिद्ध किन विशेषणों से विशिष्ट होते हैं? **णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो** कर्मों से रहित, आठ गुणों से सहित और अन्तिम शरीर से कुछ छोटे ऐसे सिद्ध हैं। इस प्रकार सूत्र के पूर्वार्द्ध द्वारा सिद्धों का स्वरूप कहा। अब उनका ऊर्ध्वगमन स्वभाव कहते हैं। **लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता** वे सिद्ध लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद, व्यय से संयुक्त हैं।

४३. अब विस्तार से इसकी व्याख्या करते हैं—कर्म शत्रुओं के विध्वंसक अपने शुद्ध आत्मसंवेदन के बल के द्वारा ज्ञानावरण आदि समस्त मूल व उत्तर कर्म प्रकृतियों के विनाश करने से आठों कर्मों से रहित सिद्ध होते हैं तथा सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धों के होते हैं ॥१॥ इस गाथा में कहे क्रम से आठ कर्म रहित सिद्धों के आठ गुण कहे जाते हैं। केवलज्ञान आदि गुणों का आश्रयभूत निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है; इस प्रकार की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व जो कि पहले तपश्चरण की अवस्था में भावित किया था उसके फलस्वरूप समस्त जीव आदि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिनिवेश (विरुद्ध अभिप्राय) से रहित परिणामरूप परम क्षायिक सम्यक्त्व गुण सिद्धों के कहा गया है। पहले छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अवस्था में भावना किये हुए निर्विकार स्वानुभवरूप ज्ञान के फलस्वरूप एक ही समय में लोक तथा अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में प्राप्त हुए विशेषों को जानने वाला केवलज्ञान गुण है। समस्त विकल्पों से रहित अपनी शुद्ध आत्मा की सत्ता का अवलोकन रूप जो दर्शन पहले भावित किया था उसी दर्शन के फलरूप एक काल में

घोरपरिषहोपसर्गादौ निजनिरञ्जनपरमात्मध्याने पूर्वं धैर्यमवलम्बितं तस्यैव फलभूतमनन्तपदार्थ-परिच्छित्तिविषये खेदरहितत्वमनन्तवीर्यम्। सूक्ष्मातीन्द्रियकेवलज्ञानविषयत्वात्सिद्धस्वरूपस्य सूक्ष्मत्वं भण्यते। एकदीपप्रकाशे नानादीपप्रकाशवदेकसिद्धक्षेत्रे सङ्करव्यतिकरदोषपरिहारेणानन्तसिद्धावकाशदान-सामर्थ्यमवगाहनगुणो भण्यते। यदि सर्वथा गुरुत्वं भवति तदा लोहपिण्डवदधःपतनं, यदि च सर्वथा लघुत्वं भवति तदा वाताहतार्कतूलवत्सर्वदैव भ्रमणमेव स्यान्न च तथा तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभिधीयते। सहजशुद्धस्वरूपानुभवसमुत्पन्नरागादिविभावरहितसुखामृतस्य यदेकदेशसंवेदनं कृतं पूर्वं तस्यैव फलभूतमव्याबाधमनन्तसुखं भण्यते। इति मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं भणितम्। मध्यमरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विशेषभेदनयेन निर्गतित्वं, निरिन्द्रियत्वं, निष्कायत्वं, निर्योगत्वं, निर्वेदत्वं, निष्कषायत्वं, निर्नामत्वं, निर्गोत्रत्वं, निरायुषत्वमित्यादिविशेषगुणास्तथैवास्तित्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादि-

---

लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों के सामान्य को ग्रहण करने वाला केवलदर्शन गुण है। आत्मध्यान से विचलित करने वाले किसी अतिघोर परीषह तथा उपसर्ग आदि के आने के समय जो पहले अपने निरंजन परमात्मा के ध्यान में धैर्य का अवलम्बन किया उसी के फलरूप अनन्त पदार्थों के जानने में खेद के अभावरूप अनन्तवीर्य गुण है। सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञान का विषय होने के कारण सिद्धों के स्वरूप को सूक्ष्मत्व कहते हैं। यह पाँचवाँ गुण है। एक दीप के प्रकाश में जैसे अनेक दीपों का प्रकाश समा जाता है उसी तरह एक सिद्ध के क्षेत्र में संकर तथा व्यतिकर दोष से रहित जो अनन्त सिद्धों को अवकाश देने की सामर्थ्य है वह अवगाहन गुण है। यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु (भारी) हो तो लोहे के गोले के समान वह नीचे पड़ा रहेगा और यदि सर्वथा लघु (हल्का) हो तो वायु से प्रेरित आक की रुई की तरह वह सदा इधर-उधर घूमता रहेगा किन्तु सिद्धों का स्वरूप ऐसा नहीं है इस कारण उनके अगुरुलघु गुण कहा जाता है।[१] स्वाभाविक शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव से उत्पन्न तथा राग आदि विभावों से रहित सुखरूपी अमृत का जो एकदेश अनुभव पहले किया था उसी के फलस्वरूप अव्याबाध रूप अनन्त सुख गुण सिद्धों में कहा गया है। इस प्रकार सम्यक्त्व आदि आठ गुण मध्यम रुचि वाले शिष्यों के लिए हैं। विस्तार रुचि वाले शिष्य के प्रति विशेष भेद नय के अवलम्बन से गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहितता, नामरहितता, गोत्ररहितता तथा आयुरहितता आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व प्रमेयत्वादि

---

१. अगुरुलघुगुण प्रत्येक जीव में दो होते हैं। यथा-गोत्र कर्म के दूर हो जाने से अब उच्च-नीच नहीं कहलाता, इसी का नाम अगुरुलघु है। वास्तव में, यह अगुरुलघु गुण नहीं है किन्तु गुरु और लघुपने के अभाव को ही अगुरुलघु कहा गया है। यह भी आत्मा का अभावात्मक (प्रतिजीवी) धर्म है। (पंचाध्यायी, सुबोधा टीका, पृ० २८५-२८६)। वहीं पर टिप्पण में लिखा है—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप न हो जाये, जिसका यह कार्य है तथा जिसमें षट्‌गुणी हानिवृद्धि होती रहती है यह अगुरुलघु नामक उपजीवी (अनुजीवी) गुण दूसरा ही है।'' इस कथन से सकल जीवों के दो अगुरुलघु गुण सिद्ध होते हैं—एक षड्‌गुण हानिवृद्धि का हेतुभूत और अनुजीवी तथा दूसरा गोत्रकर्म के अभाव से उत्पद्यमान तथा प्रतिजीवी। (द्रष्टव्य : बृहज्जिनोपदेश : पं० जवाहरलालजी जैन, भीण्डर, पृ० ३३३ से ३४७)।

सामान्यगुणाः स्वागमाविरोधेनानन्ता ज्ञातव्याः। संक्षेपरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विवक्षिताभेदनयेनानन्तज्ञानादि-चतुष्टयम्, अनन्तज्ञानदर्शनसुखत्रयं, केवलज्ञानदर्शनद्वयं, साक्षादभेदनयेन शुद्धचैतन्यमेवैको गुण इति। पुनरपि कथंभूताः सिद्धाः चरमशरीरात् किञ्चिदूना भवन्ति, तत् किञ्चिदूनत्वं शरीरोपाङ्गजनित-नासिकादिच्छिद्राणामपूर्णत्वे सति यस्मिन्नेव क्षणे सयोगिचरमसमये त्रिंशत्प्रकृत्युदयविच्छेदमध्ये शरीरोपाङ्गनामकर्मविच्छेदो जातस्तस्मिन्नेव क्षणे जातमिति ज्ञातव्यम्।

४४. कश्चिदाह—यथा प्रदीपस्य भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारो भवति तथा देहाभावे लोक प्रमाणेन भाव्यमिति। तत्र परिहारमाहप्रदीपसंबंधी योऽसौ प्रकाशविस्तारः पूर्वं स्वभावेनैव तिष्ठति पश्चादावरणं जातं जीवस्य तु लोकमात्रासंख्येयप्रदेशत्वं स्वभावो भवति यस्तु प्रदेशानां संबंधी विस्तारः स स्वभावो न भवति। कस्मादिति चेत्, पूर्वं लोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपवदावरणं जातमेव। तन्न किन्तु पूर्वमेवानादिसन्तानरूपेण शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्-

---

सामान्य गुण इस तरह जैनागम के अनुसार अनन्त गुण जानने चाहिए और संक्षेपरुचि शिष्य के लिए विवक्षित अभेद नय की अपेक्षा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य ये चार गुण अथवा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुखरूप तीन गुण अथवा केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो गुण हैं और साक्षात् अभेदनय से एक शुद्ध चैतन्य गुण ही सिद्धों का है। पुनः वे सिद्ध कैसे होते हैं? चरम (अन्तिम) शरीर से कुछ छोटे होते हैं।[1] वह जो किंचित्-ऊनता है सो शरीरोपांग से उत्पन्न नासिका आदि के छिद्रों के अपूर्ण (खाली स्थान) होने से जिस समय सयोगी गुणस्थान के अन्त समय में तीस प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ उनमें शरीरोपांग कर्म का भी विच्छेद हो गया, अतः उसी समय किंचित् ऊनता हुई है। ऐसा जानना चाहिए।

४४. कोई शंका करता है कि जैसे दीपक को ढकने वाले पात्र आदि के हटा लेने पर उस दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार देह का अभाव हो जाने पर सिद्धों की आत्मा भी फैलकर लोकप्रमाण होनी चाहिए? इस शंका का उत्तर यह है—दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह तो पहले ही स्वभाव से दीपक में रहता है, पीछे उस दीपक के आवरण से संकुचित होता है किन्तु जीव का लोकप्रमाण असंख्यात-प्रदेशत्व स्वभाव है, प्रदेशों का लोकप्रमाण-विस्तार स्वभाव नहीं है। यदि यों कहो कि जीव के प्रदेश पहले लोक के बराबर फैले हुए, आवरणरहित रहते हैं फिर जैसे प्रदीप के आवरण होता है उसी तरह जीवप्रदेशों के भी आवरण हुआ है? ऐसा नहीं है। किन्तु जीव के प्रदेश तो पहले अनादिकाल से सन्तानरूप चले आये हुए शरीर के आवरणसहित ही रहते हैं। इस कारण जीव के प्रदेशों का संहार नहीं होता तथा विस्तार व संहार शरीर नामक नामकर्म के अधीन ही है, जीव का

---

१. तिलोयपण्णत्ति ९/१० में यतिवृषभाचार्य ने लिखा है कि अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता और बाहुल्य हो, उससे तृतीयभागहीन सब सिद्धों की अवगाहना होती है। यही बात सिद्धान्तसार दीपक १६/८ में भी लिखी है।

प्रदेशानां संहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति।

४५. अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा हस्तचतुष्टयप्रमाणवस्त्रं पुरुषेण मुष्टौ बद्धं तिष्ठति पुरुषाभावे सङ्कोचविस्तारौ वा न करोति, निष्पत्तिकाले सार्द्रं मृन्मयभाजनं वा शुष्कं सज्जलाभावे सति; तथा जीवोऽपि पुरुषस्थानीयजलस्थानीयशरीराभावे विस्तारसंकोचौ न करोति। यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठतीति ये केचन वदन्ति तन्निषेधार्थं पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्चेति हेतुचतुष्टयेन तथैवाविद्ध-कुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्चेति दृष्टान्तचतुष्टयेन च स्वभावोर्ध्वगमनं ज्ञातव्यं, तच्च लोकाग्रपर्यन्तमेव न च परतो धर्मास्तिकायाभावादिति।

४६. नित्या इति विशेषणं तु मुक्तात्मनां कल्पशतप्रमितकाले गते जगति शून्ये जाते सति पुनरागमनं भवतीति सदाशिववादिनो वदन्ति तन्निषेधार्थं विज्ञेयम्। उत्पादव्ययसंयुक्तत्वं विशेषणं सर्वथैवापरिणामित्व-निषेधार्थमिति।

४७. किञ्च विशेषः निश्चलाविनश्वरशुद्धात्मस्वरूपाद्भिन्नं सिद्धानां नारकादिगतिषु भ्रमणं नास्ति

स्वभाव नहीं है। इस कारण जीव के शरीर का अभाव होने पर प्रदेशों का विस्तार नहीं होता।

४५. इस विषय में और भी उदाहरण देते हैं कि जैसे किसी मनुष्य की मुट्ठी के भीतर चार हाथ लम्बा वस्त्र बँधा (भिंचा) हुआ है, अब वह वस्त्र, मुट्ठी खोल देने पर पुरुष के अभाव में संकोच तथा विस्तार नहीं करता; जैसा उस पुरुष ने छोड़ा वैसा ही रहता है। अथवा गीली मिट्टी का बर्तन बनते समय तो संकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता जाता है किन्तु जब वह सूख जाता है तब जल का अभाव होने से संकोच व विस्तार को प्राप्त नहीं होता। इसी तरह मुक्त जीव भी, पुरुष के स्थानभूत अथवा जल के स्थानभूत शरीर के अभाव में, संकोच विस्तार नहीं करता।

कोई कहते हैं कि ''जीव जिस स्थान में कर्मों से मुक्त हो जाता है वहाँ ही रहता है'', इसके निषेध के लिए कहते हैं कि पूर्व प्रयोग से, असंग होने से, बन्ध का नाश होने से, तथागति के परिणाम से, इन चार हेतुओं से तथा घूमते हुए कुम्हार के चाक के समान, मिट्टी के लेप से रहित तुम्बी के समान, एरंड के बीज के समान तथा अग्नि की शिखा के समान, इन चार दृष्टान्तों से जीव के स्वभाव से ऊर्ध्व (ऊपर को) गमन समझना चाहिए। वह ऊर्ध्वगमन लोक के अग्रभाग तक ही होता है उससे आगे नहीं होता; क्योंकि उसके आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है।

४६. सिद्ध नित्य हैं। यहाँ जो नित्य विशेषण है सो सदाशिववादी जो यह कहते हैं कि — ''१०० कल्प प्रमाण समय बीत जाने पर जब जगत् शून्य हो जाता है तब फिर उन मुक्त जीवों का संसार में आगमन होता है।'' इस मत का निषेध करने के लिए है, ऐसा जानना चाहिए।

४७. उत्पाद, व्यय-संयुक्तपना जो सिद्धों का विशेषण है, वह सर्वथा अपरिणामिता के निषेध

कथमुत्पादव्ययत्वमिति। तत्र परिहारः। आगमकथितागुरुलघुषट्स्थानपतितहानिवृद्धिरूपेण येऽर्थपर्यायास्तद-पेक्षया अथवा येन येनोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षणं ज्ञेयपदार्थाः परिणमन्ति तत्परिच्छित्त्याकारेणानी-हितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि परिणमति तेन कारणेनोत्पादव्ययत्वम् अथवा व्यञ्जनपर्यायापेक्षया संसारपर्याय-विनाशः, सिद्धपर्यायोत्पादः, शुद्धजीवद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति। एवं नयविभागेन नवाधिकारैर्जीवद्रव्यं ज्ञातव्यम्।

४८.अथवा तदेव बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिधा भवति। तद्यथा–स्वशुद्धात्मसंवित्ति-समुत्पन्नवास्तवसुखात्प्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियसुखेनासक्तो बहिरात्मा, तद्विलक्षणोऽन्तरात्मा। अथवा देहरहित-निजशुद्धात्मद्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपरद्रव्येष्वेकत्वभावनापरिणतो बहिरात्मा, तस्मात्प्रतिपक्ष-भूतोऽन्तरात्मा। अथवा हेयोपादेयविचारकचित्तनिर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मन्युक्तलक्षणेषु चित्तदोषात्मसु त्रिषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनय-

---

के लिए है। यहाँ पर यदि कोई शंका करे कि सिद्ध निरन्तर निश्चल अविनश्वर शुद्ध आत्म-स्वरूप से भिन्न नरक आदि गतियों में भ्रमण नहीं करते हैं इसलिए सिद्धों में उत्पाद-व्यय कैसे हो? इसका परिहार यह है—कि (क) आगम में कहे गये अगुरुलघु गुण के षट्-हानि वृद्धि रूप से अर्थ पर्याय होती हैं; उनकी अपेक्षा सिद्धों में उत्पाद व्यय है। अथवा (ख) ज्ञेय पदार्थ अपने जिस-जिस उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप से प्रतिसमय परिणमते हैं उन उनके आकार से निरिच्छुक वृत्ति से सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है इस कारण भी उत्पाद-व्यय सिद्धों में घटित होता है।[1]

अथवा (ग) सिद्धों में व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से संसार पर्याय का नाश और सिद्ध पर्याय का उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्यपने से ध्रौव्य है। इस प्रकार नय विभाग से नौ अधिकारों द्वारा जीव द्रव्य का स्वरूप समझना चाहिए।

४८. अथवा वही जीव बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा इन भेदों से तीन प्रकार का भी होता है। निज शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न यथार्थ सुख से विरुद्ध इन्द्रिय सुख में आसक्त बहिरात्मा है; उससे विलक्षण अन्तरात्मा है। अथवा देहरहित निज शुद्ध आत्मद्रव्य की भावना रूप भेदविज्ञान से रहित होने के कारण देह आदि पर द्रव्यों में जो एकत्व भावना से परिणत है (देह को ही आत्मा समझने वाला) बहिरात्मा है। बहिरात्मा से विरुद्ध (निज शुद्ध आत्मा को आत्मा जानने वाला) अन्तरात्मा है। अथवा, हेय-उपादेय का विचार करने वाला जो 'चित्त' तथा निर्दोष परमात्मा से भिन्न राग आदि 'दोष' और शुद्ध चैतन्य लक्षण का धारक 'आत्मा' इस प्रकार उक्त लक्षण वाले चित्त, दोष, आत्मा इन तीनों में अथवा वीतराग सर्वज्ञ कथित अन्य पदार्थों में जिसके परस्पर सापेक्ष नयों द्वारा

---

१. जयधवला में भी कहा है कि पमेयवसेण परियत्तमाणसिद्धजीवणाणं साणं...। यानि प्रमेय के निमित्त से सिद्ध जीवों के भी ज्ञानांशों में परिवर्तन देखा जाता है। जयधवला १/४६, प्रवचनसार गाथा १८ जयसेनीय टीका, धवला १/१९८, परमात्मप्रकाश गाथा ५६ की टीका एवं आलापपद्धति पृ॰ ९०-९१ (पं॰ रतनचन्दजी मुख्तार कृत टीका)।

विभागेन श्रद्धानं ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा, तस्माद्विसदृशोऽन्तरात्मेति रूपेण बहिरात्मान्तरात्मनोर्लक्षणं ज्ञातव्यम्।

४९. परमात्मलक्षणं कथ्यते–सकलविमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन समस्तं लोकालोकं जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते। परमब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसुखामृततृप्तस्य सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परमब्रह्म भण्यते। केवलज्ञानादि-गुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति। केवलज्ञानशब्दवाच्यं गतं ज्ञानं यस्य स सुगतः, अथवा शोभनमविनश्वरं मुक्तिपदं गतः सुगतः।

''शिवं परमकल्याणं निर्वाणं[१] ज्ञानमक्षयम्।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परकीर्त्तितः ॥१॥''

इति श्लोककथितलक्षणः शिवः। कामक्रोधादिदोषजयेनानन्तज्ञानादिगुणसहितो जिनः। इत्यादि-परमागमकथिताष्टोत्तरसहस्रसंख्यनामवाच्यः परमात्मा ज्ञातव्यः।

५०. एवमेतेषु त्रिविधात्मसु मध्ये मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च। अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा

श्रद्धान और ज्ञान नहीं है वह बहिरात्मा है और उस बहिरात्मा से भिन्न अन्तरात्मा है। ऐसा बहिरात्मा, अन्तरात्मा का लक्षण समझना चाहिए।

४९. अब परमात्मा का लक्षण कहते हैं–क्योंकि पूर्ण निर्मल केवलज्ञान द्वारा सर्वज्ञ समस्त लोकालोक को जानता है या अपने ज्ञान द्वारा लोकालोक में व्याप्त होता है, इस कारण वह परमात्मा विष्णु कहा जाता है। परमब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत से तृप्त होने के कारण उर्वशी, तिलोत्तमा, रंभा आदि देव कन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्य खंडित न हो सका अतः वह परमब्रह्म कहलाता है। केवलज्ञान आदि गुणरूपी ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिसके पद की अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञापालन करते हैं, अतः वह परमात्मा ईश्वर होता है। केवलज्ञान शब्द से वाच्य 'सु' उत्तम 'गत' यानि ज्ञान जिसका वह सुगत है। अथवा शोभायमान अविनश्वर मुक्ति पद को प्राप्त हुआ सो सुगत है। तथा ''शिव यानि परम कल्याण, निर्वाण एवं अक्षय ज्ञानरूप मुक्त पद को जिसने प्राप्त किया वह शिव कहलाता है ॥१॥'' इस श्लोक में कहे गये लक्षण का धारक होने के कारण वह परमात्मा शिव है। काम-क्रोधादि के जीतने से अनन्तज्ञान आदि गुणों का धारक जिन कहलाता है इत्यादि परमागम में कहे हुए एक हजार आठ नामों से कहे जाने योग्य जो है, उसको परमात्मा जानना चाहिए।

५०. इस प्रकार ऊपर कहे गये इन तीनों आत्माओं में जो मिथ्यादृष्टि भव्य जीव है उसमें केवल बहिरात्मा तो व्यक्ति रूप से रहता है और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से रहते हैं, भावी

---

१. 'शांतम्' इति पाठान्तरम्।

व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव न च भाविनैगमनयेनेति। यद्यभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्त्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत् परमात्मशक्तेः केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तिर्नभविष्यतीत्यभव्यत्वं, शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना। यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते। भव्याभव्यद्वयं पुनरशुद्धनयेनेति भावार्थः। एवं यथा मिथ्यादृष्टिसंज्ञे बहिरात्मनि नयविभागेन दर्शितमात्मत्रयं तथा शेषगुणस्थानेष्वपि। तद्यथा–बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम्, अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वन्यायेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च। परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वयं भूतपूर्वनयेनेति।

५१. अथ त्रिधात्मानं गुणस्थानेषु योजयति। मिथ्यासासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्यन्यूनाधिकभेदेन बहिरात्मा ज्ञातव्यः, अविरतगुणस्थाने तद्योग्याशुभलेश्यापरिणतो जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्टः, अविरतक्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यमः, सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात्परमात्मेति। अत्र बहिरात्मा हेयः, उपादेयभूतस्यानन्त–

नैगमनय की अपेक्षा व्यक्ति रूप से भी रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव में बहिरात्मा व्यक्ति रूप से और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूप से ही रहते हैं; भावी नैगमनय की अपेक्षा अभव्य में अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्ति रूप से नहीं रहते। कदाचित् कोई कहे कि यदि अभव्य जीव में परमात्मा शक्ति रूप से रहता है तो उसमें अभव्यत्व कैसे है? इसका उत्तर यह है कि अभव्य जीव में परमात्म शक्ति की केवलज्ञान आदि रूप से व्यक्ति न होगी इसलिए उसमें अभव्यत्व है। शुद्ध नय की अपेक्षा परमात्मा की शक्ति तो मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य इन दोनों में समान है। यदि अभव्य जीव में शक्ति रूप से भी केवलज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। सारांश यह है कि भव्य, अभव्य ये दोनों अशुद्ध नय से हैं। इस प्रकार जैसे मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा में नय विभाग से तीनों आत्माओं को बतलाया उसी प्रकार शेष तेरह गुणस्थानों में भी घटित करना चाहिए। इस प्रकार बहिरात्मा की दशा में अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूप से रहते हैं और भावी नैगमनय से व्यक्ति रूप से भी रहते हैं ऐसा समझना चाहिए। अन्तरात्मा की अवस्था में बहिरात्मा भूतपूर्व नय से घृत के घट के समान और परमात्मा का स्वरूप शक्तिरूप से तथा भावी नैगमनय की अपेक्षा व्यक्तिरूप से भी जानना चाहिए। परमात्म अवस्था में अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्व नय की अपेक्षा जानने चाहिए।

५१. अब तीनों तरह के आत्माओं को गुणस्थानों में योजित करते हैं—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीनों गुणस्थानों में तारतम्य न्यूनाधिक भाव से बहिरात्मा जानना चाहिए; अविरत गुणस्थान में उसके योग्य अशुभ लेश्या से परिणत जघन्य अन्तरात्मा है और क्षीणकषाय गुणस्थान में उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। अविरत और क्षीणकषाय गुणस्थानों के बीच में जो सात गुणस्थान हैं उनमें मध्यम–

सुखसाधकत्वादन्तरात्मोपादेयः, परमात्मा पुनः साक्षादुपादेय इत्यभिप्रायः। एवं षड्द्रव्यपञ्चास्तिकाय-प्रतिपादकप्रथमाधिकारमध्ये नमस्कारादिचतुर्दशगाथाभिर्नवभिरन्तरस्थलैर्जीवद्रव्यकथनरूपेण प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः॥१४॥

५२. अतः परं यद्यपि शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मद्रव्यमुपादेयं भवति तथापि हेयरूपस्याजीवद्रव्यस्य गाथाष्टकेन व्याख्यानं करोति। कस्मादिति चेत्, हेयतत्त्वपरिज्ञाने सति पश्चादुपादेयस्वीकारो भवतीति हेतोः। तद्यथा–

अज्जीवो[1] पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा हु ॥१५॥

पुद्गल-अधर्म-धर्म-काल-नभ पाँच द्रव्य इनको मानो।
चेतनता से दूर रहें ये 'अजीव' तातैं पहिचानो ॥
रूपादिक गुण धारण करता मूर्त द्रव्य 'पुद्गल' नाना।
शेष द्रव्य हैं अमूर्त क्यों फिर मूर्तों पर मन मचलाना? ॥१५॥

अन्तरात्मा है। सयोगी और अयोगी इन दोनों गुणस्थानों में विवक्षित एकदेश शुद्धनय की अपेक्षा सिद्ध के समान परमात्मा है और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा हैं ही। यहाँ बहिरात्मा तो हेय है और उपादेयभूत (परमात्मा) के अनन्त सुख का साधक होने से अन्तरात्मा उपादेय है और परमात्मा साक्षात् उपादेय है; ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार छह द्रव्य और पंच अस्तिकाय के प्रतिपादन करने वाले प्रथम अधिकार में नमस्कार गाथा आदि चौदह गाथाओं द्वारा, ९ मध्यस्थलों द्वारा जीव द्रव्य के कथन रूप प्रथम अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥१४॥

५२. उसके पश्चात् यद्यपि शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा द्रव्य ही उपादेय है तो भी हेय रूप अजीव द्रव्य का आठ गाथाओं द्वारा निरूपण करते हैं। क्यों करते हैं? क्योंकि पहले हेय तत्त्व का ज्ञान होने पर फिर उपादेय पदार्थ स्वीकार होता है। अजीव द्रव्य इस प्रकार है–

अन्वयार्थ–(पुण) और **(पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं कालो)** पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँचों को **(अज्जीवो)** अजीव द्रव्य **(णेयो)** जानना चाहिए **(रूवादिगुणो पुग्गलमुत्तो)** रूप/वर्ण, स्पर्श, रस, गंध आदि गुण वाला पुद्गल मूर्तिक द्रव्य है **(हु)** परन्तु रूपादि गुण वाले न होने से **(सेसा)** शेष पाँच द्रव्य **(अमुत्ति)** अमूर्त्तिक हैं।

गाथार्थ–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये अजीवद्रव्य जानने चाहिए। इनमें रूप आदि गुणों का धारक पुद्गल मूर्तिमान् है और शेष चारों द्रव्य अमूर्तिक हैं ॥१५॥

---

१. प्राकृत भाषा में तैलं (तेल्लं), सेवा (सेव्वा) आदि शब्दों में द्वित्व पाया जाता है। इसी तरह यहाँ पर 'अजीवः' के लिए 'अज्जीवो' पाठ मिलता है।

२. खलु निश्चय अर्थ में 'हु' का प्रयोग होता है। टीका में भी यही 'हु' पाठ मिल रहा है, 'दु' नहीं।

५३. वृत्ति—अज्जीवो पुण णेओ अजीवः पुनर्ज्ञेयः। सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयं शुद्धोपयोगः मतिज्ञानादिरूपो विकलोऽशुद्धोपयोग इति द्विविधोपयोगः, अव्यक्तसुखदुःखानुभवनरूपा कर्मफलचेतना, तथैव मतिज्ञानादिमनःपर्ययपर्यन्तमशुद्धोपयोग इति, स्वेहापूर्वेष्टानिष्टविकल्परूपेण विशेषरागद्वेषपरिणमनं कर्मचेतना, केवलज्ञानरूपा शुद्धचेतना इत्युक्तलक्षणोपयोगश्चेतना च यत्र नास्ति स भवत्यजीव इति विज्ञेयः। पुनः पश्चाज्जीवाधिकारानन्तरं **पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं कालो** स च पुद्‌गलधर्माधर्माकाश-कालद्रव्यभेदेन पञ्चधा। पूरणगलनस्वभावत्वात्पुद्‌गल इत्युच्यते। गतिस्थित्यवगाहवर्त्तनालक्षणा धर्मा-धर्माकाशकालाः, **पुग्गलमुत्तो** पुद्‌गलो मूर्त्तः। कस्मात् **रूवादिगुणो** रूपादिगुणसहितो यतः। **अमुत्ति सेसा हु** रूपादिगुणाभावादमूर्त्ता भवन्ति पुद्‌गलाच्छेषाश्चत्वार इति। तथाहि—यथा अनन्तज्ञानदर्शन-सुखवीर्यगुणचतुष्टयं सर्वजीवसाधारणं तथा रूपरसगंधस्पर्शगुणचतुष्टयं सर्वपुद्‌गलसाधारणं, यथा च शुद्धबुद्धैकस्वभावसिद्धजीवे अनन्तचतुष्टयमतीन्द्रियं तथैव शुद्धपुद्‌गलपरमाणुद्रव्ये रूपादिचतुष्टयम-तीन्द्रियं, यथा रागादिस्नेहगुणेन कर्मबन्धावस्थायां ज्ञानादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वं तथा स्निग्धरूक्षत्वगुणेन द्व्यणुकादिबन्धावस्थायां रूपादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वं, यथा निःस्नेहनिजपरमात्मभावनाबलेन रागादि-

---

५३. वृत्त्यर्थ—अज्जीवो पुण णेओ अजीव पदार्थ जानना चाहिए। पूर्ण व निर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन ये दोनों शुद्ध उपयोग हैं और मतिज्ञान आदि रूप विकल अशुद्ध उपयोग हैं; इस तरह उपयोग दो प्रकार का है। अव्यक्त सुखदुःखानुभव स्वरूप कर्मफल चेतना है तथा मतिज्ञान आदि मनःपर्यय तक चारों ज्ञान रूप अशुद्ध उपयोग है। निज चेष्टा पूर्वक इष्ट, अनिष्ट विकल्प रूप से विशेष रागद्वेष रूप परिणाम कर्मचेतना है। केवलज्ञान रूप शुद्ध चेतना है। इस तरह पूर्वोक्त लक्षण वाला उपयोग तथा चेतना ये जिसमें नहीं हैं वह अजीव है ऐसा जानना चाहिए। **पुण** जीव अधिकार के पश्चात् अजीव अधिकार है। **पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं कालो** वह अजीव पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य के भेद से पाँच प्रकार का है। पूरण तथा गलन स्वभाव सहित होने से पुद्‌गल कहा जाता है (पूरने और गलने के स्वभाव वाला पुद्‌गल है।) क्रम से गति, स्थिति, अवगाह और वर्तना लक्षण वाले धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य हैं। (गति में सहायक धर्म, ठहरने में सहायक अधर्म, अवगाह देने वाला आकाश, वर्तना लक्षण वाला काल द्रव्य है)। **पुग्गल मुत्तो** पुद्‌गल द्रव्य मूर्त है क्योंकि पुद्‌गल **रूवादिगुणो** रूप आदि गुणों से सहित है। **अमुत्ति सेसा हु** पुद्‌गल के सिवाय शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्यरूप आदि गुणों के न होने से अमूर्तिक हैं। जैसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य ये चारों गुण सब जीवों में साधारण हैं; उसी प्रकार रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्‌गलों में साधारण हैं। जिस प्रकार शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावधारी सिद्ध में अनंतचतुष्टय अतीन्द्रिय है; उसी प्रकार शुद्ध पुद्‌गल परमाणु में रूप आदि चतुष्टय अतीन्द्रिय हैं। जिस तरह राग आदि स्नेह गुण से कर्मबन्ध की दशा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इन चारों गुणों की अशुद्धता है; उसी तरह स्निग्ध रूक्षत्व गुण से द्वि-अणुक आदि बन्ध दशा में रूप

स्निग्धत्वविनाशे सत्यनन्तचतुष्टयस्य शुद्धत्वं तथा जघन्यगुणानां बन्धो न भवतीति वचनात्परमाणुद्रव्ये स्निग्धरूक्षत्वगुणस्य जघन्यत्वे सति रूपादिचतुष्टयं शुद्धत्वमवबोद्धव्यमित्यभिप्रायः॥१५॥

५४. अथ पुद्गलद्रव्यस्य विभावव्यञ्जनपर्यायान्प्रतिपादयति–

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥१६॥

टूटन - फूटन रूप भेद औ सूक्ष्म स्थूलता आकृतियाँ ।
श्रवणेन्द्रिय के विषय-शब्द भी प्रतिछवि छाया या कृतियाँ ॥
चन्द्र, चाँदनी रवि का आतप अंधकार आदिक समझो ।
'पुद्गल' की ये पर्यायें हैं पर्यायों में मत उलझो ॥ १६॥

५५. वृत्ति–शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया भवन्ति। अथ विस्तरः–भाषात्मकोऽभाषात्मकश्च द्विविधः शब्दः। तत्राक्षरानक्षरात्मकभेदेन भाषात्मको द्विधा भवति। तत्राप्यक्षरात्मकः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचिकादिभाषाभेदेनार्यम्लेच्छमनुष्यादिव्यवहार-हेतुर्बहुधा। अनक्षरात्मकस्तु द्वीन्द्रियादितिर्यग्जीवेषु सर्वज्ञदिव्यध्वनौ च। अभाषात्मकोऽपि प्रायोगिक-

---

आदि चारों गुणों की अशुद्धता है। जैसे स्नेह रहित निज परमात्मा की भावना के बल से राग आदि स्निग्धता का विनाश हो जाने पर अनन्त चतुष्टय की शुद्धता है; उसी तरह जघन्य गुणों का बन्ध नहीं होता है इस वचन के अनुसार परमाणु में स्निग्ध-रूक्षत्व गुण की जघन्यता होने पर रूप आदि चारों गुणों की शुद्धता समझनी चाहिए, ऐसा अभिप्राय है ॥१५॥

५४. अब पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्यायों का वर्णन करते हैं–

अन्वयार्थ–(सद्दो) शब्द **(बंधो)** बन्ध **(सुहुमो)** सूक्ष्म **(थूलो)** स्थूल **(संठाण-भेद-तम-छाया)** संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया **(उज्जोदादव-सहिया)** उद्योत व आतप सहित **(पुग्गलदव्वस्स पज्जाया)** पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

गाथार्थ–शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप सहित सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं ॥१६॥

५५. वृत्त्यर्थ–शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत इन सहित पुद्गल द्रव्य की पर्यायें[१] होती हैं। अब इसको विस्तार से बतलाते हैं–भाषात्मक और अभाषात्मक ऐसे शब्द दो तरह के हैं। उनमें भाषात्मक शब्द अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक रूप से दो तरह का है। उनमें भी अक्षरात्मक भाषा संस्कृत-प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप पैशाची आदि

---

१. तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है–शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च (५/२४ अर्थ-वे पुद्गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, आतप और उद्योत वाले होते हैं। अर्थात् ये भी पुद्गलों की ही पर्यायें हैं।

वैस्रसिकभेदेन द्विविधः।

"ततं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकम्।
घनं तु कांस्यतालादि वंशादिसुषिरं विदुः ॥१॥"

इति श्लोककथितक्रमेण प्रयोगे भवः प्रायोगिकश्चतुर्धा भवति। विस्रसा स्वभावेन भवो वैस्रसिको मेघादिप्रभवो बहुधा।

५६. किञ्च, शब्दातीतनिजपरमात्मभावनाच्युतेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपञ्चेन्द्रियविषयासक्तेन च जीवेन यदुपार्जितं सुस्वरदुःस्वरनामकर्म तदुदयेन यद्यपि जीवे शब्दो दृश्यते तथापि स जीव-संयोगेनोत्पन्नत्वाद् व्यवहारेण जीवशब्दो भण्यते, निश्चयेन पुनः पुद्गलस्वरूप एवेति। बन्धः कथ्यते—मृत्पिण्डादिरूपेण योऽसौ बहुधा बन्धः स केवलः पुद्गलबन्धः, यस्तु कर्मनोकर्मरूपः स जीवपुद्गल-संयोगबन्धः। किञ्च विशेषः—कर्मबन्धपृथग्भूतस्वशुद्धात्मभावनारहितजीवस्यानुपचरितासद्भूत-व्यवहारेण द्रव्यबन्धः, तथैवाशुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्धः कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबन्ध एव। बिल्वाद्यपेक्षया बदरादीनां सूक्ष्मत्वं, परमाणोः साक्षादिति। बदराद्यपेक्षया बिल्वादीनां स्थूलत्वं, जगद्व्यापिनि महास्कन्धे सर्वोत्कृष्टमिति। समचतुरस्रन्यग्रोधसातिककुब्जवामनहुण्डभेदेन षट्प्रकार-

---

भाषाओं के भेद से आर्य व म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार के कारण अनेक प्रकार की है। अनक्षरात्मक भाषा द्वीन्द्रिय आदि तिर्यञ्च जीवों में तथा सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि में है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से दो तरह का है। उनमें वीणा आदि के शब्द को तत, ढोल आदि के शब्द को वितत, मंजीरे तथा ताल आदि के शब्द को घन और वंशी आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं ॥१॥ इस श्लोक में कहे हुए क्रम से प्रायोगिक (प्रयोग से पैदा होने वाला) शब्द चार तरह का है; 'विस्रसा' अर्थात् स्वभाव से होने वाला वैस्रसिक शब्द बादल आदि से होता है वह अनेक तरह का है।

५६. **विशेष**—शब्द से रहित निज परमात्मा की भावना से छूटे हुए तथा शब्द आदि मनोज्ञ-अमनोज्ञ पंच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव ने जो सुस्वर तथा दुःस्वर नामकर्म का बन्ध किया उस कर्म के उदय के अनुसार यद्यपि जीव में शब्द दिखता है तो भी वह शब्द जीव के संयोग से उत्पन्न होने से व्यवहारनय की अपेक्षा 'जीव का शब्द' कहा जाता है; किन्तु निश्चयनय से तो वह शब्द पुद्गलमयी ही है। अब बन्ध को कहते हैं—मिट्टी आदि के पिंड रूप जो बहुत प्रकार का बन्ध है वह तो केवल पुद्गल बन्ध है। जो कर्म, नोकर्म रूप बन्ध है, वह जीव और पुद्गल के संयोग से होने वाला बन्ध है। विशेष यह है कि—कर्मबन्ध से भिन्न जो निज शुद्ध आत्मा की भावना से रहित जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्य बन्ध है और उसी तरह अशुद्ध निश्चयनय से जो वह रागादिक रूप भावबन्ध कहा जाता है; यह भी शुद्ध निश्चयनय से पुद्गल का ही बन्ध है। बिल्वादि की अपेक्षा बेर आदि फलों में सूक्ष्मता है और परमाणु में साक्षात् सूक्ष्मता है (परमाणु की सूक्ष्मता किसी की अपेक्षा से नहीं है)। बेर आदि की अपेक्षा बिल्वादि में स्थूलता (बड़ापन) है; तीन लोक में व्याप्त महास्कन्ध में सबसे अधिक स्थूलता है। समचतुरस्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्जक, वामन और हुंडक

संस्थानं यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्यास्ति तथाप्यसंस्थानाच्चिच्चमत्कारपरिणतेर्भिन्नत्वान्निश्चयेन पुद्गलसंस्थानमेव। यदपि जीवादन्यत्र वृत्तत्रिकोणचतुष्कोणादिव्यक्ताव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानं तदपि पुद्गल एव। गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतखण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः। दृष्टिप्रतिबन्धकोऽन्धकारस्तम इति भण्यते। वृक्षाद्याश्रयरूपा मनुष्यादिप्रतिबिम्बरूपा च छाया विज्ञेया। उद्योतश्चन्द्रविमाने खद्योतादि-तिर्यग्जीवेषु च भवति। आतप आदित्यविमाने अन्यत्रापि सूर्यकान्तमणिविशेषादौ पृथ्वीकाये ज्ञातव्यः।

५७. अयमत्रार्थः–यथा जीवस्य शुद्धनिश्चयेन स्वात्मोपलब्धिलक्षणे सिद्धस्वरूपे स्वभावव्यञ्जन-पर्याये विद्यमानेऽप्यनादिकर्मबन्धवशात् स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणामे सति स्वाभाविकपरमानन्दैक-लक्षणस्वास्थ्यभावभ्रष्टस्य नरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्याया भवन्ति तथा पुद्गलस्यापि निश्चयनयेन

ये ६ प्रकार के संस्थान व्यवहारनय से जीव के होते हैं किन्तु संस्थान शून्य चेतन चमत्कार परिणाम से भिन्न होने के कारण निश्चयनय की अपेक्षा संस्थान पुद्गल का ही होता है जो जीव से भिन्न गोल, त्रिकोन, चौकोर आदि प्रकट, अप्रकट अनेक प्रकार के संस्थान हैं, वे भी पुद्गल के ही हैं। गेहूँ आदि के चून रूप से तथा घी, खांड आदि रूप से अनेक प्रकार का भेद (खण्ड) जानना चाहिए। दृष्टि को रोकने वाला अन्धकार है उसको तम कहते हैं। पेड़ आदि के आश्रय से होने वाली तथा मनुष्य आदि की परछाई रूप जो है उसे छाया जानना चाहिए। चन्द्रमा के विमान में[1] तथा जुगनू आदि तिर्यञ्च जीवों में उद्योत होता है। सूर्य के विमान में[2] तथा अन्यत्र भी सूर्यकांत विशेष मणि आदि पृथ्वीकाय में आतप जानना चाहिए।

५७. सारांश यह है कि जिस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से जीव के निज–आत्मा की उपलब्धिरूप सिद्ध–स्वरूप में स्वभाव व्यंजन पर्याय विद्यमान है फिर भी अनादि कर्मबन्धन के कारण पुद्गल के स्निग्ध तथा रूक्ष गुण के स्थानभूत राग–द्वेष परिणाम होने पर स्वाभाविक–परमानन्दरूप एक स्वास्थ्य भाव से भ्रष्ट हुए जीव के मनुष्य, नारक आदि विभाव–व्यंजन–पर्याय होती हैं; उसी तरह पुद्गल में

---

१. स्मरण रहे कि उद्योत का उदय तेजःकायिक, वायुकायिक तथा साधारणवनस्पतिकायिक को छोड़ अन्य किसी भी बादर पर्याप्त तिर्यञ्च के होता है। (गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा॰ २८९) कहीं ऐसा नहीं है कि देवों के भी उद्योत प्रकृति का उदय होता हो। (गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३०४) अतः ऐसा समझना चाहिए कि चन्द्रबिम्ब के अधो भाग में पाये जा रहे पृथ्वीकायिक जीवों के उद्योत नामकर्म का उदय है। इसी तरह पटवीजना, चमकने वाली गिडार आदि के शरीर के उद्योत का सम्पादक उद्योत नामकर्म का उदय जानना चाहिए। [श्लोकवार्तिक, भाग ७, पृ॰ ६५, पं॰ माणिकचन्दजी कौंदेय, न्यायाचार्य।]

२. ऐसा नहीं समझना कि सूर्य के आताप नामकर्म का उदय है। बल्कि सूर्य–विमान के निचली ओर उत्पन्न हुए पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर उद्योत के उदय वाला होता है। [श्लोकवार्तिक, भाग ७, पृ॰ ६५]

धवला में भी कहा है कि — पृथ्वीकायिक जीवों के शरीररूप सूर्यमण्डल में आतप होता है। सारतः सूर्यबिम्ब में (सूर्यविमान में) उत्पन्न हुए पृथ्वीकायिकों में आताप का उदय देखा जाता है। [धवल ६/६० संशोधित संस्करण] आतप नाम का उदय तो मात्र बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त जीवों के ही होता है, अन्य तिर्यञ्चों के नहीं, नारकी, देव या मनुष्य के भी नहीं। [गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा॰ २८५]

शुद्धपरमाण्ववस्थालक्षणे स्वभावव्यञ्जनपर्याये सत्यपि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धो भवतीति वचनाद्रागद्वेष-स्थानीयबन्धयोग्यस्निग्धरूक्षत्वपरिणामे सत्युक्तलक्षणाच्छब्दादन्येऽपि आगमोक्तलक्षणा आकुञ्चनप्रसारण-दधिदुग्धादयो विभावव्यञ्जनपर्याया ज्ञातव्याः। एवमजीवाधिकारमध्ये पूर्वसूत्रोदितरूपादिगुणचतुष्टय-युक्तस्य तथैवात्र सूत्रोदितशब्दादिपर्यायसहितस्य संक्षेपेणाणुस्कन्धभेदभिन्नस्य पुद्गलद्रव्यस्य व्याख्यान-मुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥१६॥

५८. अथ धर्मद्रव्यमाख्याति–

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥१७॥

गमन कार्य में निरत रहे जब जीव तथा पुद्गल भाई।
धर्म द्रव्य तब बने सहायक प्रेरक बनता पर नाही ॥
मीन तैरती सरवर में जब जल बनता तब सहयोगी।
रुकी मीन को गति न दिलाता उदासीन भर हो, योगी! ॥१७॥

५९. वृत्ति–गतिपरिणतानां धर्मो जीवपुद्गलानां गमनसहकारिकारणं भवति। दृष्टान्तमाह–तोयं

निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध परमाणु दशारूप स्वभाव-व्यंजन-पर्याय के विद्यमान होते हुए भी स्निग्धता तथा रूक्षता से बन्ध होता है। इस वचन से राग और द्वेष के स्थानीय बन्ध योग्य स्निग्ध तथा रूक्ष परिणाम के होने पर पहले बतलाये गये शब्द आदि के सिवाय अन्य भी शास्त्रोक्त लक्षणयुक्त सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध आदि विभाव-व्यंजन-पर्यायें जाननी चाहिए। इस प्रकार अजीव अधिकार में अज्जीवो आदि पूर्व गाथा में कहे गये रूप-रसादि चारों गुणों से युक्त तथा यहाँ गाथा में कथित शब्द आदि पर्याय सहित अणु, स्कंध आदि पुद्गल द्रव्य का संक्षेप से निरूपण करने वाली दो गाथायें समाप्त हुईं ॥१६॥

५८. अब धर्मद्रव्य का व्याख्यान करते हैं–

अन्वयार्थ–(गइपरिणयाण) गमन करते हुए **(पुग्गल-जीवाण)** पुद्गल और जीवों के **(गमणसहयारी)** जो गमन में सहकारी/निमित्त है **(धम्मो)** वह धर्मद्रव्य है **(जह तोयं मच्छाणं)** जैसे जल मछलियों के गमन में सहकारी है **(सो)** वह धर्मद्रव्य **(अच्छंता)** ठहरने वाले जीव या पुद्गल को **(णेव णेई)** नहीं ले जाता है।

गाथार्थ–गमन करने में परिणत पुद्गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है–जैसे मछलियों को गमन में जल सहकारी है। गमन न करते हुए (ठहरे हुए) पुद्गल व जीवों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता ॥१७॥

५९. वृत्त्यर्थ–चलते हुए जीव तथा पुद्गलों को चलने में सहकारी धर्मद्रव्य होता है। इसका

यथा मत्स्यानाम्। स्वयं तिष्ठतो नैव स नयति तानिति। तथाहि–यथा सिद्धो भगवानमूर्त्तोऽपि निष्क्रियस्तथैवाप्रेरकोऽपि सिद्धवदनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपोऽहमित्यादिव्यवहारेण सविकल्पसिद्धभक्ति-युक्तानां निश्चयेन निर्विकल्पसमाधिरूपस्वकीयोपादानकारणपरिणतानां भव्यानां सिद्धगतेः सहकारिकारणं भवति। तथा निष्क्रियोऽमूर्त्तो निष्प्रेरकोऽपि धर्मास्तिकायः स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीवपुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं भवति। लोकप्रसिद्धदृष्टान्तेन तु मत्स्यादीनां जलादिवदित्यभिप्रायः॥ एवं धर्मद्रव्य-व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥१७॥

६०. अथाधर्मद्रव्यमुपदिशति–

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

किसी थान में रुकते हों जब जीव तथा पुद्गल भाई।
अधर्म उसमें बने सहायक प्रेरक बनता पर नाही ॥
रुकने वाले पथिकों को तो छाया कारण बनती है ।
चलने वालों को न रोकती उदासीनता ठनती है ॥१८॥

दृष्टांत यह है कि जैसे मछलियों के गमन में सहायक जल है। परन्तु स्वयं ठहरे हुए जीव, पुद्गलों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता। तथैव, जैसे सिद्ध भगवान् अमूर्त हैं, क्रिया रहित हैं तथा किसी को प्रेरणा भी नहीं करते, तो भी मैं सिद्ध के समान अनन्त ज्ञानादि गुणरूप हूँ इत्यादि व्यवहार से सविकल्प सिद्धभक्ति के धारक और निश्चय से निर्विकल्पक ध्यानरूप अपने उपादान कारण से परिणत भव्यजीवों को वे सिद्ध भगवान् सिद्ध गति में सहकारी कारण होते हैं।[1]

---

१. यहाँ सिद्ध भगवान् को उक्त भव्य जीवों के लिए सहकारी कारण कहा है, मिथ्याकारण या अकारण नहीं। इसी तरह उन्हें आरोपित कारण कारणाभासरूप भी नहीं कहा। बात ठीक भी है, उनका आश्रय लिए बिना जीव सम्यक्त्व को भी नहीं प्राप्त होता। देव, गुरु व शास्त्र यद्यपि बाह्य शरण होने से व्यवहार शरण व्यपदेश को प्राप्त होते हैं तथापि यह व्यवहार शरण मिथ्या नहीं है, अलंघ्य है– अत्यावश्यक है। इस बाह्य व्यवहार शरण में भक्ति, श्रद्धा, पूजा, अर्चा के भाव बिना जीव निज परमात्मा रूप निश्चय शरण को पा ही नहीं सकता। इसीलिए व्यवहारशरण को निश्चयशरण का कारण कहा है। कारण की परिभाषा ही यह है कि ''जेण विणा जं ण होदि चेव तं तस्स कारणं [धवला १४/९०]'' अर्थ–जिसके बिना जो नहीं होता है वह उसका कारण है। सिद्ध चूँकि परद्रव्य हैं, अतः यह सहकारीकारणत्व का व्याख्यान परद्रव्य विषयक होने से उपचरित असद्भूतव्यवहार का विषय अवश्य है, पर है अपने स्थान पर सत्य। पर हाँ कोई इसे निश्चय की आँख से देखकर, निश्चय की तुला से तौलकर असत्य कहे उसे तो विवक्षा तथा प्रकरण का अज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए। जहाँ जैसा प्रकरण आवे वहाँ उसे उसी दृष्टि से देखना, जानना व मानना चाहिए। काट-छाँट नहीं करनी चाहिए। टोडरमलजी ने भी कहा है–''जिनवानी विषै' तौ नाना नय अपेक्षा कहीं कैसा कहीं कैसा निरूपण किया है। यह अपने अभिप्राय हैं निश्चयनय की मुख्यता करि जो कथन किया होय, ताही कौं ग्रहि करि मिथ्यादृष्टि कौं धारै है। [मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार ७, पृ० २९१ धर्मपुरा, सस्ती ग्रन्थमाला] सारतः यदि व्यवहार झूठा-मिथ्या ही होता तो व्यवहार का उपदेश-अर्थात् खोटा उपदेश भगवान् देते ही क्यों? तथा यदि निश्चय ही सही होता तो भगवान् फिर एक नय का ही उपदेश देते! और भी क्या? फिर तो निश्चय को ही पूर्ण प्रमाण कहते तथा निश्चय को ही सम्यग् अनेकान्त कहते। भव्य पुरुषों को इस पर विचार कर समीचीन मार्ग अपनाना चाहिए। इस प्रकार प्रकृत भव्य जीवों को सिद्ध भगवान् सहकारी कारण होते हैं, यह समीचीन है। इसी तरह आगे भी कहा है–निश्चयकाल विमानों के गमनरूप परिणाम का बहिरंग सहकारी कारण होता है। यथा-निश्चयकालस्तु तद्विमानगतिपरिणतेर्बहिरंगसहकारिकारणं भवति। [गा० ३५ की टीका, ज्योतिर्लोक का वर्णन] इसी तरह गा० ५२।

६१. वृत्ति—स्थानयुक्तानामधर्मः पुद्गलजीवानां स्थितेः सहकारिकारणं भवति। तत्र दृष्टान्तः—छाया यथा पथिकानाम्। स्वयं गच्छतो जीवपुद्गलान्स नैव धरतीति। तद्यथा—स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरूपं परमस्वास्थ्यं यद्यपि निश्चयेनस्वरूपे स्थितिकारणं भवति तथा ''**सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणादि-गुणसमिद्धोऽहं। देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य।१।**'' इति गाथाकथितसिद्धभक्तिरूपेणेह पूर्वं सविकल्पावस्थायां सिद्धोऽपि यथा भव्यानां बहिरङ्गसहकारिकारणं भवति तथैव स्वकीयोपादान-कारणेन स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानामधर्मद्रव्यं स्थितेः सहकारिकारणम्। लोकव्यवहारेण तु छायावद्वा पृथिवीवद्वेति सूत्रार्थः॥ एवमधर्मद्रव्यकथनेन गाथा गता ॥१८॥

ऐसे ही क्रियारहित, अमूर्त प्रेरणारहित धर्मद्रव्य भी अपने-अपने उपादान कारणों से गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को गमन में सहकारी कारण होता है। जैसे मत्स्य आदि के गमन में जल आदि सहायक कारण होने का लोक प्रसिद्ध दृष्टांत है, यह अभिप्राय है। इस तरह धर्मद्रव्य के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ॥१७॥

६०. अब अधर्मद्रव्य का कथन करते हैं —

अन्वयार्थ—(ठाणजुदाण पुग्गलजीवाण) ठहरे हुए पुद्गल और जीवों के **(ठाण सहयारी)** ठहरने में सहकारी कारण **(अधम्मो)** अधर्मद्रव्य है **(जह पहियाणं छाया)** जैसे पथिकों के ठहरने में छाया सहकारी कारण है **(सो)** वह अधर्मद्रव्य **(गच्छंता)** गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को **(णेव धरई)** नहीं धरता/ ठहराता है।

गाथार्थ—ठहरे हुए पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्म-द्रव्य है। जैसे छाया यात्रियों को ठहरने में सहकारी है। गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को अधर्मद्रव्य नहीं ठहराता ॥१८॥

६१. वृत्त्यर्थ—ठहरे हुए पुद्गल तथा जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्म-द्रव्य है। उसमें दृष्टान्त—जैसे छाया पथिकों को ठहरने में सहकारी कारण; परन्तु स्वयं गमन करते हुए जीव व पुद्गलों को अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता है। सो ऐसे है—यद्यपि निश्चयनय से आत्म-अनुभव से उत्पन्न सुखामृत रूप जो परम स्वास्थ्य है वह निज रूप में स्थिति का कारण है; परन्तु मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनंतज्ञान आदि गुणों का धारक हूँ, शरीर प्रमाण हूँ, नित्य हूँ, असंख्यात प्रदेशी हूँ तथा अमूर्तिक हूँ ॥१॥ इस गाथा में कही हुई सिद्धभक्ति के रूप से पहले सविकल्प अवस्था में सिद्ध भी जैसे भव्य जीवों के लिए बहिरंग सहकारी कारण होते हैं, उसी तरह अपने-अपने उपादान कारण से अपने आप ठहरते हुए जीव पुद्गलों को अधर्मद्रव्य ठहरने का सहकारी कारण होता है। लोक-व्यवहार से जैसे छाया अथवा पृथ्वी ठहरते हुए यात्रियों आदि को ठहरने में सहकारी होती है उसी तरह स्वयं ठहरते हुए जीव पुद्गलों के ठहरने में अधर्मद्रव्य सहकारी होता है। इसी प्रकार अधर्मद्रव्य के कथन द्वारा यह गाथा समाप्त हुई ॥१८॥

६२. अथाकाशद्रव्यमाह;–

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं [1]लोगागासं [2]अल्लोगागासमिदि दुविहं॥१९॥

योग्य रहा अवकाश दान में जीवादिक सब द्रव्यों को।
वही रहा आकाश द्रव्य है समझाते जिन भव्यों को॥
दो भागों में हुआ विभाजित बिना किसी से वह भाता।
एक ख्यात है लोक नाम से अलोक न्यारा कहलाता॥१९॥

६३.वृत्ति—जीवादीनामवकाशदानयोग्यमाकाशं विजानीहि हे शिष्य! किं विशिष्टं **जेण्हं** जिनस्येदं जैनं, जिनेन प्रोक्तं वा जैनम्। तच्च लोकालोकाकाशभेदेन द्विविधमिति। इदानीं विस्तरः—सहजशुद्ध-सुखामृतरसास्वादेन परमसमरसीभावेन भरितावस्थेषु केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतेषु लोकाकाशप्रमिता-संख्येयस्वकीयशुद्धप्रदेशेषु यद्यपि निश्चयनयेन सिद्धास्तिष्ठन्ति, तथाप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेण मोक्ष-शिलायां तिष्ठन्तीति भण्यते इत्युक्तोऽस्ति। स च ईदृशो मोक्षो यत्र प्रदेशे परमध्यानेनात्मा स्थितः सन्

---

६२. अब आकाशद्रव्य का कथन करते हैं—

अन्वयार्थ—जो **(जीवादीणं)** जीव आदि समस्त द्रव्यों के **(अवगासदाण-जोग्गं)** अवकाश देने में समर्थ है उसे **(आयासं)** आकाशद्रव्य **(वियाण)** जानो वह **(जेण्हं)** जिनेन्द्रदेव ने **(लोगागासं अल्लोगागासं)** लोकाकाश और अलोकाकाश **(इदि)** इस प्रकार **(दुविहं)** दो प्रकार का कहा है।

गाथार्थ—जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है उसको जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ आकाशद्रव्य जानो। लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदों से आकाश दो प्रकार का है॥१९॥

६३. वृत्त्यर्थ—हे शिष्य! जीवादिक द्रव्यों को अवकाश (रहने का स्थान) देने की योग्यता जिस द्रव्य में है उसको श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य समझो। वह आकाश, लोकाकाश तथा अलोकाकाश इन भेदों से दो तरह का है। अब इसको विस्तार से कहते हैं—स्वाभाविक, शुद्ध सुखरूप अमृतरस के आस्वादरूप परमसमरसी भाव से परिपूर्ण तथा केवलज्ञान आदि अनन्तगुणों के आधारभूत जो लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेश अपनी आत्मा के हैं; उन प्रदेशों में यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा से सिद्ध जीव रहते हैं; तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से सिद्ध मोक्षशिला (ऊपरी तनुवात वलय) में रहते हैं, ऐसा कहा जाता है। जिस स्थान में आत्मा परमध्यान से कर्मरहित होता

---

१. जैन का प्राकृत रूप 'जेण' ही होगा, परन्तु जिनेन्द्र के द्वारा कथित पदार्थ को 'जेण्हं' के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

२. 'अलोकाकाश' के लिए प्राकृत रूप 'अलोगागास' या 'अलोयायास' होता है परन्तु यहाँ पर तैलं (तेल्लं), सेवा (सेव्वा) अजीवः (अज्जीवो) की तरह 'अल्लोगागास' रूप बना है।

कर्मरहितो भवति, तत्रैव भवति नान्यत्र। ध्यानप्रदेशे कर्मपुद्गलान् त्यक्त्वा ऊर्ध्वगमनस्वभावेन गत्वा मुक्तात्मानो यतो लोकाग्रे तिष्ठन्तीति तत उपचारेण लोकाग्रमपि मोक्षः प्रोच्यते। यथा तीर्थभूतपुरुष-सेवितस्थानमपि भूमिजलादिरूपमुपचारेण तीर्थं भवति। सुखबोधार्थं कथितमास्ते यथा तथैव सर्वद्रव्याणि यद्यपि निश्चयनयेन स्वकीयप्रदेशेषु तिष्ठन्ति तथाप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीत्यभि-प्रायो भगवतां श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवानामिति ॥१९॥

६४. तमेव लोकाकाशं विशेषेण द्रढयति–

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥२०॥

जीव द्रव्य औ अजीव पुद्गल काल-द्रव्य आदिक सारे।
जहाँ रहें बस 'लोक' वही है लोकपूज्य जिनमत प्यारे॥
तथा लोक के बाहर केवल फैला जो आकाश रहा।
अलोक वह है केवल-दर्पण में लेता अवकाश रहा ॥२०॥

६५. वृत्ति–धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाश्च सन्ति यावत्याकाशे स लोकः। तथा चोक्तं–**लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक** इति। तस्माल्लोकाकाशात्परतो बहिर्भागे पुनरनन्ताकाशमलोक इति।

है, ऐसा मोक्ष वहाँ ही है; अन्यत्र नहीं। ध्यान करने के स्थान में कर्म पुद्गलों को छोड़कर तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव से गमन कर मुक्त जीव चूँकि लोक के अग्रभाग में जाकर निवास करते हैं इस कारण लोक का अग्रभाग भी उपचार से मोक्ष कहलाता है, जैसे कि तीर्थभूत पुरुषों द्वारा सेवित भूमि, पर्वत, गुफा, जल आदि स्थान भी उपचार से तीर्थ होते हैं। यह वर्णन सुगमता से समझाने के लिए किया है। जैसे सिद्ध अपने प्रदेशों में रहते हैं उसी प्रकार निश्चयनय से सभी द्रव्य यद्यपि अपने-अपने प्रदेशों में रहते हैं; तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से लोकाकाश में सब द्रव्य रहते हैं; ऐसा भगवान् श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव का अभिप्राय जानना चाहिए ॥१९॥

६४. उसी लोकाकाश को विशेष रूप से दृढ़ करते हैं—

अन्वयार्थ–**(जावदिये आयासे)** जितने आकाश में **(धम्माधम्मा)** धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य **(कालो)** कालद्रव्य **(पुग्गलजीवा)** पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य **(संति)** हैं **(सो लोगो)** वह लोकाकाश है **(य)** तथा **(तत्तो परदो)** उसके आगे/बाहर **(अलोगो उत्तो)** अलोकाकाश कहा गया है।

गाथार्थ–धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पाँचों द्रव्य जितने आकाश में हैं वह लोकाकाश है और उस लोकाकाश के बाहर अलोकाकाश है ॥२०॥

६५. वृत्त्यर्थ–धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव जितने आकाश में रहते हैं उतने आकाश का नाम लोकाकाश है। ऐसा कहा भी है कि जहाँ पर जीव आदि पदार्थ देखने में आते हैं वह लोक है। उस लोकाकाश से बाहर जो अनन्त आकाश है वह अलोकाकाश है।

६६. अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठी। हे भगवन्! केवलज्ञानस्यानन्तभागप्रमितमाकाशद्रव्यं तस्याप्यनन्तभागे सर्वमध्यमप्रदेशे लोकस्तिष्ठति। स चानादिनिधनः केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो न हतो न धृतो न च रक्षितः। तथैवासंख्यातप्रदेशस्तत्रासंख्यातप्रदेशे लोकेऽनन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पुद्गलाः, लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालाणुद्रव्याणि, प्रत्येकं लोकाकाशप्रमाणं धर्माधर्मद्वयमित्युक्तलक्षणाः पदार्थाः कथमवकाशं लभन्त इति?

६७. भगवानाह—एक प्रदीपप्रकाशे नानाप्रदीपप्रकाशवदेकगूढरसनागगद्याणके बहुसुवर्णवद्भस्म-घटमध्ये सूचिकोष्ट्रदुग्धवदित्यादिदृष्टान्तेन विशिष्टावगाहनशक्तिवशादसंख्यातप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थान-मवगाहो न विरुध्यते। यदि पुनरित्थंभूतावगाहनशक्तिर्न भवति तर्ह्यसंख्यातप्रदेशेष्वसंख्यातपरमाणूनामेव व्यवस्थानं, तथा सति सर्वे जीवा यथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण निरावरणाः शुद्धबुद्धैकस्वभावास्तथा व्यक्तिरूपेण व्यवहारनयेनापि, न च तथा प्रत्यक्षविरोधादागमविरोधाच्चेति। एवमाकाशद्रव्यप्रतिपादनरूपेण सूत्रद्वयं गतम् ॥२०॥

६८. अथ निश्चयव्यवहारकालस्वरूपं कथयति—

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥

---

६६. यहाँ सोम नामक राजश्रेष्ठी प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! केवलज्ञान के अनन्तवें भाग प्रमाण आकाश द्रव्य है और उस आकाश के भी अनन्तवें भाग में, सबके बीच में लोक है और वह लोक (काल की दृष्टि से) आदि अन्त रहित है, न किसी का बनाया हुआ है, न किसी से कभी नष्ट होता है, न किसी के द्वारा धारण किया हुआ है और न कोई उसकी रक्षा करता है। वह लोकाकाश असंख्यात प्रदेशों का धारक है। उस असंख्यात प्रदेशी लोक में असंख्यात प्रदेशी अनन्त जीव, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात कालाणु, लोकाकाश प्रमाण धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य कैसे रहते हैं?

६७. भगवान् उत्तर में कहते हैं—एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपों का प्रकाश समा जाता है, अथवा एक गूढ़ रस विशेष से भरे शीशे के बर्तन में बहुत-सा सुवर्ण समा जाता है; अथवा भस्म से भरे हुए घट में सुई और ऊँटनी का दूध आदि समा जाते हैं; इत्यादि दृष्टान्तों के अनुसार विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असंख्यात प्रदेश वाले लोक में पूर्वोक्त जीव पुद्गलादिक के भी समा जाने में कुछ विरोध नहीं आता। यदि इस प्रकार अवगाहनशक्ति न होवे तो लोक के असंख्यात प्रदेशों में असंख्यात परमाणुओं का ही निवास हो सकेगा। ऐसा होने पर जैसे शक्ति रूप शुद्धनिश्चयनय से सब जीव आवरणरहित तथा शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं; वैसे ही व्यक्ति रूप व्यवहारनय से भी हो जायें किन्तु ऐसे है नहीं क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष और आगम से विरोध है। इस तरह आकाश द्रव्य के निरूपण से दो सूत्र समाप्त हुए ॥२०॥

जीव तथा पुद्गल पर्यायों की स्थिति अवगत जिससे हो।
लक्षण वह व्यवहार काल का परिणामादिक जिसके हो॥
तथा वर्तना लक्षण जिसका 'काल' रहा परमार्थ वही।
समझ काल को उदासीन पर वर्णन का फलितार्थ यही॥२१॥

६९. **वृत्ति—दव्वपरिवट्टरूवो जो** द्रव्यपरिवर्त्तरूपो यः **सो कालो हवेइ ववहारो** स कालो भवति व्यवहाररूपः। स च कथंभूतः **परिणामादीलक्खो** परिणामक्रियापरत्वापरत्वेन लक्ष्यत इति परिणामादि-लक्ष्यः। इदानीं निश्चयकालः कथ्यतेः—**वट्टणलक्खो य परमट्ठो** वर्त्तनालक्षणश्च परमार्थकाल इति। तद्यथा—जीवपुद्गलयोः परिवर्त्तो नवजीर्णपर्यायस्तस्य या समयघटिकादिरूपा स्थितिः स्वरूपं यस्य स भवति द्रव्यपर्यायरूपो व्यवहारकालः। तथा चोक्तं संस्कृतप्राभृतेन—"**स्थितिः कालसंज्ञका**" तस्य पर्यायस्य सम्बन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थितिः सा व्यवहारकालसंज्ञा भवति न च पर्याय इत्यभिप्रायः। यत एव पर्यायसंबंधिनी स्थितिर्व्यवहारकालसंज्ञां भजते तत एव जीवपुद्गलसंबंधिपरिणामेन पर्यायेण तथैव देशान्तरचलनरूपया गोदोहनपाकादिपरिस्पन्दलक्षणरूपया वा क्रियया तथैव दूरासन्नचलन-कालकृतपरत्वापरत्वेन च लक्ष्यते ज्ञायते यः स परिणामक्रियापरत्वापरत्वलक्षण इत्युच्यते। अथ द्रव्यरूप-

---

६८. अब निश्चयकाल तथा व्यवहारकाल के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(जो दव्व-परिवट्टरूवो) द्रव्यों के परिवर्तनरूप और **(परिणामादी-लक्खो)** परिणाम यानि समय आदि पर्याय लक्षण वाला है **(सो ववहारो कालो)** वह व्यवहारकाल है **(य)** और **(वट्टणलक्खो)** जिसका वर्तना ही लक्षण है **(परमट्ठो)** वह परमार्थ काल अर्थात् निश्चयकाल **(हवेइ)** होता है।

गाथार्थ—जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक, परिणामादि लक्षण वाला है, सो व्यवहारकाल है, वर्तना-लक्षण वाला जो काल है वह निश्चयकाल है॥२१॥

६९. **वृत्त्यर्थ—दव्वपरिवट्टरूवो जो** जो द्रव्य परिवर्तन रूप है **सो कालो हवेइ ववहारो** वह व्यवहार रूप काल होता है। और वह कैसा है? **परिणामादीलक्खो** परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व से जाना जाता है; इसलिए परिणामादि से लक्ष्य है। अब निश्चयकाल को कहते हैं—**वट्टणलक्खो य परमट्ठो** जो वर्तनालक्षण वाला है वह परमार्थ (निश्चय) काल है। विशेष—जीव तथा पुद्गल का परिवर्तनरूप जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है, उस पर्याय की जो समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है; वह स्थिति है स्वरूप जिसका, वह द्रव्यपर्याय रूप व्यवहारकाल है। ऐसा ही संस्कृत-प्राभृत में भी कहा है—जो स्थिति है, वह कालसंज्ञक है। सारांश यह है—द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली जो यह समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है; वह स्थिति ही व्यवहारकाल है; वह पर्याय व्यवहारकाल नहीं है। और क्योंकि पर्यायसम्बन्धिनी स्थिति 'व्यवहारकाल' है इसी कारण जीव व पुद्गल के परिणाम रूप पर्याय से तथा देशान्तर में आने-जाने रूप अथवा गाय दुहनी व रसोई करना आदि हलन-चलन रूप

निश्चयकालमाह। स्वकीयोपादानरूपेण स्वयमेव परिणममानानां पदार्थानां कुम्भकारचक्रस्याधस्तन-शिलावत्, शीतकालाध्ययने अग्निवत्, पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्त्तना भण्यते। सैव लक्षणं यस्य स वर्त्तनालक्षणः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालः, इति व्यवहारकालस्वरूपं निश्चयकालस्वरूपं च विज्ञेयम्।

७०. कश्चिदाह–''**समयरूप एव निश्चयकालस्तस्मादन्यः कालाणुद्रव्यरूपो निश्चय-कालो नास्त्यदर्शनात्**'' तत्रोत्तरं दीयते–समयस्तावत्कालस्तस्यैव पर्यायः। स कथं पर्यायः इति चेत्, पर्यायस्योत्पन्नप्रध्वंसित्वात्। तथा चोक्तं–''**समओ उप्पण्ण पद्धंसी।**'' स च पर्यायो द्रव्यं विना न भवति, पश्चात्तस्य समयरूप पर्याय कालस्योपादानकारणभूतं द्रव्यं तेनापि कालरूपेण भाव्यम्। इन्धनाग्नि-सहकारिकारणोत्पन्नस्यौदनपर्यायस्य तन्दुलोपादानकारणवत्, अथ कुम्भकारचक्रचीवरादिबहिरङ्ग-निमित्तोत्पन्नस्य मृन्मयघटपर्यायस्य मृत्पिण्डोपादानकारणवत्, अथवा नरनारकादिपर्यायस्य जीवोपादान-कारणवदिति। तदपि कस्मादुपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात्। अथ मतं समयादिकाल-पर्यायाणां कालद्रव्यमुपादानकारणं न भवति; किन्तु समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुस्तथा निमेषकालोत्पत्तौ

क्रिया से तथा दूर या समीप देश में चलन रूप कालकृत परत्व तथा अपरत्व से यह काल जाना जाता है, इसीलिए वह व्यवहारकाल परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व लक्षण वाला कहा जाता है। अब द्रव्य रूप निश्चयकाल का कथन करते हैं—अपने-अपने उपादान रूप कारण से स्वयं परिणमन करते हुए पदार्थों को, जैसे कुम्भकार के चाक के भ्रमण में उसके नीचे की कीली सहकारिणी है, अथवा शीतकाल में छात्रों को पढ़ने के लिए अग्नि सहकारी है, उसी प्रकार जो पदार्थों के परिणमन में सहकारिता है, उसको वर्तना कहते हैं। वह वर्तना ही है लक्षण जिसका, वह वर्तना लक्षण वाला कालाणु द्रव्य रूप निश्चयकाल है। इस तरह व्यवहारकाल तथा निश्चयकाल का स्वरूप जानना चाहिए।

७०. यहाँ कोई कहता है कि समय रूप ही निश्चयकाल है; उस समय से भिन्न अन्य कोई कालाणु द्रव्य रूप निश्चयकाल नहीं है; क्योंकि वह देखने में नहीं आता। इसका उत्तर देते हैं कि समय तो काल की ही पर्याय है। यदि यह पूछो कि समयकाल की पर्याय कैसे है? तो उत्तर यह है, पर्याय का लक्षण उत्पन्न व नाश होना है। 'समय' भी उत्पन्न व नष्ट होता है, इसलिए पर्याय है। पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती; उस समयरूप पर्याय काल का (व्यवहारकाल का) उपादानकारणभूत द्रव्य भी कालरूप ही होना चाहिए क्योंकि जैसे ईंधन, अग्नि आदि सहकारी कारण से उत्पन्न भात (पके चावल) का उपादान कारण चावल ही होता है; अथवा कुम्भकार, चाक, चीवर आदि बहिरंग निमित्त कारणों से उत्पन्न जो मिट्टी की घट पर्याय है उसका उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड ही है; अथवा नर, नारक आदि जो जीव की पर्याय हैं उनका उपादान कारण जीव है; इसी तरह समय, घड़ी आदि काल का भी उपादानकारण काल ही होना चाहिए। यह नियम भी इसलिए है कि अपने उपादानकारण के समान ही कार्य होता है, ऐसा वचन है। कदाचित् ऐसा कहो कि समय, घड़ी आदि काल पर्यायों का उपादान कारण काल द्रव्य नहीं है किन्तु समय रूप कालपर्याय की उत्पत्ति में मंदगति से परिणत पुद्गल

नयनपुटविघटनं, तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारो दिवसपर्याये तु दिनकरबिम्बमुपादानकारणमिति। नैवम्। यथा तन्दुलोपादानकारणोत्पन्नस्य सदोदन-पर्यायस्य शुक्लकृष्णादिवर्णा, सुरभ्यसुरभिगन्धस्निग्धरूक्षादिस्पर्शमधुरादिरस-विशेषरूपा गुणा दृश्यन्ते। तथा पुद्गलपरमाणुनयनपुटविघटनजलभाजनपुरुषव्यापारादिदिनकरबिम्बरूपैः पुद्गलपर्यायैरुपादानभूतैः समुत्पन्नानां समयनिमिषघटिकादिकालपर्यायाणामपि शुक्लकृष्णादिगुणाः प्राप्नुवन्ति न च तथा। उपादान-कारणसदृशं कार्यमिति वचनात्।

७१. किं बहुना। योऽसावनाद्यनिधनस्तथैवामूर्तो नित्यः समयाद्युपादानकारणभूतोऽपि समयादि-विकल्परहितः कालाणुद्रव्यरूपः स निश्चयकालो, यस्तु सादिसान्तसमयघटिकाप्रहरादिविवक्षितव्यवहार-विकल्परूपस्तस्यैव द्रव्यकालस्य पर्यायभूतो व्यवहारकाल इति। अयमत्र भावः—यद्यपि काललब्धि-वशेनानन्तसुखभाजनो भवति जीवस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानसमस्तबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणरूपा या निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं ज्ञातव्यं न च कालस्तेन स हेय इति ॥२१॥

परमाणु उपादान कारण है; तथा निमेषरूप कालपर्याय की उत्पत्ति में नेत्रों के पुटों का विघटन अर्थात् पलक का गिरना उठना उपादान कारण है; ऐसे ही घड़ी रूप कालपर्याय की उत्पत्ति में घड़ी की सामग्रीरूप जल का कटोरा और पुरुष के हाथ आदि का व्यापार उपादान कारण है; दिन रूप कालपर्याय की उत्पत्ति में सूर्य का बिम्ब उपादान कारण है। ऐसा नहीं है, जिस तरह चावलरूप उपादान कारण से उत्पन्न भात पर्याय के उपादान कारण में प्राप्त गुणों के समान ही सफेद, काला आदि वर्ण; अच्छी या बुरी गन्ध; चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श; मीठा आदि रस; इत्यादि विशेष गुण दिखाई पड़ते हैं; वैसे ही पुद्गल परमाणु, नेत्र-पलक विघटन, जलकटोरा, पुरुषव्यापार आदि तथा सूर्य का बिम्ब इन रूप जो उपादानभूत पुद्गलपर्याय हैं, उनसे उत्पन्न हुए समय, निमिष, घड़ी, दिन आदि जो कालपर्याय हैं उनके भी काला आदि गुण मिलने चाहिए; परन्तु समय, घड़ी आदि में ये गुण नहीं दिखाई पड़ते, क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है, ऐसा वचन है।

७१. बहुत कहने से क्या लाभ! जो आदि तथा अन्त से रहित अमूर्त है, नित्य है, समय आदि का उपादान कारणभूत है तो भी समय आदि भेदों से रहित है और कालाणु द्रव्यरूप है, वह निश्चयकाल है और जो आदि तथा अन्त से सहित है; समय, घड़ी, पहर आदि व्यवहार के विकल्पों से युक्त है, वह उसी द्रव्यकाल का पर्याय रूप व्यवहारकाल है। सारांश यह है कि यद्यपि यह जीव काललब्धि के वश से अनन्त सुख का भाजन होता है, तो भी विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव का धारक जो निज परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरण और सम्पूर्ण बाह्य द्रव्यों की इच्छा को दूर करने रूप लक्षण वाला तपश्चरणरूप जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपरूप चार प्रकार की निश्चय आराधना है, वह आराधना ही उस जीव के अनन्त सुख की प्राप्ति में उपादान कारण जाननी चाहिए; उसमें काल उपादान कारण नहीं है, इसलिए वह कालद्रव्य हेय है ॥२१॥

७२. अथ निश्चयकालस्यावस्थानक्षेत्रं द्रव्यगणनां च प्रतिपादयति–

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि॥२२॥

इक-इक इस आकाश देश में इक-इक कर ही काल रहा।
रत्नों की वह राशि यथा हो फलतः अणु-अणु काल कहा॥
परिगणनायें ये सब मिलकर अनन्त ना पर अनगिन हैं।
स्वभाव से तो निष्क्रिय इनको कौन देखते बिन जिन हैं॥२२॥

७३. वृत्ति–लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का लोकाकाशप्रदेशेष्वेकैकेषु ये स्थिता एकैकसंख्योपेता **हु** स्फुटं। क इव ? **रयणाणं रासी इव** परस्परतादात्म्यपरिहारेण रत्नानां राशिरिव। **ते कालाणू** ते कालाणवः। कति संख्योपेताः? **असंखदव्वाणि** लोकाकाशप्रमितासंख्येयद्रव्याणीति।

७४. तथाहि–यथाङ्गुलिद्रव्यस्य यस्मिन्नेव क्षणे वक्रपर्यायोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव क्षणे पूर्वप्राञ्जलपर्याय-विनाशोऽङ्गुलिरूपेण ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः। यथैव च केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपेण कार्यसमयसारस्योत्पादो निर्विकल्पसमाधिरूपकारणसमयसारस्य विनाशस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति वा द्रव्यसिद्धिः। तथा कालाणोरपि मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुना व्यक्तिकृतस्य कालाणूपादानकारणोत्पन्नस्य य एव

---

७२. अब निश्चयकाल के रहने का क्षेत्र तथा काल-द्रव्य की संख्या का प्रतिपादन करते हैं–

अन्वयार्थ–(इक्किक्के लोयायासपदेसे) एक-एक लोकाकाश के प्रदेशों पर **(रयणाणं रासी इव)** रत्नों की राशि के समान **(इक्किक्का)** एक-एक **(कालाणू)** कालद्रव्यरूप अणु **(ठिया)** स्थित है **(ते)** वे कालाणु **(हु)** निश्चय से **(असंख-दव्वाणि)** असंख्यात द्रव्यरूप हैं।

गाथार्थ–जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों के ढेर के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं, वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं॥२२॥

७३. वृत्त्यर्थ–लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का एक-एक लोकाकाश के प्रदेश पर जो एक-एक संख्यायुक्त स्पष्ट रूप से स्थित हैं। किसके समान हैं? **रयणाणं रासी इव** परस्पर में तादात्म्य संबन्ध के अभाव के कारण रत्नों की राशि के समान भिन्न-भिन्न स्थित हैं। **ते कालाणू** वे कालाणु हैं। कितनी संख्या के धारक हैं? **असंखदव्वाणि** लोकाकाश कई प्रदेशों की संख्या के बराबर असंख्यात द्रव्य हैं।

७४. **विशेष–**जैसे जिस क्षण में अंगुली रूप द्रव्य के टेढ़ी रूप पर्याय की उत्पत्ति होती है उसी क्षण में उसके सीधे आकार रूप पर्याय का नाश होता है और अंगुली रूप से वह अंगुली दोनों दशाओं में ध्रौव्य है। इस तरह उत्पत्ति, नाश तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों से युक्त द्रव्य के स्वरूप की सिद्धि है। तथा जैसे केवलज्ञान आदि की प्रकटता रूप कार्य समयसार का (परम-आत्मा का) उत्पाद होता

वर्त्तमानसमयस्योत्पादः स एवातीतसमयापेक्षया विनाशस्तदुभयाधारकालाणुद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमित्युत्पाद-व्ययध्रौव्यात्मकालद्रव्यसिद्धिः।

७५. लोकबहिर्भागे कालाणुद्रव्याभावात्कथमाकाशद्रव्यस्य परिणतिरिति चेत्; अखण्डद्रव्यत्वादेक-देशदण्डाहतकुम्भकारचक्रभ्रमणवत्, तथैवैकदेशमनोहरस्पर्शनेन्द्रियविषयानुभवसर्वाङ्गसुखवत् लोकमध्य-

---

है उसी समय निर्विकल्प ध्यानरूप जो कारण समयसार है, उसका नाश होता है[1] और उन दोनों का आधारभूत जो परमात्म द्रव्य है उस रूप से ध्रौव्य है; इस तरह से भी द्रव्य की सिद्धि है। उसी तरह कालाणु के भी, जो मन्दगति में परिणत पुद्गल परमाणु द्वारा प्रकट किये हुए और कालाणुरूप उपादान कारण से उत्पन्न हुए जो यह वर्तमान समय का उत्पाद है; वही बीते हुए समय की अपेक्षा विनाश है और उन वर्तमान तथा अतीत दोनों समय का आधारभूत कालद्रव्यत्व से ध्रौव्य है। इस तरह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप काल द्रव्य की सिद्धि है।[2]

७५. **शंका**—''लोक के बाहरी भाग में कालाणु द्रव्य के अभाव से अलोकाकाश में परिणमन कैसे हो सकता है?'' इस शंका का उत्तर यह है—आकाश अखण्ड द्रव्य है इसलिए जैसे चाक के एक कोने में डंडे की प्रेरणा से कुम्हार का सारा चाक घूमने लगता है; अथवा जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के विषय

---

१. यहाँ कारण समयसार का कथन आया है। यह पर्यायरूप कारण समयसार है। इसी तरह गाथा १३, २४ व ३७ की टीका में भी पर्यायरूप कारण समयसार का कथन है। यह कारण समयसार निश्चित ही नाशवान् होता है तथा इसी कारण ध्येयरूप नहीं होता। ध्येयरूप तो द्रव्यरूप कारणसमयसार होता है। जो अविनाशी आत्मस्वभावरूप होता है। कारण समयसार या कारण परमात्मा दोनों एक ही बात है। इसी तरह कार्यसमयसार या कार्य-परमात्मा ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। इस द्रव्यरूप कारण समयसार को सनातन स्वभावी कारण समयसार सहज कारणसमयसार या निश्चय कारण समयसार या उपासना का विषयभूत शुद्ध (त्रैकालिक) अन्तस्तत्त्व या सहज परमात्मतत्त्व भी कह सकते हैं। पर्यायरूप कारण समयसार और कार्य समयसार ये दो अभव्य के नहीं होते, पर द्रव्यरूप कारण समयसार अभव्य के भी होता है।

ज्ञानदर्शनसामान्यात्मक स्वभाव ही कारणपरमात्मा (द्रव्यरूप कारण परमात्मा) या कारण समयसार कहलाता है। और पूर्ण विकास का नाम है कार्य परमात्मा या कार्य समयसार यानि केवलज्ञानादि की व्यक्ति कार्यसमयसार है और इस व्यक्ति का जो स्रोत है सहजज्ञानस्वभाव; उसका परिचय हो जाना ही पर्यायरूप कारण समयसार है। पर्यायरूप कारण समयसार के अनेक उदाहरण बृहद्द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, पृ० १८२ से १८७ (संपादन पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री) पर देखिए।

२. उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य; ये तीनों प्रत्येक द्रव्य में एक साथ (युगपत) ही होते हैं। इसके लिए उदाहरण दिया जाता है—एक पुरुष को स्वर्ण के घट की जरूरत थी, दूसरे को कपालों (घट के टुकडों) की आवश्यकता थी और तीसरे को स्वर्ण सामान्य की आवश्यकता थी। तीनों एक सेठ के यहाँ पहुँचे। सेठ के यहाँ एक स्वर्ण का घट (घड़ा) रखा हुआ था किन्तु जिस समय वे तीनों ही व्यक्ति वहाँ पहुँचे उसी समय वह घड़ा ऊपर से नीचे गिरकर फूट गया। घड़े के फूटते ही तीनों व्यक्तियों को एक साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम हुए। घटेच्छुक को शोक, कपाल (टुकड़े) चाहने वाले को हर्ष और सामान्य स्वर्ण चाहने वाले को मध्यस्थ भाव। इससे सिद्ध होता है कि तीनों के इन समकालभावी, विभिन्न तीन परिणामों की कारणभूत तीन क्रियायें (उत्पादादि तीन) भी साथ में ही (एक काल में ही) हुई हैं, अन्यथा त्रिविध परिणाम का सहभाव घटित नहीं हो सकता। वे क्रियाएँ हैं—घटनाश, कपालोत्पत्ति तथा घटत्व सामान्यरूप ध्रुवता। अतः स्पष्ट है कि उत्पाद, नाश व ध्रुवता ये तीनों एक साथ होते हैं। [पंचाध्यायी सुबोधिनी, टीका, पृ० ८० टिप्पण, आप्तमीमांसा ५९, जयधवला १/२३०, अष्टसहस्त्री एवं षड्दर्शनसमुच्चय ५७/३५८/३५०]

स्थितकालाणुद्रव्यधारणैकदेशेनापि सर्वत्र परिणमनं भवतीति कालद्रव्यं शेषद्रव्याणां परिणतेः सहकारि-कारणं भवति।

७६. कालद्रव्यस्य किं सहकारिकारणमिति। यथाकाशद्रव्याणामाधारः स्वस्यापि, तथा कालद्रव्य-मपि परेषां परिणतिसहकारिकारणं स्वस्यापि।

७७. अथ मतं यथा कालद्रव्यं स्वस्योपादानकारणं परिणतेः सहकारिकारणं च भवति तथा सर्वद्रव्याणि, कालद्रव्येण किं प्रयोजनमिति। नैवम्। यदि पृथग्भूतसहकारिकारणेन प्रयोजनं नास्ति तर्हि सर्वद्रव्याणां साधारणगतिस्थित्यवगाहनविषये धर्माधर्माकाशद्रव्यैरपि सहकारिकारणभूतैः प्रयोजनं नास्ति।

७८. किञ्च, कालस्य घटिकादिवसादिकार्यं प्रत्यक्षेण दृश्यते धर्मादीनां पुनरागमकथनमेव प्रत्यक्षेण किमपि कार्यं न दृश्यते। ततस्तेषामपि कालद्रव्यस्येवाभावः प्राप्नोति। ततश्च जीवपुद्गलद्रव्यद्वयमेव। स चागमविरोधः। किञ्च सर्वद्रव्याणां परिणतिसहकारित्वं कालस्यैव गुणः, घ्राणेन्द्रियस्य रसास्वादनमिवान्य-द्रव्यस्य गुणोऽन्यद्रव्यस्य कर्त्तुं नायाति द्रव्यसंकरदोषप्रसंगादिति।

का प्रिय अनुभव एक अंग में करने से समस्त शरीर में सुख का अनुभव होता है; उसी प्रकार लोकाकाश में स्थित जो कालाणु द्रव्य है वह आकाश के एक देश में स्थित है तो भी सर्व अखण्ड आकाश में परिणमन होता है; इसी प्रकार काल द्रव्य शेष सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है।

७६. **शंका—**जैसे काल द्रव्य, जीव पुद्गल आदि द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है वैसे ही काल द्रव्य के परिणमन में सहकारी कारण कौन है? **उत्तर—**जिस तरह आकाश द्रव्य शेष सब द्रव्यों का आधार है और अपना आधार भी आप ही है; इसी तरह काल द्रव्य भी अन्य सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है और अपने परिणमन में भी सहकारी कारण है।

७७. **शंका—**जैसे कालद्रव्य अपना उपादान कारण है और अपने परिणमन का सहकारी कारण है; वैसे ही जीव आदि सब द्रव्य भी अपने उपादान कारण और अपने-अपने परिणमन के सहकारी कारण रहें। उन द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य से क्या प्रयोजन है? **समाधान—**ऐसा नहीं है क्योंकि यदि अपने से भिन्न बहिरंग सहकारी कारण की आवश्यकता न हो तो सब द्रव्यों के साधारण गति, स्थिति, अवगाहन के लिए सहकारी कारणभूत जो धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य हैं, उनकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

७८. और भी, काल का कार्य तो केवल घड़ी, दिन आदि प्रत्यक्ष से दिखाई पड़ता है; किन्तु धर्म द्रव्य आदि का कार्य तो केवल आगम (शास्त्र) के कथन से ही माना जाता है; उनका कोई कार्य प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। इसलिए जैसे कालद्रव्य का अभाव मानते हो उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्यों का भी अभाव प्राप्त होता है और तब जीव तथा पुद्गल ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे। केवल दो ही द्रव्यों के मानने पर आगम से विरोध आता है। सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी होना, यह केवल कालद्रव्य का ही गुण है। जैसे नाक से रस का आस्वाद नहीं हो सकता; ऐसे ही अन्य द्रव्य का गुण भी अन्य-द्रव्य के द्वारा नहीं किया जाता, क्योंकि ऐसा मानने से द्रव्यसंकर दोष का प्रसंग आवेगा (अन्य द्रव्य का लक्षण अन्य-द्रव्य में चला जायेगा)।

७९.कश्चिदाह—यावत्कालेनैकाकाशप्रदेशं परमाणुरतिक्रामति ततस्तावत्कालेन समयो भवतीत्युक्तमागमे एकसमयेन चतुर्दशरज्जुगमने यावंत आकाशप्रदेशास्तावन्तः समया प्राप्नुवन्ति। परिहारमाह-एकाकाशप्रदेशातिक्रमेण यत्समयव्याख्यानं कृतं तन्मन्दगत्यपेक्षया, यत्पुनरेकसमये चतुर्दशरज्जुगमनव्याख्यानं तत्पुनः शीघ्रगत्यपेक्षया। तेन कारणेन चतुर्दशरज्जुगमनेऽप्येकसमयः। तत्र दृष्टान्तः—कोऽपि देवदत्तो योजनशतं मन्दगत्या दिनशतेन गच्छति। स एव विद्याप्रभावेण शीघ्रगत्या दिनेनैकेनापि गच्छति तत्र किं दिनशतं भवति। किन्त्वेक एव दिवसः। तथा चतुर्दशरज्जुगमनेऽपि शीघ्रगमनेनैक एव समयः। किञ्च स्वयं विषयानुभवरहितोऽप्ययं जीवः परकीयविषयानुभवं दृष्टं श्रुतं च मनसि स्मृत्वा यद्विषयाभिलाषं करोति तदपध्यानं भण्यते तत्प्रभृतिसमस्तविकल्पजालरहितं स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादसहितं यत्तद्वीतरागचारित्रं भवति। यत्पुनस्तदविनाभूतं तन्निश्चयसम्यक्त्वं चेति भण्यते। तदेव कालत्रयेऽपि मुक्तिकारणम्। कालस्तु तदभावे सहकारिकारणमपि न भवति ततः स हेय इति। तथा चोक्तं—

''किं पल्लविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिद्धिहं हि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं॥''

---

७९. अब कोई कहता है—जितने काल में ''आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है—उतने काल का नाम समय है''; ऐसा शास्त्र में कहा है तो एक समय में परमाणु के चौदह रज्जु गमन करने पर, जितने आकाश के प्रदेश हैं उतने ही समय होने चाहिए? शंका का निराकरण करते हैं—आगम में जो परमाणु का एक समय में एक आकाश के प्रदेश से साथ वाले दूसरे प्रदेश पर गमन करना कहा है; सो तो मन्दगति की अपेक्षा से है तथा परमाणु का एक समय में जो चौदह रज्जु का गमन कहा है वह शीघ्र गमन की अपेक्षा से है। इसलिए शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक ही समय लगता है। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे जो देवदत्त धीमी चाल से सौ योजन सौ दिन में जाता है, वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्र गति के द्वारा सौ योजन एक दिन में भी जाता है, तो क्या उस देवदत्त को शीघ्रगति से सौ योजन गमन करने में सौ दिन हो गये? किन्तु एक ही दिन लगेगा। इसी तरह शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक ही समय लगता है तथा स्वयं विषयों के अनुभव से रहित भी यह जीव अन्य के द्वारा अनुभव किये हुए, देखे हुए, सुने हुए विषय को मन में स्मरण करके विषयों की इच्छा करता है उसको अपध्यान कहते हैं। उस विषय-अभिलाषा आदि समस्त विकल्पों से रहित और आत्म-अनुभव से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्दरूप सुख के रस आस्वाद सहित वीतराग चारित्र होता है और जो उस वीतराग चारित्र से अविनाभूत है वह निश्चय सम्यक्त्व तथा वीतराग सम्यक्त्व है। वह निश्चय सम्यक्त्व ही तीनों कालों में मुक्ति का कारण है। काल तो उस निश्चय सम्यक्त्व के अभाव में वीतराग चारित्र का सहकारी कारण भी नहीं होता; इस कारण कालद्रव्य हेय है। ऐसा कहा भी है—

बहुत कहने से क्या; जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं व होंगे; वह सब सम्यक्त्व का

इदमत्र तात्पर्यं—कालद्रव्यमन्यद्वा परमागमाविरोधेन विचारणीयं परं किन्तु वीतरागसर्वज्ञवचनं प्रमाणमिति मनसि निश्चित्य विवादो न कर्त्तव्यः। कस्मादिति चेत्—विवादे रागद्वेषौ भवतस्ततश्च संसारवृद्धिरिति॥२२॥

८०. एवं कालद्रव्यव्याख्यानमुख्यतया पंचमस्थले सूत्रद्वयम् गतम्। इत्यष्टगाथासमुदायेन पञ्चभिः स्थलैरजीवद्रव्यव्याख्यानेन द्वितीयान्तराधिकारः समाप्तः।

८१. अतः परं सूत्रपञ्चकपर्यन्तं पञ्चास्तिकायव्याख्यानं करोति। तत्रादौ गाथापूर्वार्द्धेन षड्द्रव्यव्याख्यानोपसंहार उत्तरार्धेन तु पञ्चास्तिकायव्याख्यानप्रारंभः कथ्यते—

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु॥२३॥

जीव - भेद से अजीव पन से द्रव्य मूल में द्विविध रहा।
धर्मादिक वश षड् विध हो फिर उपभेदों से विविध रहा ॥
किन्तु काल तो अस्तिकाय पन से वर्जित ही माना है।
शेष द्रव्य हैं, अस्तिकाय यूँ 'ज्ञानोदय' का गाना है ॥२३॥

माहात्म्य है। यहाँ तात्पर्य यह है कि कालद्रव्य तथा अन्य द्रव्यों के विषय में परम-आगम के अविरोध से ही विचारना चाहिए; ''वीतराग सर्वज्ञ का वचन प्रमाण है'' ऐसा मन में निश्चय करके उनके कथन में विवाद नहीं करना चाहिए क्योंकि विवाद में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और उन राग-द्वेषों से संसार की वृद्धि होती है ॥२२॥

८०. इस प्रकार कालद्रव्य के व्याख्यान की मुख्यता से पाँचवें स्थल में दो गाथाएँ हुईं। इस प्रकार आठ गाथाओं के समुदाय रूप पाँचवें स्थल से पुद्गलादि पाँच प्रकार के अजीव द्रव्य के कथन द्वारा दूसरा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ।

८१. अब इसके पश्चात् पाँच गाथाओं में पंचास्तिकाय का व्याख्यान करते हैं और उनमें भी प्रथम गाथा के पूर्वार्ध में छहों द्रव्यों के व्याख्यान का उपसंहार और उत्तरार्ध से पंचास्तिकाय के व्याख्यान का आरम्भ करते हैं—

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार **(जीवाजीवप्पभेददो)** जीव और अजीव के भेद से **(इदं दव्वं)** यह द्रव्य **(छब्भेयं उत्तं)** छह भेद वाला कहा गया **(दु)** परन्तु **(कालविजुत्तं)** कालद्रव्य को छोड़कर **(पंच अत्थिकाया णादव्वा)** शेष पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय जानना चाहिए।

गाथार्थ—इस प्रकार जीव और अजीव के प्रभेद से ये द्रव्य छह प्रकार के हैं। कालद्रव्य के बिना शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय जानने चाहिए ॥२३॥

८२. वृत्ति—एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं उत्तं एवं पूर्वोक्तप्रकारेण षड्भेदमिदं जीवाजीवप्रभेदतः सकाशाद्द्रव्यमुक्तं कथितं प्रतिपादितम्। **कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु** तदेव षड्विधं द्रव्यं कालेन वियुक्तं रहितं ज्ञातव्याः पञ्चास्तिकायास्तु पुनरिति ॥२३॥

८३. पञ्चेति संख्या ज्ञाता तावदिदानीमस्तित्वं कायत्वं च निरूपयति—

संति जदो तेणेदे अत्थीत्ति[1] भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥२४॥

चिर से हैं ये सारे चिर तक इनका होना नाश नहीं।
इन्हें इसी से 'अस्ति' कहा है जिन ने जिनमें त्रास नहीं ॥
काया के सम बहु-प्रदेश जो धारे उनको 'काय' कहा।
तभी अस्ति औ काय मेल से 'अस्तिकाय' कहलाय यहाँ ॥२४॥

८४. वृत्ति—संति जदो तेणेदे अत्थीत्ति[2] भणंति जिणवरा सन्ति विद्यन्ते यत एते

---

८२. वृत्त्यर्थ—एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं उत्तं उस पूर्वोक्त प्रकार से जीव तथा अजीव के प्रभेद से ये द्रव्य छह प्रकार के कहे गये हैं। **कालविजुत्तं णादव्वा पंचअत्थिकाया दु** वे ही छह प्रकार के द्रव्य कालरहित अर्थात् काल के बिना (शेष पाँच द्रव्यों को) पाँच अस्तिकाय समझने चाहिए।

८३. अस्तिकाय की पाँच संख्या तो जान ली है, अब उनके अस्तित्व और कायत्व का निरूपण करते हैं—

अन्वयार्थ—(जदो एदे संति) क्योंकि ये पूर्वोक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश पाँच द्रव्य हैं **(तेण)** इसलिए **(अत्थि)** अस्तित्ववान/विद्यमान हैं **(त्ति)** ऐसा **(जिणवरा)** जिनेश्वरदेव **(भणंति)** कहते हैं **(य)** और **(जम्हा काया इव)** क्योंकि ये काय/शरीर के समान **(बहुदेसा)** बहुप्रदेशी हैं **(तम्हा काया)** इसलिए ये काय हैं **(य)** और अस्ति तथा काय दोनों को मिलाने से **(अत्थिकाया)** पाँचों द्रव्य अस्तिकाय होते हैं।

गाथार्थ—चूँकि विद्यमान है इसलिए जिनेश्वर ने इनको अस्ति कहा है और ये शरीर के समान बहुप्रदेशी हैं इसलिए इनको काय कहा है। अस्ति तथा काय दोनों को मिलाने से 'अस्तिकाय' होते हैं ॥२४॥

८४. वृत्त्यर्थ—संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जीव से आकाश तक पाँच द्रव्य

---

१. प्राकृत व्याकरण के अनुसार अत्थीत्ति के स्थान पर अत्थि त्ति यह पाठ उचित है क्योंकि प्राकृत में संयुक्त वर्ण से पूर्व वर्ण ह्रस्व होता है। वृत्त्यर्थ में यही पाठ उपलब्ध भी होता है।

२. अत्थि त्ति

जीवाद्याकाशपर्यन्ताः पञ्च तेन कारणेनैतेऽस्तीति भणन्ति जिणवराः सर्वज्ञाः। **जम्हा काया इव बहुदेसा तम्हा काया य** यस्मात्काया इव बहुप्रदेशास्तस्मात्कारणात्कायाश्च भणन्ति जिनवराः। **अत्थिकाया य** एवं न केवलं पूर्वोक्तप्रकारेणास्तित्वेन युक्ता अस्तिसंज्ञास्तथैव कायत्वेन युक्ताः कायसंज्ञा भवन्ति किन्तूभयमेलापकेनास्तिकायसंज्ञाश्च भवन्ति॥

८५. इदानीं संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽप्यस्तित्वेन सहाभेदं दर्शयति। तथाहि—शुद्धजीवास्तिकाये सिद्धत्वलक्षणः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः, केवलज्ञानादयो विशेषगुणाः अस्तित्ववस्तुत्वागुरुलघुत्वादयः सामान्यगुणाश्च। तथैवाव्याबाधानन्तसुखाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादो रागादिविभाव-रहितपरमस्वास्थ्यरूपस्य कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमित्युक्त-लक्षणैर्गुणपर्यायैरुत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह मुक्तावस्थायां संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सत्तारूपेण प्रदेशरूपेण च भेदो नास्ति। कस्मादिति चेत्—मुक्तात्मसत्तायां गुणपर्यायाणामुत्पादव्ययध्रौव्याणां चास्तित्वं सिद्ध्यति, गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यसत्तायाश्च मुक्तात्मास्तित्वं सिद्ध्यतीति परस्परसाधितसिद्धत्वादिति। कायत्वं कथ्यते—बहुप्रदेशप्रचयं दृष्ट्वा यथा शरीरं कायो भण्यते तथानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतानां

विद्यमान हैं इसलिए सर्वज्ञदेव इनको अस्ति कहते हैं। **जम्हा काया इव बहुदेसा तम्हा काया य** और क्योंकि काय अर्थात् शरीर के समान ये बहुत प्रदेशों के धारक हैं; इस कारण जिनेश्वरदेव इनको काय कहते हैं। **अत्थिकाया य** इस प्रकार अस्तित्व से युक्त ये पाँचों द्रव्य केवल 'अस्ति' ही नहीं हैं और कायत्व से युक्त होने से केवल काय भी नहीं हैं; किन्तु अस्ति और काय इन दोनों को मिलाने से अस्तिकाय संज्ञा के धारक हैं।

८५. अब इन पाँचों के संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि से यद्यपि परस्पर भेद है तथापि अस्तित्व के साथ अभेद है, यह दर्शाते हैं—

जैसे शुद्ध जीवास्तिकाय में सिद्धत्व रूप शुद्ध द्रव्य-व्यंजन-पर्याय है; केवलज्ञान आदि विशेष गुण हैं तथा अस्तित्व, वस्तुत्व और अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं तथा मुक्ति दशा में अव्याबाध अनन्तसुख आदि अनन्तगुणों की प्रकटता रूप कार्य समयसार का उत्पाद, रागादि विभाव रहित परम स्वास्थ्य रूप कारण समयसार का व्यय (नाश) और इन दोनों के आधारभूत परमात्मा रूप द्रव्यपने से ध्रौव्य है। इस प्रकार पहले कहे लक्षण सहित गुण तथा पर्यायों से और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य के साथ मुक्त अवस्था में संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी सत्ता रूप से और प्रदेश रूप से भेद नहीं है क्योंकि मुक्त जीवों की सत्ता होने पर गुण तथा पर्यायों की और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की सत्ता सिद्ध होती है एवं गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य की सत्ता से मुक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस तरह गुण, पर्याय आदि से मुक्त आत्मा की और मुक्त-आत्मा से गुण पर्याय की परस्पर सत्ता सिद्ध होती है। अब इनके कायपना कहते हैं—बहुत से प्रदेशों के समूह को देखकर जैसे शरीर को काय कहते हैं (जैसे शरीर में अधिक प्रदेश होने के कारण शरीर को काय कहते हैं) उसी प्रकार

लोकाकाशप्रमितासंख्येयशुद्धप्रदेशानां प्रचयं समूहं संघातं मेलापकं दृष्ट्वा मुक्तात्मनि कायत्वं भण्यते। यथा शुद्धगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह मुक्तात्मनः सत्तारूपेण निश्चयेनाभेदो दर्शितस्तथा यथासंभवं संसारिजीवेषु पुद्गलधर्माधर्माकाशकालेषु च द्रष्टव्यः। कालद्रव्यं विहाय कायत्वं चेति सूत्रार्थः॥२४॥

८६. अथ कायत्वव्याख्याने पूर्वं यत्प्रदेशास्तित्वं सूचितं तस्य विशेषव्याख्यानं करोतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु कस्य द्रव्यस्य कियन्तः प्रदेशा भवन्तीति प्रतिपादयति—

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥२५॥

एक जीव में नियम रूप से असंख्यात परदेश रहे।
धर्म-द्रव्य औ अधर्म भी वह उतने ही परदेश गहे॥
अनन्त नभ में पर पुद्गल में संख्यासंख्यानंत रहे।
एक 'काल' में तभी काल ना काय रहा अरहंत कहें॥२५॥

८७. वृत्ति—होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे भवन्ति लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशाः प्रदीपवदुप-

---

अनन्तज्ञान आदि गुणों के आधारभूत जो लोकाकाश के बराबर असंख्यात शुद्ध प्रदेशों के समूह, संघात अथवा मेल को देखकर मुक्त जीव में भी कायत्व कहा जाता है। जैसे शुद्ध गुण, पर्यायों तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित मुक्तात्मा के निश्चयनय की अपेक्षा सत्ता रूप से अभेद बताया गया है, वैसे ही संसारी जीवों में तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों में भी यथासंभव परस्पर अभेद देख लेना चाहिए। कालद्रव्य को छोड़कर अन्य सब द्रव्यों के कायत्व रूप से भी अभेद है। यह गाथा का अभिप्राय है ॥२४॥

८६. अब कायत्व के व्याख्यान में जो पहले प्रदेशों का अस्तित्व सूचित किया है उसका विशेष व्याख्यान करते हैं—यह तो अगली गाथा की एक भूमिका है; और किस द्रव्य के कितने प्रदेश होते हैं, दूसरी भूमिका यह प्रतिपादन करती है—

अन्वयार्थ—(जीवे धम्माधम्मे) एक जीवद्रव्य में, धर्म व अधर्मद्रव्य में **(असंखा)** असंख्यात प्रदेश हैं **(आयासे)** आकाशद्रव्य में **(अणंत)** अनन्त प्रदेश हैं **(मुत्ते)** मूर्त पुद्गलद्रव्य में **(तिविह पदेसा)** संख्यात, असंख्यात और अनन्त ये तीनों प्रदेश **(होंति)** होते हैं **(कालस्स एगो)** कालद्रव्य का एक ही प्रदेश है **(तेण)** इस कारण से **(सो काओ ण)** वह कायवान्/बहुप्रदेशी नहीं है।

गाथार्थ—जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनन्त प्रदेश हैं। पुद्गल संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त प्रदेशी तीनों प्रकार वाले हैं। काल के एक ही प्रदेश है इसलिए काल 'काय' नहीं है ॥२५॥

८७. वृत्त्यर्थ—होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे दीपक के समान संकोच तथा विस्तार से युक्त

संहारविस्तारयुक्तेऽप्येकजीवे, नित्यं स्वभावविस्तीर्णयोर्धर्माधर्मयोरपि। **अणंत आयासे** अनन्तप्रदेशा आकाशे भवन्ति। **मुत्ते तिविह पदेसा** मूर्ते पुद्‌गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानन्ताणूनां पिण्डाः स्कन्धास्त एव त्रिविधाः प्रदेशा भण्यन्ते न च क्षेत्रप्रदेशाः। कस्मात्? पुद्‌गलस्यानन्तप्रदेशक्षेत्रेऽवस्थानाभावादिति **कालस्सेगो** कालाणुद्रव्यस्यैक एव प्रदेशः। **ण तेण सो काओ** तेन कारणेन स कायो न भवति। कालस्यैकप्रदेशत्वविषये युक्तिं प्रदर्शयति। तद्यथा–किञ्चिदूनचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्व-पर्यायस्योपादानकारणभूतं शुद्धात्मद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव। यथा वा मनुष्यदेवादिपर्यायोपादानकारणभूतं संसारिजीवद्रव्यं तत्पर्यायप्रमाणमेव, तथा कालद्रव्यमपि समयरूपस्य कालपर्यायस्य विभागेनोपादान-कारणभूतमविभाग्येक प्रदेश एव भवति। अथवा मन्दगत्या गच्छतः पुद्‌गलपरमाणोरेकाकाश-प्रदेशपर्यन्त-मेव कालद्रव्यं गतेः सहकारिकारणं भवति ततो ज्ञायते तदप्येक प्रदेशमेव।

८८. कश्चिदाह–पुद्‌गलपरमाणोर्गतिसहकारिकारणं धर्मद्रव्यं तिष्ठति, कालस्य किमायातम्। नैव वक्तव्यं,धर्मद्रव्ये गतिसहकारिकारणे विद्यमानेऽपि मत्स्यानां जलवन्मनुष्याणां शकटारोहणादि-

---

एक जीव में भी और सदा स्वभाव से फैले हुए धर्म, अधर्म द्रव्यों में भी लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेश होते हैं। **अणंत आयासे** आकाश में अनन्त प्रदेश होते हैं। **मुत्ते तिविह पदेसा** मूर्त—पुद्‌गल द्रव्य में जो संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओं के पिण्ड अर्थात् स्कन्ध हैं, वे ही तीन प्रकार के प्रदेश कहे जाते हैं; न कि क्षेत्र-प्रदेश तीन प्रकार के हैं क्योंकि पुद्‌गल अनन्त प्रदेश वाले क्षेत्र में नहीं रहता। **कालस्सेगो** कालद्रव्य का एक ही प्रदेश है। **ण तेण सो काओ** इसी कारण कालद्रव्य 'काय' नहीं है। कालद्रव्य के एक प्रदेशी होने में युक्ति बतलाते हैं। यथा—जैसे अन्तिम शरीर से कुछ कम प्रमाण के धारक सिद्धत्व पर्याय का उपादान कारणभूत जो शुद्ध आत्म-द्रव्य है, वह सिद्धत्व पर्याय के प्रमाण ही है। अथवा जैसे मनुष्य, देव आदि पर्यायों का उपादान कारणभूत जो संसारी जीव द्रव्य है वह उस मनुष्य, देव आदि पर्याय के प्रमाण ही है। उसी प्रकार कालद्रव्य भी समयरूप कालपर्याय के विभाग से उपादान रूप अविभागी एक प्रदेश ही होता है। अथवा मन्दगति से गमन करते हुए पुद्‌गल परमाणु के आकाश के एक प्रदेश तक ही कालद्रव्य गति का सहकारी कारण होता है; इस कारण जाना जाता है कि वह कालद्रव्य भी एक ही प्रदेश का धारक है।[१]

८८. यहाँ कोई कहता है कि पुद्‌गल परमाणु की गति में सहकारी कारण तो धर्मद्रव्य विद्यमान है ही; इसमें काल द्रव्य का क्या प्रयोजन है? **उत्तर**—ऐसा नहीं है क्योंकि गति के सहकारी कारण धर्मद्रव्य के विद्यमान रहते भी मत्स्यों की गति में जल के समान तथा मनुष्यों की गति में गाड़ी पर बैठना आदि के समान पुद्‌गल की गति में और भी बहुत से सहकारी कारण होते हैं। कदाचित् कोई

---

१. यहाँ एक प्रदेशत्व की सिद्धि में दो हेतु दिये हैं। अन्य भी हेतु श्लोकवार्तिक भाग २, पृष्ठ १४८-४९, आदिपुराण पर्व ३ पृ० ६१ टिप्पण अनुवादक पं० लालारामजी शास्त्री, शिवसागर ग्रन्थमाला, प्रवचनसार, गा० १४४ तथा बृहज्जिनोपदेश पृ० १२८ से १३०; इन ग्रन्थों से देखने चाहिए।

वत्सहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्तीति। अथ मतं–कालद्रव्यं पुद्गलानां गतिसहकारिकारणं कुत्र भणितमास्ते। तदुच्यते–''**पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु**'' इत्युक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पञ्चास्तिकायप्राभृते। अस्यार्थः कथ्यते। धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जीवानां कर्मनोकर्म-पुद्गला गतेः सहकारिकारणं भवन्ति, अणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलानां तु कालद्रव्यमित्यर्थः॥२५॥

८९. अथैक प्रदेशस्यापि पुद्गलपरमाणोरुपचारेण कायत्वमुपदिशति–

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु[1]॥२६॥

प्रदेश इक ही पुद्गल-अणु में यद्यपि हमको है मिलता।
रूखे-चिकने स्वभाव के वश नाना स्कन्धों में ढलता॥
होता बहुदेशी इस विध अणु यही हुआ उपचार यहाँ।
सर्वज्ञों ने अस्तिकाय फिर उसे कहा श्रुत-धार यहाँ॥२६॥

यह कहे कि ''कालद्रव्य पुद्गलों की गति में सहकारी कारण है'' यह कहाँ कहा है? सो कहते हैं—श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय प्राभृत की (गाथा ९८) में **पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु** ऐसा कहा है। इसका अर्थ यह है कि—धर्मद्रव्य के विद्यमान होने पर भी जीवों की गति में कर्म, नोकर्म पुद्गल सहकारी कारण होते हैं और अणु तथा स्कन्ध इन भेदों वाले पुद्गलों के गमन में कालद्रव्य सहकारी कारण होता है॥२५॥*

८९. पुद्गल परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी है तो भी उपचार से उसको काय कहते हैं, अब ऐसा उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(एयपदेसो वि अणू) एक प्रदेश वाला भी पुद्गलरूप अणु **(णाणा-खंधप्पदेसदो)** अनेक स्कन्धरूप प्रदेशों का कारण होने से **(बहुदेसो)** बहुप्रदेशी **(होदि)** होता है **(य)** और **(तेण)** इसी कारण से **(सव्वण्हू)** सर्वज्ञदेव परमाणु को **(उवयारा काओ)** उपचार/व्यवहार से कायवान/बहुप्रदेशी **(भणंति)** कहते हैं।

गाथार्थ—एकप्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कन्ध रूप बहुप्रदेशी हो सकता है, इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से पुद्गल परमाणु को 'काय' कहते हैं॥२६॥

---

१. यद्यपि मूलगाथा एवं टीका में 'सव्वण्हु' पाठ उपलब्ध है परन्तु प्राकृत व्याकरण के अनुसार बहुवचन में 'सव्वण्हू' पाठ अधिक उपयुक्त है। जैसा कि पंचास्तिकाय की गाथा १० एवं उसकी मूल टीका में (जं तं भण्णंति सव्वण्हू) 'सव्वण्हू' ही पाठ मिलता है।

* जैसे ज्योतिष्क देवों के विमानों के गमनरूप परिणमन में काल बहिरंग सहकारी कारण है, धर्म तो सहकारी कारण है ही। [देखो गा॰ ३५ की टीका, ज्योतिर्लोक वर्णन]

९०. वृत्ति—एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो एक प्रदेशोऽपि पुद्गल-परमाणुर्नानास्कन्धरूपबहुप्रदेशतः सकाशाद्बहुप्रदेशो भवति। **उवयारा** उपचाराद् व्यवहारनयात् **तेण य काओ भणंति सव्वण्हु** तेन कारणेन कायमिति सर्वज्ञा भणन्तीति। तथाहि—यथायं परमात्मा शुद्धनिश्चय-नयेन द्रव्यरूपेण शुद्धस्तथैकोऽप्यनादिकर्मबन्धवशात्स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषाभ्यां परिणम्य नरनारकादि-विभावपर्यायरूपेण व्यवहारेण बहुविधो भवति। तथा पुद्गलपरमाणुरपि स्वभावेनैकोऽपि शुद्धोऽपि रागद्वेषस्थानीयबन्धयोग्यस्निग्धरूक्षगुणाभ्यां परिणम्य द्व्यणुकादिस्कन्धरूपविभावपर्यायैर्बहुविधो बहुप्रदेशो भवति तेन कारणेन बहुप्रदेशलक्षणकायत्वकारणत्वादुपचारेण कायो भण्यते।

९१. अथ मतं—यथा पुद्गलपरमाणोर्द्रव्यरूपेणैकस्यापि द्व्यणुकादिस्कन्धपर्यायरूपेण बहुप्रदेशरूपं कायत्वं जातं तथा कालाणोरपि द्रव्येणैकस्यापि पर्यायेण कायत्वं भवतीति। तत्र परिहारः—स्निग्धरूक्ष-हेतुकस्य बन्धस्याभावान्न भवति। तदपि कस्मात्। स्निग्धरूक्षत्वं पुद्गलस्यैव धर्मो यतः कारणादिति।

९२. अणुत्वं पुद्गलसंज्ञा, कालस्याणुसंज्ञा कथमिति चेत्, तत्रोत्तरम्—अणुशब्देन व्यवहारेण पुद्गला उच्यन्ते निश्चयेन तु वर्णादिगुणानां पूरणगलनयोगात्पुद्गला इति वस्तुवृत्त्या पुनरणुशब्दः सूक्ष्मवाचकः। तद्यथा—परमेण प्रकर्षेणाणुः। अणु कोऽर्थः सूक्ष्म इति व्युत्पत्त्या परमाणुः। स च सूक्ष्मवाचकोऽणुशब्दो

---

९०. वृत्त्यर्थ—एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो यद्यपि पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी है तथापि अनेक प्रकार के द्विअणुक आदि स्कन्ध रूप बहुत प्रदेशों के कारण बहुप्रदेशी होता है। **उवयारा** उपचार से अथवा व्यवहारनय से। **तेण य काओ भणंति सव्वण्हु** इसी कारण सर्वज्ञदेव उस पुद्गल परमाणु को काय कहते हैं। जैसे यह परमात्मा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा द्रव्य रूप से शुद्ध तथा एक है तो भी अनादि कर्मबन्धन के कारण स्निग्ध तथा रूक्ष गुणों के स्थानीय (बजाय) राग, द्वेष रूप परिणमन करके व्यवहारनय के द्वारा मनुष्य, नारक आदि विभाव पर्याय रूप अनेक प्रकार का होता है, उसी प्रकार पुद्गल परमाणु भी यद्यपि स्वभाव से एक और शुद्ध है तो भी रागद्वेष के स्थानभूत जो बन्ध के योग्य स्निग्ध, रूक्ष गुणों के द्वारा परिणमन करके द्वि–अणुक आदि स्कन्ध रूप जो विभाव पर्याय हैं, उनके द्वारा अनेक प्रकार का बहुत प्रदेशों वाला हो जाता है। इसीलिए बहु-प्रदेशता रूप कायत्व का कारण होने से पुद्गल परमाणु को सर्वज्ञ भगवान् व्यवहार से काय कहते हैं।

९१. यदि कोई ऐसा कहे कि जैसे द्रव्य रूप से एक भी पुद्गल परमाणु के द्वि–अणुक आदि स्कन्ध पर्याय द्वारा बहु–प्रदेश रूप कायत्व सिद्ध हुआ है; ऐसे ही द्रव्य रूप से एक होने पर भी कालाणु के पर्याय द्वारा कायत्व सिद्ध होता है। इसका परिहार करते हैं कि स्निग्ध रूक्ष गुण के कारण होने वाले बन्ध का कालद्रव्य में अभाव है इसलिए वह काय नहीं हो सकता। ऐसा भी क्यों? क्योंकि स्निग्ध तथा रूक्षपना पुद्गल का ही धर्म है। काल में स्निग्ध रूक्ष नहीं है और उनके बिना बन्ध नहीं होता।

९२. कदाचित् यह पूछो कि 'अणु' यह तो पुद्गल की संज्ञा है, काल की 'अणु' संज्ञा कैसे हुई? इसका उत्तर यह है कि 'अणु' इस शब्द द्वारा व्यवहारनय से पुद्गल कहे जाते हैं और निश्चयनय से

निर्विभागपुद्गलविवक्षायां पुद्गलाणुं वदति। अविभागिकालद्रव्यविवक्षायां तु कालाणुं कथयतीत्यर्थः॥२६॥

९३. अथ प्रदेशलक्षणमुपलक्षयति–

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्ठद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥२७॥

जिसमें कोई भाग नहीं उस अविभागी पुद्गल अणु से।
व्याप्त हुआ आकाश-भाग वह 'प्रदेश' माना है जिन से॥
किन्तु एक आकाश देश में सब अणु मिलकर रह सकते।
वस्तु तत्त्व में बुधजन रमते जड़ जन संशय कर सकते॥२७॥

९४. वृत्ति—जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्ठद्धं तं खु पदेसं जाणे यावत् प्रमाण-माकाशमविभागिपुद्गलपरमाणुना विष्टब्धं व्याप्तं तदाकाशं खु स्फुटं प्रदेशं जानीहि हे शिष्य! कथंभूतं **सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं** सर्वाणूनां सर्वपरमाणूनां सूक्ष्मस्कन्धानां च स्थानदानस्यावकाशदानस्यार्हं योग्यं समर्थ-मिति। यत एवेत्थंभूतावगाहनशक्तिरस्त्याकाशस्य तत एवासंख्यातप्रदेशेऽपि लोके अनन्तानन्त-जीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणपुद्गलपुद्गलाअवकाशं लभन्ते। तथाचोक्तं—**जीवपुद्गलविषयेऽवकाशदानसामर्थ्यम्।**

तो वर्ण आदि गुणों के पूरण तथा गलन के सम्बन्ध से वे पुद्गल कहे जाते हैं; वास्तव में 'अणु' शब्द सूक्ष्म का वाचक है, जैसे परम अर्थात् अत्यन्त रूप से जो अणु हो सो 'परमाणु' है। अणु का क्या अर्थ है? 'सूक्ष्म' इस व्युत्पत्ति से परमाणु शब्द 'अतिसूक्ष्म' पदार्थ को कहता है और वह सूक्ष्म-वाचक अणु शब्द निर्विभाग पुद्गल की विवक्षा (कहने की इच्छा) में पुद्गलाणु को कहता है और अविभागी कालद्रव्य के कहने की जब इच्छा होती है तब 'कालाणु' को कहता है॥२६॥

९३. अब प्रदेश का लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जावदियं आयासं) जितना आकाश **(अविभागी-पुग्गलाणुवट्ठद्धं)** पुद्गल के अविभाजित परमाणु से व्याप्त/रोका गया है **(तं)** उसको **(खु)** निश्चय से **(सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं)** सर्व परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ **(पदेसं)** प्रदेश **(जाणे)** जानना चाहिए।

गाथार्थ—जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है उसको सब अणुओं को स्थान देने में समर्थ प्रदेश जानो॥२७॥

९४. वृत्त्यर्थ—जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्ठद्धं तं खु पदेसं जाणे हे शिष्य! जितना आकाश अविभागी पुद्गल परमाणु से घिरा है उसको स्पष्ट रूप से प्रदेश जानो। वह प्रदेश **सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं** सब परमाणु और सूक्ष्म स्कन्धों को स्थान देने में समर्थ है, क्योंकि ऐसी अवगाहन शक्ति आकाश में है। इसी कारण असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त जीव तथा उन जीवों से भी अनन्तगुणे पुद्गल समा जाते हैं। इसी प्रकार जीव और पुद्गल के विषय में भी अवकाश देने की सामर्थ्य आगम में कही है। एक निगोद शरीर में द्रव्य-प्रमाण से भूतकाल के सब सिद्धों से

''एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥१॥
उग्गाढगाढणिचिदो पुग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं॥२॥''

९५. अथ मतं मूर्त्तपुद्गलानां भेदो भवतु नास्ति विरोधः। अमूर्त्ताखण्डस्याकाशद्रव्यस्य कथं विभागकल्पनेति। तन्न। रागाद्युपाधिरहितस्वसंवेदनप्रत्यक्ष-भावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्तस्य मुनि-युगलस्यावस्थानक्षेत्रमेकमनेकं वा। यद्येकं तर्हि द्वयोरेकत्वं प्राप्नोति न च तथा। भिन्नं चेत्तदा निर्विभाग-द्रव्यस्यापि विभागकल्पनमायातं घटाकाशपटाकाश-मित्यादिवदिति ॥२७॥

एवं सूत्रपञ्चकेन पञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा तृतीयोऽन्तराधिकारः॥

इति श्री नेमिचन्द्र सैद्धान्तिदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रन्थे नमस्कारादिसप्तविंशतिगाथाभिरन्तराधिकार-चयसमुदायेन षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमाधिकारः समाप्तः।

भी अनन्तगुणे जीव देखे गये हैं ॥१॥ यह लोक सब तरफ से विविध तथा अनन्तानन्त सूक्ष्म और बादर पुद्गलों द्वारा अतिसघन भरा हुआ है ॥२॥

९५. यदि किसी का ऐसा मत हो कि ''मूर्तिमान् पुद्गलों के तो अणु तथा स्कन्ध आदि विभाग हों, इसमें तो कुछ विरोध नहीं; किन्तु अखण्ड, अमूर्तिक आकाश की विभाग कल्पना कैसे हो सकती है?'' यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि राग आदि उपाधियों से रहित, निज-आत्म-अनुभव की प्रत्यक्ष भावना से उत्पन्न सुखरूप अमृतरस के आस्वादन से तृप्त ऐसे दो मुनियों के रहने का स्थान एक है अथवा अनेक? यदि दोनों का निवास क्षेत्र एक ही है तब तो दोनों एक हुए; परन्तु ऐसा है नहीं। यदि भिन्न मानों तो घट के आकाश तथा पट के आकाश की तरह विभागरहित आकाश द्रव्य की भी विभाग कल्पना सिद्ध हुई ॥२७॥

इस तरह पाँच सूत्रों द्वारा पंच अस्तिकायों का निरूपण करने वाला तीसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

इस प्रकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव विरचित द्रव्यसंग्रह ग्रंथ में नमस्कारादि २७ गाथाओं से तीन अन्तर अधिकारों द्वारा छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय प्रतिपादन करने वाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

चूलिका

९६. अतः परं पूर्वोक्त षड्द्रव्याणां चूलिकारूपेण विस्तरव्याख्यानं क्रियते। तद्यथा–

परिणामि-जीव-मुत्तं, सपदेसं एय-खेत्त-किरिया य।
णिच्चं कारण-कत्ता, सव्वगदमिदरं हि य पवेसे ॥१॥
दुण्णि य एयं एयं, पंच-त्तिय एय दुण्णि चउरो य।
पंच य एयं एयं, एदेसं एय उत्तरं णेयं ॥२॥

९७. **वृत्ति—परिणामि** इत्यादिव्याख्यानं क्रियते। परिणामपरिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभाव-विभावपर्यायाभ्यां कृत्वा, शेषचत्वारि द्रव्याणि विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्मुख्यवृत्त्या पुनर-परिणामानीति। **जीव** शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्धचैतन्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः। व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति, जीविष्यति, जीवितपूर्वो वा जीवः। पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि। **मुत्तं** शुद्धात्मनो विलक्षणस्पर्शरस-गन्धवर्णवती मूर्तिरुच्यते, तत्सद्भावान्-मूर्त्तः पुद्गलः। जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्त्तमपि शुद्धनिश्चय-नयेनामूर्त्तम्, धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्त्तानि। **सपदेसं** लोकमात्रप्रमितासंख्येयप्रदेशलक्षणं जीवद्रव्यमादिं कृत्वा

---

९६. इसके अनन्तर अब छह द्रव्यों के उपसंहार रूप से विशेष व्याख्यान करते हैं—

गाथार्थ—छह द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं; चेतन द्रव्य एक जीव है, मूर्तिक एक पुद्गल है, प्रदेशसहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पाँच द्रव्य हैं, एक-एक संख्या वाले धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य हैं। क्षेत्रवान् एक आकाश द्रव्य है, क्रिया सहित जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं, नित्यद्रव्य-धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार हैं, कारण द्रव्य-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच हैं, कर्ता-एक जीव द्रव्य है, सर्वगत (सर्व व्यापक) द्रव्य एक आकाश है (एक क्षेत्र अवगाह होने पर भी) इन छहों द्रव्यों का परस्पर प्रवेश नहीं है। इस प्रकार छहों मूलद्रव्यों के उत्तर गुण जानने चाहिए ॥१-२॥

९७. **वृत्त्यर्थ—**परिणामि इत्यादि गाथाओं का व्याख्यान करते हैं—परिणामि स्व-भाव तथा विभाव पर्यायों द्वारा परिणाम से जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं; शेष चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) विभावव्यंजन पर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी हैं। **जीव—**शुद्ध निश्चयनय से निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव रूप शुद्ध चैतन्य को प्राण कहते हैं, उस शुद्ध चैतन्य रूप प्राण से जो जीता है, वह जीव है। व्यवहारनय से कर्मों के उदय से प्राप्त द्रव्य तथा भाव रूप चार प्रकार के जो इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास नामक प्राण से जो जीता है, जीवेगा और पहले जीता था वह जीव है। पुद्गल आदि पाँच द्रव्य अजीव रूप हैं। **मुत्तं** शुद्ध आत्मा से विलक्षण स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण वाला मूर्ति कहा जाता है, उस मूर्ति के सद्भाव से पुद्गल मूर्त है। जीवद्रव्य अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनय से मूर्त है किन्तु शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा अमूर्त है। धर्म, अधर्म, आकाश और

पञ्चद्रव्याणि पञ्चास्तिकायसंज्ञानि सप्रदेशानि। कालद्रव्यं पुनर्बहुप्रदेशत्व-लक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम्। **एय** द्रव्यार्थिक नयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति। जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति। **खेत्त** सर्वद्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्यात् क्षेत्रमाकाश-मेकम्। शेषपञ्चद्रव्याण्यक्षेत्राणि। **किरिया य** क्षेत्रात्क्षेत्रान्तरगमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ। धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि। **णिच्चं** धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यद्यप्यर्थपर्यायत्वेना-नित्यानि, तथापि मुख्यवृत्त्या विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्नित्यानि, द्रव्यार्थिकनयेन च; जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघु-परिणतिस्वरूपस्वभावपर्यायापेक्षया विभावव्यञ्जन-पर्यायापेक्षया चानित्ये। **कारण** पुद्गलधर्माधर्मा-काशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाङ्-

---

कालद्रव्य भी अमूर्तिक हैं। **सपदेसं** लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशों को धारण करने से पंचास्तिकाय नामक जीव आदि पाँच द्रव्य बहु-प्रदेशी हैं और बहु-प्रदेश रूप कायत्व के न होने से कालद्रव्य अप्रदेश (एक-प्रदेशी) है। **एय** द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। जीव, पुद्गल तथा काल ये तीन द्रव्य अनेक हैं। **खेत्त** सब द्रव्यों को स्थान देने का सामर्थ्य होने से क्षेत्र एक आकाश द्रव्य है, शेष पाँच द्रव्य क्षेत्र नहीं हैं। **किरिया य** एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन रूप हिलने वाली अथवा चलने वाली जो क्रिया है, वह क्रिया जिनमें है ऐसे क्रियावान् जीव, पुद्गल ये दो द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य क्रियाशून्य हैं। **णिच्चं** धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य यद्यपि अर्थपर्याय के कारण अनित्य हैं, फिर भी मुख्य रूप से इनमें विभावव्यंजन पर्याय नहीं होती इसलिए ये नित्य हैं, द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा भी नित्य हैं। जीव, पुद्गल द्रव्य यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य हैं तो भी अगुरुलघुगुण के परिणाम रूप स्वभाव पर्याय की अपेक्षा तथा विभावव्यंजन पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं। **कारण** पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्यों में से व्यवहारनय की अपेक्षा जीव के शरीर, वचन, मन, श्वास, निःश्वास आदि कार्य तो पुद्गल द्रव्य करता है और गति, स्थिति, अवगाह तथा वर्तना रूप कार्य से धर्म आदि चार द्रव्य करते हैं; इस कारण पुद्गलादि पाँच द्रव्य 'कारण' हैं। जीवद्रव्य यद्यपि गुरु, शिष्य आदि रूप से आपस में एक दूसरे का उपकार करता है फिर भी पुद्गलादि पाँच द्रव्यों के लिए जीव कुछ भी नहीं करता, इसलिए 'अकारण' है। **कत्ता** शुद्ध पारिणामिक परमभाव के ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जीव यद्यपि बन्ध मोक्ष के कारणभूत द्रव्य-भावरूप पुण्य, पाप, घट, पट आदि का कर्ता नहीं है किन्तु अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुभ, अशुभ उपयोगों में परिणत होकर पुण्य-पाप बन्ध का कर्ता और उनके फलों का भोक्ता होता है तथा विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव निज शुद्ध आत्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप शुद्धोपयोग से परिणत होकर यह जीव मोक्ष का भी कर्ता और उसके फल का भोगने वाला होता है। यहाँ सब जगह शुभ, अशुभ तथा शुद्ध परिणामों के परिणमन का ही कर्ता जानना चाहिए। पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों के तो अपने-अपने

मनःप्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्त्तनाकार्याणि कुर्वन्तीति कारणानि भवन्ति।

९८. जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रहं करोति तथापि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम्। **कत्ता** शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बन्धमोक्षद्रव्यभावरूपपुण्यपापघटपटादीनामकर्त्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणतः सन् पुण्यपापबन्धयोः कर्त्ता फलभोक्ता च भवति। विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मद्रव्यस्य सम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तु परिणतः सन् मोक्षस्यापि कर्त्ता तत्फलभोक्ता चेति। शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञातव्यमिति। पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम्। वस्तुवृत्त्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव। **सव्वगदं** लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाशं भण्यते। लोकव्याप्त्यपेक्षया धर्माधर्मौ च। जीवद्रव्यं पुनरेकजीवापेक्षया लोकपूरणावस्थां विहायासर्वगतं, नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवति, पुद्गलद्रव्यं पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं, शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगतं न भवति, कालद्रव्यं पुनरेककालाणु-द्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति, लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति। **इदरंहि य पवेसे** यद्यपि सर्वद्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेनान्योन्यप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादि-स्वकीयस्वरूपं न त्यजन्तीति। अत्र षड्द्रव्येषु मध्ये वीतरागचिदानन्दैकादिगुणस्वभावं शुभाशुभमनो-वचनकायव्यापाररहितं निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति भावार्थः।

९९. अत ऊर्ध्वं पुनरपि षड्द्रव्याणां मध्ये हेयोपादेयस्वरूपं विशेषेण विचारयति। तत्र शुद्धनिश्चयनयेनशक्तिरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात्सर्वे जीवा उपादेया भवन्ति। व्यक्तिरूपेण पुनः

परिणाम से जो परिणमन है वही कर्तृत्व है और वास्तव में पुण्य, पाप आदि की अपेक्षा अकर्तापना ही है। **सव्वगदं** लोक और अलोक व्यापक होने की अपेक्षा आकाश सर्वगत कहा जाता है, लोक में सर्वव्यापक होने की अपेक्षा धर्म और अधर्म सर्वगत हैं।

९८. जीवद्रव्य एक जीव की अपेक्षा से लोकपूरण समुद्घात के सिवाय असर्वगत है किन्तु अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वगत ही है। पुद्गल द्रव्य लोकव्यापक महास्कन्ध की अपेक्षा सर्वगत है और शेष पुद्गलों की अपेक्षा असर्वगत है, एक कालाणुद्रव्य की अपेक्षा तो कालद्रव्य सर्वगत नहीं है किन्तु लोक प्रदेश के बराबर अनेक कालाणुओं की अपेक्षा कालद्रव्य लोक में सर्वगत है। **इदरंहि य पवेसे** यद्यपि व्यवहारनय से सब द्रव्य एक क्षेत्र में रहने के कारण आपस में प्रवेश करके रहते हैं, फिर भी निश्चयनय से चेतना आदि अपने-अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते। इसका सारांश यह है कि इन छह द्रव्यों में वीतराग, चिदानन्द, एक शुद्ध बुद्ध आदि गुण स्वभाव वाला और शुभ, अशुभ मन, वचन और काय के व्यापार से रहित निज-शुद्ध-आत्म-द्रव्य ही उपादेय है।

९९. तदनन्तर फिर भी छह द्रव्यों में से क्या हेय है और क्या उपादेय है, इसका विशेष विचार करते हैं। वहाँ शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शक्ति रूप से शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव के धारक सभी जीव

पञ्चपरमेष्ठिन एव। तत्राप्यर्हत्सिद्धद्वयमेव। तत्रापि निश्चयेन सिद्ध एव। परमनिश्चयेन तु भोगाकाङ्क्षादि-रूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमसमाधिकाले सिद्धसदृशः स्वशुद्धात्मैवोपादेयः शेषद्रव्याणि हेयानीति तात्पर्यम्। शुद्धबुद्धैकस्वभाव इति कोऽर्थः? मिथ्यात्वरागादिसमस्तविभावरहितत्वेन शुद्ध इत्युच्यते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितत्वाद्बुद्धः। इति शुद्धबुद्धैकलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम्।

चूलिकाशब्दार्थः कथ्यते—चूलिका विशेषव्याख्यानम्, अथवा उक्तानुक्तव्याख्यानम्, उक्तानुक्त-संकीर्णव्याख्यानं चेति॥

इति षड्द्रव्यचूलिका समाप्ता॥

उपादेय हैं और व्यक्ति रूप से अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पंच परमेष्ठी ही उपादेय हैं। उनमें भी अर्हन्त-सिद्ध ये दो ही उपादेय हैं। इन दो में भी निश्चयनय की अपेक्षा सिद्ध ही उपादेय हैं। परम-निश्चयनय से तो भोगों की इच्छा आदि समस्त विकल्पों से रहित परमध्यान के समय सिद्ध-समान निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। अन्य सब द्रव्य हेय हैं, यह तात्पर्य है। शुद्ध-बुद्धैकस्वभाव इस पद का क्या अर्थ है? इसको कहते हैं—मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विभावों से रहित होने के कारण आत्मा शुद्ध कहा जाता है तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों से सहित होने के कारण आत्मा बुद्ध है। इस तरह शुद्ध-बुद्धैकस्वभाव पद का अर्थ सर्वत्र समझना चाहिए। अब चूलिका शब्द का अर्थ कहते हैं—किसी पदार्थ के विशेष व्याख्यान को, कहे हुए विषय में जो अनुक्त विषय हैं उनके व्याख्यान को अथवा उक्त, अनुक्त विषय से मिले हुए कथन को 'चूलिका' कहते हैं।

इस प्रकार छह द्रव्यों की चूलिका समाप्त हुई।

❑ ❑ ❑

द्वितीयोऽधिकारः

१००. अतः परं जीवपुद्गलपर्यायरूपाणामास्रवादिसप्तपदार्थानामेकादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्रादौ **आसवबंधण** इत्याद्यधिकारसूत्रगाथैका, तदनन्तरमास्रवपदार्थव्याख्यानरूपेण **आसवदि जेण** इत्यादि गाथात्रयं, ततः परं बन्धव्याख्यानकथनेन **वज्झदि कम्मं** इति प्रभृतिगाथाद्वयं, ततोऽपि संवरकथनरूपेण **चेदणपरिणामो** इत्यादिसूत्रद्वयं, ततश्च निर्जरा-प्रतिपादनरूपेण **जह कालेण तवेण य** इति प्रभृतिसूत्रमेकं, तदनन्तरं मोक्षस्वरूपकथनेन **सव्वस्स कम्मणो** इत्यादि सूत्रमेकं, ततश्च पुण्यपापद्वयकथनेन **सुहअसुह** इत्यादि सूत्रमेकं चेत्येकादशगाथाभिः स्थलसप्तकसमुदायेन द्वितीयाधिकारे समुदायपातनिका।

---

१००. इसके पश्चात् जीव और पुद्‌गल द्रव्य के पर्याय रूप आस्रव आदि ७ पदार्थों का ११ गाथाओं द्वारा व्याख्यान करते हैं। उसमें प्रथम **आसवबंधण** इत्यादि अधिकार सूचन रूप २८ वीं एक गाथा है। उसके पश्चात् आस्रव के व्याख्यान रूप **आसवदि जेण** इत्यादि तीन गाथायें हैं। तदनन्तर **बज्झदि कम्मं जेण** इत्यादि दो गाथाओं में बन्ध पदार्थ का निरूपण है। तत्पश्चात् **चेदणपरिणामो** इत्यादि ३४, ३५ वीं गाथाओं में संवर पदार्थ का कथन है। फिर निर्जरा के प्रतिपादन रूप **जह कालेण तवेण य** इत्यादि ३६ वीं एक गाथा है। उसके बाद मोक्ष के निरूपण रूप **सव्वस्स कम्मणो** इत्यादि ३७ वीं एक गाथा है। तदनन्तर पुण्य, पाप पदार्थों के कथन करने वाली **सुहअसुह** इत्यादि एक गाथा है। इस तरह ११ गाथाओं द्वारा सप्त स्थलों के समुदाय सहित द्वितीय अधिकार की पातनिका (भूमिका) समझनी चाहिए।

---

१. आचार्य धवल माइल्ल ने द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र में भी लिखा है—

अज्जीव पुण्णपावे असुद्धजीवे तहासवे बंधे।
सामी मिच्छाइट्ठी सम्माइट्ठी हवदि सेसे ॥१६२॥
सामी सम्माइट्ठी जीवे संवरणणिज्जरा मोक्खो।
सुद्धे चेदणरूवे तह जाण सुणाणपच्चक्खं ॥१६३॥

अर्थात् अजीव, पुण्य, पाप, अशुद्धजीव, आस्रव और बन्ध का स्वामी तो मिथ्यादृष्टि है और शेष अर्थात् शुद्ध चेतनरूप जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष का स्वामी सम्यग्दृष्टि है, ऐसा सम्यग्ज्ञान से प्रत्यक्ष जानो।

१०१. अत्राह शिष्यः—यद्येकान्तेन जीवाजीवौ परिणामिनौ भवतस्तदा संयोगपर्यायरूप एक एव पदार्थः, यदि पुनरेकान्तेनापरिणामिनौ भवतस्तदा जीवाजीवद्रव्यरूपौ द्वावेव पदार्थौ, तत आस्रवादि-सप्तपदार्थाः कथं घटन्त इति। तत्रोत्तरं—कथंचित्परिणामित्वाद् घटन्ते। कथंचित्परिणामित्वमिति कोऽर्थः? यथा स्फटिकमणिविशेषो यद्यपि स्वभावेन निर्मलस्तथापि जपापुष्पाद्युपाधिजनितं पर्यायान्तरं परिणतिं[१] गृह्णाति। यद्यप्युपाधिं गृह्णाति तथापि निश्चयेन शुद्धस्वभावं न त्यजति तथा जीवोऽपि यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्तथाप्यनादिकर्मबन्धपर्यायवशेन रागादिपरद्रव्योपाधि-पर्यायं गृह्णाति। यद्यपि परपर्यायेण परिणमति तथापि निश्चयेन शुद्धस्वरूपं न त्यजति। पुद्गलोऽपि तथेति। परस्परसापेक्षत्वं कथञ्चित्परिणामित्वशब्दस्यार्थः। एवं कथञ्चित्परिणामित्वे सति जीवपुद्गलसंयोग-परिणतिनिर्वृत्तत्वादास्रवादिसप्तपदार्था घटन्ते। ते च पूर्वोक्त जीवाजीवाभ्यां सह नव भवन्ति तत एव नव पदार्थाः। पुण्यपापपदार्थद्वयस्याभेदनयेन कृत्वा पुण्यपापयोर्बन्धपदार्थस्य वा मध्ये अन्तर्भावविवक्षया सप्ततत्त्वानि भण्यन्ते।

१०२. हे भगवन्! यद्यपि कथञ्चित्परिणामित्वबलेन भेदप्रधानपर्यायार्थिक नयेन नवपदार्थाः सप्त-तत्त्वानि वा सिद्धानि तथापि तैः किं प्रयोजनम्। यथैवाभेदनयेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्यान्तर्भावो जातस्तथैव

---

१०१. यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि यदि जीव, अजीव ये दोनों द्रव्य सर्वथा एकांत से परिणामी ही हैं तो संयोगपर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है और यदि सर्वथा अपरिणामी हैं तो जीव, अजीव द्रव्य रूप दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं; इसलिए आस्रव आदि सात पदार्थ कैसे सिद्ध होते हैं? इसका उत्तर देते हैं कथंचित् परिणामी होने से सात पदार्थों का कथन संगत होता है। कथंचित् परिणामित्व का क्या अर्थ है? वह इस प्रकार है—जैसे स्फटिकमणि यद्यपि स्वभाव से निर्मल है फिर भी जपापुष्प (लाल फूल) आदि के संसर्ग से लाल आदि अन्य पर्याय रूप परिणमती है (बिल्कुल सफेद स्फटिक मणि के साथ जब जपाफूल होता है तब वह उस फूल की तरह लाल रंग का हो जाता है।) स्फटिक मणि यद्यपि लाल उपाधि ग्रहण करती है फिर भी निश्चयनय से अपने सफेद निर्मल स्वभाव को नहीं छोड़ती। इसी तरह जीव भी यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से स्वाभाविक शुद्ध-चिदानन्दस्वभाव वाला है फिर भी अनादि कर्म-बन्ध रूप पर्याय के कारण राग आदि परद्रव्यजनित उपाधिपर्याय को ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर पर्याय रूप परिणमन करता है तो भी निश्चयनय से अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य के विषय में जानना चाहिए। परस्पर अपेक्षा सहित होना यही कथंचित्परिणामित्व शब्द का अर्थ है। इस प्रकार कथंचित् परिणामित्व सिद्ध होने पर, जीव और पुद्गल की संयोग परिणति से बने हुए आस्रव आदि सप्त पदार्थ घटित होते हैं और वे सात पदार्थ पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्य सहित ९ हो जाते हैं इसलिए नौ पदार्थ कहे जाते हैं। अभेदनय की अपेक्षा से पुण्य और पाप पदार्थ का आस्रव पदार्थ में या बन्ध पदार्थ में अन्तर्भाव करने से सात तत्त्व कहे जाते हैं।

१०२. शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! यद्यपि कथंचित्परिणामित्व के बल से भेदप्रधान

विशेषाभेदनयविवक्षायामास्रवादिपदार्थानामपि जीवाजीवद्वयमध्येऽन्तर्भावे कृते जीवाजीवौ द्वावेव पदार्थाविति। तत्र परिहारः—हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानप्रयोजनार्थमास्रवादिपदार्थाः व्याख्येया भवन्ति। तदेव कथयति—उपादेयतत्त्वमक्षयानन्तसुखं, तस्य कारणं मोक्षो, मोक्षस्य कारणं संवरनिर्जराद्वयं, तस्य कारणं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं, तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयरूपं चेति। इदानीं हेयतत्त्वं कथ्यते—आकुलत्वोत्पादकं नारकादिदुःखं निश्चयेनेन्द्रियसुखं च हेयतत्त्वम्। तस्य कारणं संसारः, संसारकारणमास्रवबन्धपदार्थद्वयं, तस्य कारणं पूर्वोक्तव्यवहार-निश्चयरत्नत्रयाद्विलक्षणं मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति। एवं हेयोपादेयतत्त्वव्याख्याने कृते सति सप्ततत्त्व-नवपदार्थाः स्वयमेव सिद्धाः।

१०३. इदानीं कस्य पदार्थस्य कः कर्त्तेति कथ्यते—निजनिरञ्जनशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमानन्दैक-लक्षणसुखामृतरसास्वादपराङ्मुखो बहिरात्मा भण्यते। स चास्रवबन्धपापपदार्थत्रयस्य कर्त्ता भवति। क्वापि काले पुनर्मन्दमिथ्यात्वमन्दकषायोदये सति भोगाकाङ्क्षादिनिदानबन्धेन भाविकाले पापानुबन्धिपुण्य-

---

पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा ९ पदार्थ तथा ७ तत्त्व सिद्ध हो गये किन्तु इनसे प्रयोजन क्या सिद्ध हुआ? जैसे अभेदनय की अपेक्षा पुण्य, पाप इन दो पदार्थों का सात पदार्थों में अन्तर्भाव हुआ है उसी तरह विशेष अभेदनय की अपेक्षा से आस्रवादि पदार्थों का भी जीव, अजीव इन दो पदार्थों में अन्तर्भाव कर लेने से जीव तथा अजीव ये दो पदार्थ सिद्ध होते हैं? इन दोनों शंकाओं का परिहार करते हैं कि ''कौन तत्त्व हेय हैं और कौन तत्त्व उपादेय है?'' इस विषय का परिज्ञान कराने के लिए आस्रव आदि पदार्थ निरूपण करने योग्य हैं। इसी को कहते हैं, अविनाशी अनन्तसुख उपादेय तत्त्व है। उस अक्षय अनन्त सुख का कारण मोक्ष है, मोक्ष के कारण संवर और निर्जरा है। उन संवर और निर्जरा का कारण, विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला निजात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप निश्चयरत्नत्रय है तथा उस निश्चय रत्नत्रय का साधक व्यवहार-रत्नत्रय है। अब हेय तत्त्व को कहते हैं—आकुलता को उत्पन्न करने वाला, नरकगति आदि का दुःख तथा निश्चय से इन्द्रियजनित सुख भी हेय यानि—त्याज्य है, उसका कारण संसार है और संसार के कारण आस्रव तथा बन्ध ये दो पदार्थ हैं और उस आस्रव का तथा बन्ध का कारण पहले कहे हुए व्यवहार, निश्चयरत्नत्रय से विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र हैं। इस प्रकार हेय और उपादेय तत्त्व का निरूपण करने पर सात तत्त्व तथा नौ पदार्थ स्वयं सिद्ध हो गये।

१०३. अब किस पदार्थ का कर्ता कौन है? इस विषय का कथन करते हैं। निज निरंजन शुद्ध आत्मा से उत्पन्न परम-आनन्दरूप सुखामृत-रस-आस्वाद से रहित जो जीव है, वह बहिरात्मा कहलाता है। वह बहिरात्मा आस्रव, बन्ध और पाप इन तीन पदार्थों का कर्ता है। किसी समय जब कषाय और मिथ्यात्व का उदय मन्द हो, तब आगामी भोगों की इच्छा आदि रूप निदान बन्ध से

पदार्थस्यापि कर्त्ता भवति। यस्तु पूर्वोक्तबहिरात्मनो विलक्षणः सम्यग्दृष्टिः स संवरनिर्जरामोक्षपदार्थत्रयस्य कर्त्ता भवति। रागादिविभावरहितपरमसामायिके यदा स्थातुं समर्थो न भवति तदा विषयकषायोत्पन्न-दुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदं कुर्वन् पुण्यानुबन्धितीर्थकरनामप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यपदार्थस्य कर्त्ता भवति। कर्तृत्वविषये नयविभागः कथ्यते। मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य पुद्गलद्रव्य-पर्यायरूपाणामास्रवबन्धपुण्य-पापपदार्थानां कर्तृत्वमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति। सम्यग्दृष्टेस्तु संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यरूपाणां यत्कर्तृत्वं तदप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभाव-पर्यायरूपाणां तु विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेनेति। परमशुद्धनिश्चयेन तु—

''**ण वि उप्पज्जइ, ण वि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेइ।**
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवरु एम भणेइ ॥१॥'' इति वचनाद्बन्धमोक्षौ न स्तः।

१०४. स च पूर्वोक्तविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय आगमभाषया किं भण्यते—स्वशुद्धात्मसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण भविष्यतीति भव्यः, एवंभूतस्य भव्यत्वसंज्ञस्य पारिणामिकभावस्य संबंधिनी व्यक्तिर्भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्याय-

---

पापानुबंधी पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है। जो बहिरात्मा से विपरीत लक्षण का धारक सम्यग्दृष्टि जीव है वह संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है और यह सम्यग्दृष्टि जीव, जब राग आदि विभावों से रहित परम सामायिक में स्थित नहीं रह सकता, उस समय विषयकषायों से उत्पन्न होने वाले दुर्ध्यान से बचने के लिए तथा संसार की स्थिति का नाश करता हुआ पुण्यानुबंधी तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है। अब कर्तृत्व के विषय में नय विभाग का निरूपण करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के जो पुद्गल द्रव्य पर्याय रूप आस्रव, बन्ध तथा पुण्य, पाप पदार्थों का कर्तापन है, सो अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा है और जीव-भाव पुण्य-पाप पर्याय रूप पदार्थों का कर्तृत्व अशुद्ध निश्चयनय से है तथा सम्यग्दृष्टि जीव जो द्रव्य रूप संवर, निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थ का कर्ता है, सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से है तथा संवर, निर्जरा मोक्षस्वरूप जीवभाव पर्याय का 'कर्ता', विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से है और परम शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा तो न बन्ध है न मोक्ष है। जैसा कहा भी है—यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बन्ध तथा मोक्ष को करता है, इस प्रकार श्री जिनेन्द्र कहते हैं।

१०४. पूर्वोक्त विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनय को आगमभाषा से क्या कहते हैं? सो दिखाते हैं—निज शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप से जो होगा उसे 'भव्य' कहते हैं, इस प्रकार के भव्यत्व नामक पारिणामिक भाव से सम्बन्ध रखने वाली व्यक्ति कही जाती है अर्थात् भव्यत्व पारिणामिक भाव की व्यक्ति यानि प्रकटता है और अध्यात्म भाषा में उसी को ''द्रव्यशक्तिरूप शुद्ध पारिणामिकभाव के विषय में भावना'' कहते हैं। अन्य पर्याय नामों से इसी द्रव्यशक्ति रूप

नामान्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा शुद्धोपयोगादिकं वेति। यत एव भावना मुक्तिकारणं तत एव शुद्धपारिणामिक-भावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति। कस्मादिति चेत् ध्यानभावनापर्यायो विनश्वरः स च द्रव्यरूपत्वादविनश्वर इति।

१०५. इदमत्र तात्पर्यं—मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहितनिजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैक-लक्षणसुखसंवित्तिरूपा च भावना मुक्तिकारणं भवति। तां च कोऽपि जनः केनापि पर्यायनामान्तरेण भणतीति। एवं पूर्वोक्त प्रकारेणानेकान्तव्याख्यानेनास्त्रवबन्धपुण्यपापपदार्थाः जीवपुद्गलसंयोगपरिणाम-रूपविभावपर्यायेणोत्पद्यन्ते। संवरनिर्जरामोक्षपदार्थाः पुनर्जीवपुद्गलसंयोगपरिणामविनाशोत्पन्नेन विवक्षित-स्वभावपर्यायेणेति स्थितम्।

१०६. तद्यथा—

आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ॥२८॥

आस्रव-बन्धन-संवर-निर्जर - मोक्ष तत्त्व भी बतलाया।
सात-तत्त्व नव पदार्थ होते पाप-पुण्य को मिलवाया॥
जीव - द्रव्य औ पुद्गल की ये विशेषताएँ मानी हैं।
कुछ वर्णन अब इनका करती, जिन-गुरूजन की वाणी है ॥२८॥

पारिणामिक भाव की भावना को निर्विकल्प ध्यान तथा शुद्ध उपयोग आदि कहते हैं क्योंकि भावना मुक्ति का कारण है, इसलिए शुद्ध पारिणामिकभाव ध्येय रूप है, ध्यान या भावना रूप नहीं है। ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है, 'ध्यान या भावना' पर्याय है अतएव विनाशीक है। 'ध्येय' है, वह भावना पर्याय रहित द्रव्य रूप होने से विनाशरहित है।

१०५. यहाँ तात्पर्य यह है—मिथ्यात्व, राग आदि विकल्पों से रहित निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द रूप एक सुख अनुभव रूप जो भावना है वही मुक्ति का कारण है। उसी भावना को कोई पुरुष किन्हीं अन्य नामों (निर्विकल्प ध्यान, शुद्धोपयोग आदि) के द्वारा कहता है। इस प्रकार अनेकान्त का आश्रय लेकर कहने से आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप ये चार पदार्थ जीव और पुद्गल के संयोगपरिणाम स्वरूप जो विभाव पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ, जीव और पुद्गल के संयोग रूप परिणाम के विनाश से उत्पन्न जो विवक्षित स्वभाव पर्याय है उससे उत्पन्न होते हैं।

१०६. जैसे कि—

अन्वयार्थ—(जीवाजीवविसेसा) जीव और अजीव के विशेष/भेद **(सपुण्ण-पावा)** पुण्य और पाप सहित **(जे)** जो **(आसव-बंधण-संवर-णिज्जर-मोक्खा)** आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं **(ते वि)** उनको भी **(समासेण)** संक्षेप से **(पभणामो)** कहता हूँ।

१०७. वृत्ति—आसव निरास्रवस्वसंवित्तिविलक्षणशुभाशुभपरिणामेन शुभाशुभकर्मागमनमास्रवः। **बंधण** बन्धातीतशुद्धात्मोपलम्भभावनाच्युतजीवस्य कर्मप्रदेशैः सह संश्लेषो बन्धः। **संवर** कर्मास्रव-निरोधसमर्थस्वसंवित्तिपरिणतजीवस्य शुभाशुभकर्मागमनसंवरणं संवरः। **णिज्जर** शुद्धोपयोग-भावना-सामर्थ्येन नीरसीभूतकर्मपुद्गलानामेकदेशगलनं निर्जरा। **मोक्खो** जीवपुद्गलसंश्लेषरूपबन्धस्य विघटने समर्थः स्वशुद्धात्मोपलब्धिपरिणामो मोक्ष इति। **सपुण्णपावा जे** पुण्यपापसहिता ये **ते वि समासेण पभणामो** यथा जीवाजीवपदार्थौ व्याख्यातौ पूर्वं तथा तानप्यास्रवादिपदार्थान् समासेण संक्षेपेण प्रभणामो वयं, ते च कथंभूताः **जीवाजीवविसेसा** जीवाजीवविशेषाः। विशेषा इत्यस्य कोऽर्थः पर्यायाः। चैतन्या अशुद्धपरिणामा जीवस्य अचेतनाः कर्मपुद्गलपर्याया अजीवस्येत्यर्थः॥ एवमधिकार-सूत्रगाथा गता ॥२८॥

१०८. अथ गाथात्रयेणास्रवव्याख्यानं क्रियते, तत्रादौ भावास्रवद्रव्यास्रवस्वरूपं सूचयति—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥

द्रव्यास्रव औ भावास्रव यों माने जाते आस्रव दो।
आतम के जिन परिणामों से कर्म बने भावास्रव सो ॥
कर्म-वर्गणा जड़ हैं जिनका कर्म रूप में ढल जाना।
द्रव्यास्रव बस यही रहा है जिनवर का यह बतलाना ॥२९॥

गाथार्थ—जीव, अजीव की पर्याय रूप जो आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप (ऐसे शेष सात पदार्थ) हैं; इनको संक्षेप से कहते हैं ॥२८॥

१०७. वृत्त्यर्थ—आसव आस्रव रहित निज आत्मानुभव से विलक्षण जो शुभ तथा अशुभ परिणाम है उससे जो शुभ और अशुभ कर्मों का आगमन है सो आस्रव है। **बंधण** बंधरहित शुद्ध आत्मोपलब्धिरूप भावना से छूटे हुए जीव का जो कर्म के प्रदेशों के साथ परस्पर मेल है, सो बन्ध है। **संवर** कर्म-आस्रव को रोकने में समर्थ स्वानुभव में परिणत जीव के जो शुभ तथा अशुभ कर्मों के आने का निरोध है, वह संवर है। **णिज्जर** शुद्धोपयोग की भावना के बल से शक्तिहीन हुए कर्मपुद्गलों के एक देश गलने को निर्जरा कहते हैं। **मोक्खो** जीव, पुद्गल के बन्ध को नाश करने में समर्थ निज शुद्ध आत्मा की उपलब्धि रूप परिणाम है, वह मोक्ष है। **सपुण्णपावा जे** पुण्य, पाप सहित जो आस्रव आदि पदार्थ हैं, **ते वि समासेण पभणामो** उनको भी, जैसे पहले जीव, अजीव कहे हैं, उसी प्रकार संक्षेप से कहते हैं। वे कैसे हैं? **जीवाजीवविसेसा** जीव तथा अजीव के विशेष (पर्याय) हैं। चैतन्यभाव रूप जीव की पर्याय हैं और चैतन्यरहित अजीव की पर्याय है। 'विशेष' का क्या अर्थ है? 'विशेष' का अर्थ पर्याय है। चैतन्य रूप जो अशुद्ध परिणाम हैं वे जीव के विशेष हैं और जो अचेतनकर्म पुद्गलों की पर्याय हैं, वे अजीव के विशेष हैं। इस प्रकार अधिकार सूत्र गाथा समाप्त हुई ॥२८॥

१०९. वृत्ति—आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो आस्रवति कर्म येन परिणामेनात्मनः स विज्ञेयो भावास्रवः। कर्मास्रवनिर्मूलनसमर्थशुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूतेन येन परिणामेनास्रवति कर्म कस्यात्मनः स्वस्य स परिणामो भावास्रवो विज्ञेयः। स च कथंभूतः **जिणुत्तो** जिनेन वीतरागसर्वज्ञेनोक्तः। **कम्मासवणं परो होदि** कर्मास्रवणं परो भवति ज्ञानावरणादिद्रव्य-कर्मणामास्रवणमागमनं परः, पर इति कोऽर्थः—भावास्रवादन्यो भिन्नो भावास्रवनिमित्तेन तैलमृक्षितानां धूलिसमागम इव द्रव्यास्रवो भवतीति।

११०. ननु **आस्रवति येन कर्म** तेनैव पदेन द्रव्यास्रवो लब्धः, पुनरपि कर्मास्रवणं परो भवतीति द्रव्यास्रवव्याख्यानं किमर्थमिति यदुक्तं त्वया। तन्न। येन परिणामेन किं भवति आस्रवति कर्म तत्परिणामस्य सामर्थ्यं दर्शितं न च द्रव्यास्रवव्याख्यानमिति भावार्थः ॥२९॥

---

१०८. अब तीन गाथाओं से आस्रव पदार्थ का वर्णन करते हैं, उसमें प्रथम ही भावास्रव तथा द्रव्यास्रव के स्वरूप की सूचना करते हैं —

अन्वयार्थ—(अप्पणो) आत्मा के **(जेण)** जिस **(परिणामेण)** परिणाम से **(कम्मं आसवदि)** कर्म आता है **(स जिणुत्तो)** वह जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ **(भावासवो)** भावास्रव **(विण्णेओ)** जानना चाहिए और **(कम्मासवणं)** ज्ञानावरणादि कर्मों का आना **(परो होदि)** वह उस भावास्रव से भिन्न द्रव्यास्रव होता है।

गाथार्थ–आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है उसे श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिए और जो (ज्ञानावरणादि रूप) कर्मों का आस्रव है सो द्रव्यास्रव है ॥२९॥

१०९. वृत्त्यर्थ—आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव हो, वह भावास्रव जानना चाहिए। कर्मास्रव के नाश करने में समर्थ, ऐसी शुद्ध आत्मभावना से विरोधी जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है; किस आत्मा के? अपनी आत्मा के; उस परिणाम को भावास्रव जानना चाहिए। वह भावास्रव कैसा है? **जिणुत्तो** जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञ-देव द्वारा कहा हुआ है। **कम्मासवणं परो होदि** कर्मों का जो आगमन है वह 'पर' होता है अर्थात् ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का जो आगमन है वह पर द्रव्यास्रव है। पर शब्द का क्या अर्थ है? भावास्रव से अन्य या भिन्न। जैसे तेल से चुपड़े पदार्थों पर धूल का समागम होता है, उसी तरह भावास्रव के कारण जीव के द्रव्यास्रव होता है।

११०. यहाँ कोई शंका करता है—**आसवदि जेण कम्मं** (जिससे कर्म का आस्रव होता है) इस पद से ही द्रव्यास्रव आ गया फिर **कम्मासवणं परो होदि** (कर्मास्रव इससे भिन्न होता है) इस पद से द्रव्यास्रव का व्याख्यान किसलिए किया? **समाधान—**तुम्हारी यह शंका ठीक नहीं क्योंकि ''जिस परिणाम से क्या होता है? कर्म का आस्रव होता है'' यह जो कथन है, उससे परिणाम का सामर्थ्य दिखाया गया है, द्रव्यास्रव का व्याख्यान नहीं किया गया, यह तात्पर्य है ॥२९॥

१११. अथ भावास्रवस्वरूपं विशेषेण कथयति—

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥

मिथ्या-अविरत पाँच-पाँच हैं त्रिविध-योग का बाना है।
पन्द्रह-विध है प्रमाद होता कषाय-चउविध माना है॥
भावास्रव के भेद रहे ये रहे ध्यान में जिनवचना।
ध्येय रहे आस्रव से बचना जिनवचना में रच पचना ॥३०॥

११२. वृत्ति—मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः। अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं, बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्व-प्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च मिथ्यात्वं भण्यते। अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूप-भावनोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविलक्षणा बहिर्विषये पुनरव्रतरूपा चेत्यविरतिः। अभ्यन्तरे निष्प्रमाद-शुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणमलजनकश्चेति प्रमादः। निश्चयेन निष्क्रियस्यापि परमात्मनो व्यवहारेण वीर्यान्तरायक्षयोपशमोत्पन्नो मनोवचनकायवर्गणावलम्बनः कर्मादानहेतुभूत आत्म-

---

१११. अब भावास्रव का स्वरूप विशेष रूप से कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अथ) अब **(पुव्वस्स)** पहले भावास्रव के **(मिच्छत्ताविरदि-पमादजोग-कोधादओ)** मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग व क्रोधादि कषाय भेद हैं **(दु)** और उनके **(कमसो)** क्रम से **(पण-पण)** पाँच, पाँच **(पणदह)** पंद्रह **(तिय चदु)** तीन और चार **(भेदा)** भेद **(विण्णेया)** जानने चाहिए।

गाथार्थ—पहले (भावास्रव) के, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय (ऐसे पाँच) भेद जानने चाहिए, उनमें से मिथ्यात्व आदि के क्रम से पाँच, पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं। (अर्थात् मिथ्यात्व के पाँच, अविरति के पाँच, प्रमाद के पन्द्रह, योग के तीन और कषायों के चार भेद हैं) ॥३०॥

११२. वृत्त्यर्थ—मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा क्रोध आदि कषाय आस्रव के भेद हैं। जो अन्तरंग में वीतराग निज आत्म-तत्त्व के अनुभव की रुचि के विषय में विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) उत्पन्न कराने वाला है तथा बाहरी विषय में अन्य के शुद्ध आत्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न कराने वाला है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। अन्तरंग में निज परमात्मस्वरूप भावना से उत्पन्न परम-सुख-अमृत की प्रीति से विलक्षण तथा बाह्य विषय में व्रत आदि को धारण न करना, सो अविरति है। अन्तरंग में प्रमाद-रहित शुद्ध आत्म-अनुभव से डिगाने रूप और बाह्य विषय में मूलगुणों तथा उत्तरगुणों में मैल उत्पन्न करने वाला प्रमाद है। निश्चयनय की अपेक्षा क्रियारहित परमात्मा है, तो भी व्यवहारनय से वीर्यान्तराय कर्म के

प्रदेशपरिस्पन्दो योग इत्युच्यते। अभ्यन्तरे परमोपशममूर्तिकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावपरमात्मस्वरूप-क्षोभकारकाः बहिर्विषये तु परेषां सम्बन्धित्वेन क्रूरत्वाद्यावेशरूपाः क्रोधादयश्चेत्युक्तलक्षणाः पञ्चास्रवाः **अथ** अथो **विण्णेया** विज्ञेया ज्ञातव्याः। कतिभेदास्ते **पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु** पञ्चपञ्चपञ्चदशत्रिचतुर्भेदाः क्रमशो भवन्ति पुनः। तथाहि–

''एयंतबुद्धिदरसी विवरीओ बम्हा तावसो विणओ।
इंदो विय संसइदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी॥१॥''

इति गाथाकथितलक्षणं पञ्चविधं मिथ्यात्वम्। हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाकाङ्क्षारूपेणाविरतिरपि पञ्चविधा। अथवा मनःसहितपञ्चेन्द्रियप्रवृत्तिपृथिव्यादिषट्कायविराधनाभेदेन द्वादशविधा।

''विकहा तह कसाया इंदियणिद्दा य तह य पणयो य।
चदु चदु पणमेगेगं हुंति पमादा हु पण्णरस॥१॥''

क्षयोपशम से उत्पन्न मन, वचन, काय वर्गणा को अवलम्बन करने वाला, कर्मवर्गणा के ग्रहण करने में कारणभूत आत्मा के प्रदेशों का जो परिस्पन्द (संचलन) है उसको योग कहते हैं। अन्तरंग में परम-उपशम-मूर्ति केवलज्ञान आदि अनन्त, गुण-स्वभाव परमात्मरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा बाह्य विषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता आवेश रूप क्रोध आदि (कषाय) हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा कषाय ये पाँच भावास्रव हैं। अथ अहो **विण्णेया** ये जानने चाहिए। इन पाँच भावास्रवों के कितने भेद हैं? **पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु** उन मिथ्यात्व आदि के क्रम से पाँच, पाँच, पन्द्रह, तीन और चार भेद हैं। बौद्धमत एकान्त मिथ्यात्वी है, याज्ञिक ब्रह्म विपरीतमिथ्यात्व के धारक हैं, तापस विनयमिथ्यात्वी है, इन्द्राचार्य संशयमिथ्यात्वी है और मस्करी अज्ञानमिथ्यात्वी है। १।[१]

इस गाथा के कथनानुसार ५ तरह का मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह में इच्छा रूप अविरति भी पाँच प्रकार की है अथवा मन और पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति रूप ६ भेद तथा छहकाय के जीवों की विराधना रूप ६ भेद ऐसे बारह प्रकार की भी अविरति है।

चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा और राग ऐसे पन्द्रह प्रमाद होते हैं। मनो-व्यापार, वचनव्यापार और कायव्यापार इस तरह योग तीन प्रकार का है अथवा विस्तार से १५ प्रकार

---

१. यह गाथा गोम्मटसार जीवकाण्ड में गाथा सं॰ १६ के रूप में है। गोम्मटसार की जीवतत्त्व प्रदीपिका मन्दप्रबोधिनी दोनों ही टीकाओं में इन्द्र का अर्थ श्वेताम्बर गुरु ही किया है। परन्तु पं॰ खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री के विचार से यह भगवान् महावीर के समकालीन अनेक दिगम्बर जैनलिंग से भ्रष्ट होकर अपने-अपने मत के प्रवर्तक कुतीर्थंकरों में से कोई एक होना चाहिए जिसका कि पक्ष एक सत्य पक्ष का निश्चय न कर सकना रहा होगा।

गोम्मटसार जीवकाण्ड पृ॰ १४ [टिप्पण] (टीकाकार ब्र॰ पं॰ खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री।

इति गाथाकथितक्रमेण पञ्चदश प्रमादाः। मनोवचनकायव्यापारभेदेन त्रिविधो योगः, विस्तरेण पञ्चदशभेदो वा। क्रोधमानमायालोभभेदेन कषायाश्चत्वारः, कषायनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधा वा। एते सर्वे भेदाः कस्य सम्बन्धिनः **पुव्वस्स** पूर्वसूत्रोदितभावास्रवस्येत्यर्थः ॥३०॥

११३. अथ द्रव्यास्रवस्वरूपमुद्योतयति–

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥३१॥

ज्ञानावरणादिक कर्मों में ढलने की क्षमता वाले।
पुद्गल - आस्रव 'द्रव्यास्रव' है जिन कहते समता वाले ॥
रहा एक विध-द्विविध रहा वह चउविध, वसुविध, विविध रहा।
दुखद तथा है, जिसे काटता निश्चित ही मुनि-विबुध रहा ॥३१॥

११४. वृत्ति–णाणावरणादीणं सहजशुद्धकेवलज्ञानमभेदेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं ज्ञानशब्द-वाच्यं परमात्मानं वा आवृणोतीति ज्ञानावरणं, तदादिर्येषां तानि ज्ञानावरणादीनि तेषां ज्ञानावरणादीनां **जोग्गं** योग्यं **जं पुग्गलं समासवदि** स्नेहाभ्यक्तशरीराणां धूलिरेणुसमागम इव निष्कषायशुद्धात्मसंवित्तिच्युतजीवानां कर्मवर्गणारूपं यत्पुद्गलद्रव्यं समास्रवति **दव्वासवो स णेओ**

का है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन भेदों से कषाय चार प्रकार के हैं अथवा १६ कषाय और ९ नोकषाय इन भेदों से पच्चीस प्रकार के कषाय हैं। ये सब भेद किस आस्रव के हैं? **पुव्वस्स** पूर्वगाथा में कहे भावास्रव के हैं ॥३०॥

११३. अब द्रव्यास्रव का स्वरूप कहते हैं–

अन्वयार्थ–(णाणावरणादीणं जोग्गं) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य **(जं पुग्गलं)** जो पुद्गलद्रव्य **(समासवदि)** आता है अर्थात् कर्मरूप होता है **(स)** वह **(जिणक्खादो)** श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा गया **(अणेयभेओ)** अनेक भेद वाला **(दव्वासवो)** द्रव्यास्रव **(णेओ)** जानना चाहिए।

गाथार्थ–ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिए। वह अनेक भेदों वाला है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥३१॥

११४. वृत्त्यर्थ–णाणावरणादीणं सहज शुद्ध केवलज्ञान को अथवा अभेद की अपेक्षा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के आधारभूत, 'ज्ञान' शब्द से कहने योग्य परमात्मा को जो आवृत करे यानि ढके सो ज्ञानावरण है। वह ज्ञानावरण है आदि में जिनके ऐसे जो ज्ञानावरणादि हैं उनके **जोग्गं** योग्य **जं** जो **पुग्गलं** पुद्गल **समासवदि** आता है; जैसे तेल से चुपड़े शरीर वाले जीवों की देह पर धूल के कण आते हैं, उसी प्रकार कषायरहित शुद्ध आत्मानुभूति से रहित जीवों के जो कर्मवर्गणा रूप पुद्गल आता है, **दव्वासओ** स णेओ उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिए। **अणेयभेओ** वह

द्रव्यास्रवः स विज्ञेयः। **अणेयभेओ** स च ज्ञानदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसंज्ञानामष्ट-मूलप्रकृतीनां भेदेन, तथैव

''पण णव दु अट्ठवीसा चउ तियणवदी य दोण्णि पंचेव।
बावण्णहीण बियसयपयडिविणासेण होंति ते सिद्धा।१।''

(सिद्धभक्ति, गाथा ८)

इति गाथाकथितक्रमेणाष्टचत्वारिंशदधिकशतसंख्याप्रमितोत्तरप्रकृतिभेदेन तथा चासंख्येयलोक-प्रमितपृथिवीकायनामकर्माद्युत्तरोत्तरप्रकृतिरूपेणानेकभेद इति **जिणक्खादो** जिनख्यातो जिनप्रणीत इत्यर्थः ॥३१॥ एवमास्रवव्याख्यानगाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम्।

११५. अतः परं सूत्रद्वयेन बन्धव्याख्यानं क्रियते। तत्रादौ गाथापूर्वार्धेन भावबन्धमुत्तरार्धेन तु द्रव्यबन्धस्वरूप-मावेदयति–

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥३२॥

द्रव्य-भावमय 'बन्ध' तत्त्व भी द्विविध रहा है तुम जानो।
चेतन भावों से विधि बँधता भाव-बन्ध सो पहिचानो॥
आत्म-प्रदेशों कर्म प्रदेशों का आपस में घुल-मिलना।
द्रव्य-बन्ध है बन्धन टूटे आपस में हम तुम मिलना॥३२॥

अनेक प्रकार का है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय ये आठ मूल कर्मप्रकृति हैं तथा ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४, नाम के ९३, गोत्र के २ और अन्तराय के ५, इस प्रकार १४८ प्रकृतियों के नाश होने से सिद्ध होते हैं। इस गाथा में कहे हुए क्रम से एक सौ अड़तालीस १४८ उत्तरप्रकृतियाँ हैं और असंख्यात लोकप्रमाण जो पृथ्वीकाय नामकर्म आदि उत्तरोत्तर प्रकृति भेद हैं, उनकी अपेक्षा कर्म अनेक प्रकार का है। **जिणक्खादो** यह श्री जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है ॥३१॥

इस प्रकार आस्रव के व्याख्यान की तीन गाथाओं से प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

११५. अब इसके आगे दो गाथाओं से बन्ध का व्याख्यान करते हैं। उसमें प्रथम गाथा के पूर्वार्ध से भावबंध और उत्तरार्ध से द्रव्यबंध का स्वरूप कहते हैं–

अन्वयार्थ–(जेण) जिस **(चेदण-भावेण)** आत्मा के परिणाम से **(कम्मं बज्झदि)** कर्म बन्धता है **(सो)** वह **(भावबंधो)** भाव बन्ध है **(दु)** और **(कम्मादपदेसाणं)** कर्म व आत्मप्रदेशों का **(अण्णोण-पवेसणं)** परस्पर एकमेक हो मिलकर रहना **(इदरो)** उस भावबंध से अन्य, द्रव्यबन्ध है।

गाथार्थ–जिस चेतनभाव से कर्म बंधता है वह भावबंध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों

११६. वृत्ति—बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो बध्यते कर्म येन चेतनभावेन स भावबन्धो भवति। समस्तकर्मबन्धविध्वंसनसमर्थाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमचैतन्यविलासलक्षण-ज्ञानगुणस्य, अभेदनयेनानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतपरमात्मनो वा सम्बन्धिनी या तु निर्मलानुभूतिस्तद्विपक्षभूतेन मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण वाऽशुद्धचेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादिकर्म येन भावेन स भावबन्धो भण्यते। **कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो** कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्यप्रवेशनमितरः। तेनैव भावबन्धनिमित्तेन कर्मप्रदेशानामात्मप्रदेशानां च क्षीरनीरवदन्योन्यं प्रवेशनं संश्लेषो द्रव्यबन्ध इति ॥३२॥

११७. अथ तस्यैव बन्धस्य गाथापूर्वार्धेन प्रकृतिबन्धादिभेदचतुष्टयं कथयति, उत्तरार्धेन तु प्रकृतिबन्धादीनां कारणं चेति।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति॥३३॥

प्रदेश, अनुभव तथा प्रकृति थिति 'द्रव्य बन्ध' भी चउविध है।
प्रशम -भाव के पूर, जिनेश्वर-पद-पूजक कहते बुध हैं ॥
प्रदेश का औ प्रकृति-बन्ध का 'योग' रहा वह कारण है ।
अनुभव-थिति बन्धों का कारण 'कषाय' है वृष -मारण है ॥३३॥

का परस्पर प्रवेश अर्थात् कर्म और आत्मप्रदेशों का एकमेक होना द्रव्यबंध है ॥३२॥

११६. वृत्त्यर्थ—बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो जिस चैतन्य भाव से कर्म बंधता है, वह भावबंध है। समस्त कर्मबंध नष्ट करने में समर्थ, अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभास रूप परम-चैतन्य-विलास-लक्षण के धारक ज्ञान गुण की या अभेद-नय की अपेक्षा अनन्तज्ञान आदि गुणों के आधारभूत परमात्मा की जो निर्मल अनुभूति है उससे विरुद्ध मिथ्यात्व, राग आदि में परिणति रूप अशुद्ध-चेतन-भाव-स्वरूप जिस परिणाम से ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं, वह परिणाम भावबंध कहलाता है। **कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो** कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर मिलना दूसरा है, अर्थात् उस भावबंध के निमित्त से कर्म के प्रदेशों का और आत्मा के प्रदेशों का जो दूध और जल की तरह एक-दूसरे में प्रवेश होकर मिल जाना है सो द्रव्य बन्ध है ॥३२॥

११७. अब गाथा के पूर्वार्ध से उसी बन्ध के प्रकृतिबन्ध आदि चार भेद कहते हैं और उत्तरार्ध से उनके कारण का कथन करते हैं—

अन्वयार्थ—(पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा) प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से **(बंधो)** बन्ध **(चदुविहो)** चार प्रकार का होता है, उनमें से **(पयडिपदेसा)** प्रकृति और प्रदेश बन्ध तो **(जोगा)** मन-वचन-कायरूप योग से होते हैं **(दु)** तथा **(ठिदि-अणुभागा)** स्थिति और अनुभागबन्ध **(कसायदो)** कषाय से **(होंति)** होते हैं ।

११८. वृत्ति—पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेश-भेदाच्चतुर्विधो बन्धो भवति। तथाहि—ज्ञानावरणीयस्य कर्मणः का प्रकृतिः? देवतामुखवस्त्रमिव ज्ञानप्रच्छादनता। दर्शनावरणीयस्य का प्रकृतिः? राजदर्शनप्रतिषेधकप्रतीहारवद्दर्शनप्रच्छादनता। सातासाता-वेदनीयस्य का प्रकृतिः? मधुलिप्तखड्गधारास्वादनवदल्पसुखबहुदुःखोत्पादकता। मोहनीयस्य का प्रकृतिः? मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता। आयुः कर्मणः का प्रकृतिः? निगडवद्गत्यन्तरगमन-निवारणता। नामकर्मणः का प्रकृतिः? चित्रकारपुरुषवन्नानारूपकरणता। गोत्रकर्मणः का प्रकृतिः? गुरु-लघुभाजनकारककुम्भकारवदुच्चनीचगोत्रकरणता। अन्तरायकर्मणः का प्रकृतिः? भाण्डागारिकवद्दानादि-विघ्नकरणतेति। तथा चोक्तं—''**पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं जह एदेसिं भावा तह विह कम्मा मुणेयव्वा।१।**'' इति दृष्टान्ताष्टकेन प्रकृतिबन्धो ज्ञातव्यः॥

गाथार्थ—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बन्ध चार प्रकार का है। योगों से प्रकृति तथा प्रदेशबन्ध होते हैं और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बन्ध होते हैं ॥३३॥

११८. वृत्त्यर्थ—पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बंधो प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध इस तरह बन्ध चार प्रकार का है। ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति (स्वभाव) क्या है? उत्तर—जैसे देवता के मुख को परदा आच्छादित कर देता है (ढक देता है) उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को ढक देता है। दर्शनावरण की प्रकृति क्या है? राजा के दर्शन की रुकावट जैसे द्वारपाल करता है, उसी तरह दर्शनावरण दर्शन को नहीं होने देता। सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म की क्या प्रकृति है? मधु (शहद) से लिपटी हुई तलवार की धार चाटने से जैसे कुछ सुख और अधिक दुःख होता है, वैसे ही वेदनीय कर्म भी अल्प सुख और अधिक दुःख देता है। मोहनीय कर्म का क्या स्वभाव है? मद्यपान के समान, ''हेय उपादेय पदार्थ के ज्ञान की रहितता'' यह मोहनीय कर्म का स्वभाव अथवा मोहनीय कर्म की प्रकृति है। आयुकर्म की क्या प्रकृति है? बेड़ी के समान दूसरी गति में जाने को रोकना, यह आयुकर्म की प्रकृति है। नामकर्म की प्रकृति क्या है? चित्रकार के समान अनेक प्रकार के शरीर बनाना, यह नामकर्म की प्रकृति है। गोत्रकर्म का क्या स्वभाव है? छोटे-बड़े घट आदि को बनाने वाले कुम्भकार की तरह उच्च-नीच गोत्र का करना, यह गोत्रकर्म की प्रकृति है। अन्तरायकर्म का स्वभाव क्या है? भण्डारी के समान ''दान आदि में विघ्न करना'', यह अन्तरायकर्म की प्रकृति है। सो ही कहा है—पट, प्रतीहार, द्वारपाल, तलवार, मद्य, बेड़ी, चितेरा, कुम्भकार और भंडारी इन आठों का जैसा स्वभाव है वैसा ही क्रम से ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का स्वभाव जानना चाहिए॥१॥[1] इस प्रकार गाथा में कहे हुए आठ दृष्टान्तों के अनुसार प्रकृति बन्ध जानना चाहिए।

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड २१ पंचसंग्रह प्राकृत २/३

११९. अजागोमहिष्यादिदुग्धानां प्रहरद्वयादिस्वकीयमधुररसावस्थानपर्यन्तं यथास्थितिर्भण्यते तथा जीवप्रदेशेष्वपि यावत्कालं कर्मसंबंधेन स्थितिस्तावत्कालं स्थितिबन्धो ज्ञातव्यः। यथा च तेषामेव दुग्धानां तारतम्येन रसगतशक्ति विशेषोऽनुभागो भण्यते तथा जीवप्रदेशस्थितकर्मस्कन्धानामपि सुखदुःखदान-समर्थशक्तिविशेषोऽनुभागबन्धो विज्ञेयः। सा च घातिकर्मसंबंधिनी शक्तिर्लतादार्वस्थिपाषाणभेदेन[1] चतुर्धा। तथैवाशुभाऽघातिकर्मसंबंधिनी निम्बकाञ्जीर-विषहालाहलरूपेण। शुभाघातिकर्मसंबंधिनी पुनर्गुडखण्ड-शर्करामृतरूपेण चतुर्धा भवति। एकैकात्मप्रदेशे सिद्धानन्तैकभागसंख्या अभव्यानन्तगुणप्रमिता अनन्तानन्तपरमाणवः प्रतिक्षणबन्धमायान्तीति प्रदेशबन्धः॥

१२०. इदानीं बन्धकारणं कथ्यते। **जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।** योगात्-प्रकृतिप्रदेशौ, स्थित्यनुभागौ कषायतो भवत इति। तथाहि—निश्चयेन निष्क्रियाणामपि शुद्धात्मप्रदेशानां व्यवहारेण परिस्पन्दनहेतुर्योगः, तस्मात्प्रकृतिप्रदेशबन्धद्वयं भवति। निर्दोषपरमात्मभावनाप्रतिबन्धक-क्रोधादिकषायोदयात् स्थित्यनुभागबन्धद्वयं भवतीति। आस्रवे बन्धे च मिथ्यात्वाविरत्यादिकारणानि

---

११९. बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में जैसे दो पहर आदि समय तक अपने मधुर रस में रहने की मर्यादा है, (बकरी का दूध दो पहर तक अपने रस में ठीक स्थित रहता है; गाय, भैंस का दूध उससे अधिक देर तक ठीक बना रहता है) इत्यादि स्थिति का कथन है; उसी प्रकार जीव के प्रदेशों के साथ जितने काल तक कर्म सम्बन्ध की स्थिति है उतने काल को स्थितिबन्ध कहते हैं। जैसे उन बकरी आदि के दूध में तारतम्य से हीनाधिक मीठापन व चिकनाई शक्ति रूप अनुभाग कहा जाता है, उसी प्रकार जीव प्रदेशों में स्थित जो कर्मों के प्रदेश हैं, उनमें भी जो हीनाधिक सुख-दुःख देने की समर्थ शक्ति विशेष है, उसको अनुभाग बन्ध जानना चाहिए। घातिकर्म से सम्बन्ध रखने वाली वह शक्ति लता (बेल) काठ, हाड़ और पाषाण के भेद से चार प्रकार की है। उसी तरह अशुभ अघातिया कर्मों में शक्ति नीम, कांजीर (काली जीरी), विष तथा हालाहल रूप से चार तरह की है तथा शुभ अघातिया कर्मों की शक्ति गुड़, खांड, मिश्री तथा अमृत इन भेदों से चार तरह की है। एक-एक आत्मा के प्रदेश में सिद्धों से अनन्तैक भाग (सिद्धों के अनन्तवें भाग) और अभव्य राशि से अनन्त गुणे ऐसे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण में बन्ध को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रदेश बन्ध का स्वरूप है।

१२०. अब बन्ध का कारण कहते हैं—**जोगो पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुन्ति** योग से प्रकृति, प्रदेश और कषाय से स्थित अनुभाग बन्ध होते हैं। निश्चयनय से क्रिया रहित शुद्ध आत्मा के प्रदेश हैं, व्यवहार नय से उन आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन का (चलायमान करने का) जो कारण है उसको योग कहते हैं। उस योग से प्रकृति प्रदेश दो बन्ध होते हैं। दोषरहित परमात्मा की भावना (ध्यान) के प्रतिबन्ध करने वाले क्रोध आदि कषाय के उदय से स्थिति और अनुभाग ये दो बन्ध होते हैं। **शंका—**आस्रव और बन्ध के होने में मिथ्यात्व, अविरति आदि कारण समान हैं, इसलिए

---

१. 'शक्तिभेदेन' इति पाठान्तरम्

समानानि को विशेष इति चेत्, नैवं–प्रथमक्षणे कर्मस्कन्धानामागमनमास्रव:, आगमनानन्तरं द्वितीयक्षणादौ जीवप्रदेशेष्ववस्थानं बन्ध इति भेद:। यत एव योगकषायाद्बन्धचतुष्टयं भवति तत एव बन्धविनाशार्थं योगकषायत्यागेन निजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् ॥३३॥ एवं बन्धव्याख्यानेन सूत्रद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतम्॥

१२१. अत ऊर्ध्वं गाथाद्वयेन संवरपदार्थ: कथ्यते। तत्र प्रथमगाथायां भावसंवरद्रव्यसंवरस्वरूपं निरूपयति–

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥३४॥

चेतनगुण से मंडित जो है, आतम का परिणाम रहा।
कर्मास्रव के निरोध में है कारण सो अभिराम रहा॥
यही 'भाव-संवर' है माना स्वाश्रित है सम्बल वर है।
कर्मास्रव का रुक जाना ही रहा 'द्रव्य-संवर' जड़ है ॥३४॥

१२२. **वृत्ति–चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवरो खलु**

आस्रव और बन्ध में क्या भेद है? **उत्तर–**यह शंका ठीक नहीं क्योंकि प्रथम क्षण में जो कर्मस्कन्धों का आगमन है वह तो आस्रव है और कर्मस्कन्धों के आगमन के पीछे द्वितीय क्षण में जो उन कर्मस्कन्धों का जीव के प्रदेशों में स्थित होना, सो बन्ध है। यह भेद आस्रव और बन्ध में है क्योंकि योग और कषायों से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग नामक चार बन्ध होते हैं। इस कारण बन्ध का नाश करने के लिए योग तथा कषाय का त्याग करके अपनी शुद्ध आत्मा में भावना करनी चाहिए; यह तात्पर्य है ॥३३॥ इस तरह बन्ध के व्याख्यानरूप जो दो गाथासूत्र हैं, उनके द्वारा द्वितीय अध्याय में द्वितीय स्थल समाप्त हुआ।

१२१. अब इसके आगे दो गाथाओं द्वारा संवर पदार्थ का कथन करते हैं। उनमें से प्रथम गाथा में भावसंवर और द्रव्यसंवर का स्वरूप निरूपण करते हैं–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(चेदणपरिणामो)** आत्मा का परिणाम **(कम्मस्सासव-णिरोहणे)** कर्म के आस्रव के रोकने में **(हेदू)** कारण है **(सो)** वह **(खलु)** निश्चय से **(भावसंवरो)** भाव संवर है तथा **(दव्वासव-रोहणे)** द्रव्यास्रव का रुकना **(अण्णो)** अन्य है अर्थात् भाव संवर से भिन्न द्रव्य संवर है।

गाथार्थ–आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है, उसको भावसंवर कहते हैं। और जो द्रव्यास्रव का रुकना है सो द्रव्यसंवर है ॥३४॥

१२२. **वृत्त्यर्थ–चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवरो खलु** जो

चेतनपरिणामो यः कथंभूतः कर्मास्रवनिरोधने हेतुः स भावसंवरो भवति खलु निश्चयेन। **दव्वासवरोहणे अण्णो** द्रव्यकर्मास्रवनिरोधने सत्यन्यो द्रव्यसंवर इति। तद्यथा–निश्चयेन स्वतः सिद्धत्वात्परकारण-निरपेक्षः, स चैवाविनश्वरत्वान्नित्यः परमोद्योतस्वभावत्वात्स्वपरप्रकाशनसमर्थः, अनाद्यनन्तत्वादादि-मध्यान्तमुक्तः,दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तरागादिविभावमलरहितत्वादत्यन्तनिर्मलाः, परमचैतन्यविलासलक्षणत्वाच्चिदुच्छलननिर्भरः, स्वाभाविकपरमानन्दैकलक्षणत्वात्परमसुखमूर्तिः, निरास्रव-सहजस्वभावत्वात्सर्वकर्मसंवरहेतुरित्युक्तलक्षणः परमात्मा तत्स्वभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणामः स भावसंवरो भवति। यस्तु भावसंवरात्कारणभूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागमनाभावः स द्रव्यसंवर इत्यर्थः॥

१२३. अथ संवरविषयनयविभागः कथ्यते। तथाहि–मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तमुपर्युपरि मन्दत्वात्तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्त्तते। तस्य मध्ये पुनर्गुणस्थानभेदेन शुभाशुभशुद्धानुष्ठानरूप-योगत्रयव्यापारस्तिष्ठति। तदुच्यते–मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानेषूपर्युपरिमन्दत्वेनाशुभोपयोगो वर्त्तते, ततोऽप्यसंयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्त्तते, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूप

चेतन परिणाम कर्म-आस्रव को रोकने में कारण है, वह निश्चय से भावसंवर है। **दव्वासवरोहणे अण्णो** द्रव्यकर्मों के आस्रव का निरोध होने पर दूसरा द्रव्यसंवर होता है। वह इस प्रकार है—निश्चयनय से स्वयं सिद्ध होने से अन्य कारण की अपेक्षा से रहित, अविनाशी होने से नित्य, परम प्रकाश स्वभाव होने से स्व-पर प्रकाशन में समर्थ, अनादि अनन्त होने से आदि, मध्य और अन्तरहित, देखे, सुने और अनुभव किए हुए भोगों की आकांक्षा रूप निदान बन्ध आदि समस्त रागादिक विभावमल से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल, परम चैतन्यविलासरूप लक्षण का धारक होने से चित्-चमत्कार से भरपूर, स्वाभाविक परमानन्दस्वरूप होने से परम सुख की मूर्ति और आस्रवरहित-सहज-स्वभाव होने से सब कर्मों के संवर में कारण, इन लक्षणों वाले परमात्मा के स्वभाव की भावना से उत्पन्न जो शुद्ध चेतन परिणाम है सो भावसंवर है। कारणभूत भावसंवर से उत्पन्न हुआ जो कार्यरूप नवीन द्रव्य-कर्मों के आगमन का अभाव सो द्रव्यसंवर है। यह गाथार्थ है।

१२३. अब संवर के विषय में नयों का विभाग कहते हैं—मिथ्यात्व गुणस्थान से क्षीणकषाय (बारहवें) गुणस्थान तक ऊपर-ऊपर मन्दता के तारतम्य से अशुद्ध निश्चय वर्तता है। उसमें गुणस्थानों के भेद से शुभ, अशुभ और शुद्ध अनुष्ठानरूप तीन उपयोगों का व्यापार होता है। सो कहते हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र, इन तीनों गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मन्दता से अशुभ उपयोग होता है, (जो अशुभोपयोग प्रथम गुणस्थान में है, उससे कम दूसरे में और दूसरे से कम तीसरे में है)। उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत, इन तीन गुणस्थानों में परम्परा से शुद्ध-उपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतम्य से शुभ उपयोग रहता है। तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीणकषाय

शुद्धोपयोगो वर्त्तते, तत्रैवं मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने संवरो नास्ति, सासादनादिगुणस्थानेषु

"सोलसपणवीसणभं दसचउ-छक्केक्कबंधवोछिण्णा।
दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलस जोगिणो एक्को।१।"

इति बन्धविच्छेदत्रिभङ्गीकथितक्रमेणोपर्युपरि प्रकर्षेण संवरो ज्ञातव्य इति। अशुद्धनिश्चयमध्ये मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानेषूपयोगत्रयं व्याख्यातं।

१२४. तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोगः कथं घटत इति चेत्तत्रोत्तरं—शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते। स च संवरशब्दवाच्यः शुद्धोपयोगः संसारकारणभूतमिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्यायवत् शुद्धोऽपि न भवति किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्ध-पर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते।

१२५. कश्चिदाह—केवलज्ञानं सकलनिरावरणं शुद्धं तस्य कारणेनापि सकलनिरावरणेन शुद्धेन

तक छह गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एक देश शुद्धनयरूप शुद्ध उपयोग वर्तता है। इनमें से—मिथ्यादृष्टि (प्रथम) गुणस्थान में तो संवर है ही नहीं। सासादन आदि गुणस्थानों में, मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान में १६, दूसरे में २५, तीसरे में शून्य, चौथे में १०, पाँचवें में ४, छठे में ६, सातवें में १, आठवें में २, ३० व ४, नौवें में ५, दसवें में १६ और सयोग केवली के १ प्रकृति की बन्ध व्युच्छित्ति होती है।[1] इस प्रकार बन्धविच्छेद त्रिभंगी में कहे हुए कर्म के अनुसार ऊपर-ऊपर अधिकता से संवर जानना चाहिए। ऐसे अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अशुभ, शुभ, शुद्ध रूप तीनों उपयोगों का व्याख्यान किया।

१२४. **शंका**—इस अशुद्ध निश्चयनय में शुद्ध उपयोग किस प्रकार घटित होता है? **उत्तर**—शुद्ध उपयोग में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव का धारक स्व-आत्मा ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) होता है, इस कारण उपयोग में शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध अवलम्बनपने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है। 'संवर' इस शब्द से कहे जाने वाला वह शुद्धोपयोग, संसार के कारणभूत मिथ्यात्व-राग आदि अशुद्ध पर्यायों की तरह अशुद्ध नहीं होता; तथा फलभूत केवलज्ञान स्वरूप शुद्ध पर्याय की भाँति (वह शुद्धोपयोग) शुद्ध भी नहीं होता किन्तु उन अशुद्ध तथा शुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण, शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप निश्चय रत्नत्रय रूप, मोक्ष का कारण, एकदेश में प्रकट रूप और एकदेश में आवरणरहित ऐसा तीसरी अवस्थान्तर रूप कहा जाता है।

१२५. कोई शंका करता है—केवलज्ञान समस्त आवरण से रहित शुद्ध है, इसलिए केवलज्ञान

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड ९४

भाव्यम्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात्। तत्रोत्तरं दीयते–युक्तमुक्तं भवता परं किन्तूपादान-कारणमपि षोडशवर्णिकासुवर्णकार्यस्याधस्तनवर्णिकोपादानकारणवत् मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिण्ड-स्थासकोशकुशूलोपादानकारणवदिति–च कार्यादेकदेशेन भिन्नं भवति। यदि पुनरेकान्तेनोपादानकारणस्य कार्येण सहाभेदो भेदो वा भवति तर्हि पूर्वोक्तसुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारणभावो न घटते।

१२६. ततः किं सिद्धं–एकदेशेन निरावरणत्वेन क्षायोपशमिकज्ञानलक्षणमेकदेशव्यक्तिरूपं विवक्षितैकदेशेशुद्धनयेन संवरशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं मुक्तिकारणं भवति। यच्च लब्ध्यपर्याप्त-सूक्ष्मनिगोदजीवे नित्योद्घाटं निरावरणं ज्ञानं श्रूयते तदपि सूक्ष्मनिगोदसर्वजघन्यक्षयोपशमापेक्षया निरावरणं न च सर्वथा। कस्मादिति चेत्–तदावरणे जीवाभावः प्राप्नोति। वस्तुत उपरितनक्षायोपशमिकज्ञानापेक्षया केवलज्ञानापेक्षया च तदपि सावरणं संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावाच्च क्षायोपशमिकमेव। यदि पुनर्लोचनपटलस्यैकदेशनिरावरणवत्केवलज्ञानांशरूपं भवति तर्हि तेनैक देशेनापि लोकालोकप्रत्यक्षतां

का कारण भी समस्त आवरण रहित शुद्ध होना चाहिए, क्योंकि ''उपादान कारण के समान कार्य होता है'' ऐसा आगम वचन है? इस शंका का उत्तर देते हैं—आपने ठीक कहा; किन्तु उपादान कारण भी, सोलह वानी के सुवर्णरूप कार्य के पूर्व-वर्तिनी वर्णिकारूप उपादान कारण के समान और मिट्टी रूप घट कार्य के प्रति मिट्टी का पिण्ड, स्थास, कोश तथा कुशूल रूप उपादान कारण के समान, कार्य से एकदेश भिन्न होता है (सोलह वानी के सोने के प्रति जैसे पूर्व की सब पन्द्रह वर्णिकायें उपादान कारण हैं और घट के प्रति जैसे मिट्टी पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि उपादान कारण हैं, सो सोलह वानी के सुवर्ण और घट रूप कार्य से एकदेश भिन्न हैं, बिल्कुल सोलह वानी के सुवर्ण रूप और घट रूप नहीं हैं। इसी तरह सब उपादान कारण कार्य से एकदेश भिन्न होते हैं)। यदि उपादान कारण का कार्य के साथ एकान्त से सर्वथा अभेद या भेद हो तो उपर्युक्त सुवर्ण और मिट्टी के दो दृष्टान्तों के समान कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता।

१२६. इससे क्या सिद्ध हुआ? एकदेश निरावरणता से क्षायोपशमिक ज्ञान रूप लक्षणवाला एकदेश व्यक्ति रूप, विवक्षित एकदेश शुद्धनय की अपेक्षा संवर शब्द से वाच्य शुद्ध उपयोग स्वरूप क्षायोपशमिक ज्ञान मुक्ति का कारण होता है। जो लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद जीव में नित्य उद्घाटित तथा आवरणरहित ज्ञान सुना जाता है, वह भी सूक्ष्म निगोद में ज्ञानावरण कर्म का सर्व जघन्य क्षयोपशम की अपेक्षा से आवरणरहित है किन्तु सर्वथा आवरणरहित नहीं है। वह आवरणरहित क्यों रहता है? **उत्तर—**यदि उस जघन्य ज्ञान का भी आवरण हो जावे तो जीव का ही अभाव हो जायेगा। वास्तव में तो उपरिवर्ती क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा और केवलज्ञान की अपेक्षा से वह ज्ञान भी आवरण सहित है, क्योंकि संसारी जीवों के क्षायिक ज्ञान का अभाव है इसलिए निगोदिया का वह ज्ञान क्षायोपशमिक ही है। यदि नेत्रपटल के एकदेश में निरावरण के समान वह ज्ञान केवलज्ञान का अंशरूप हो तो उस एकदेश (अंश) से भी लोकालोक प्रत्यक्ष हो जाये; परन्तु ऐसा

प्राप्नोति न च तथा दृश्यते। किन्तु प्रचुरमेघप्रच्छादितादित्यबिम्बवन्निबिडलोचनपटलवद्वा स्तोकं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥

१२७. अथ क्षयोपशमलक्षणं कथ्यते—सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिकाः कर्मशक्तयः सर्वघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिकाः शक्तयो देशघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभाव एव क्षयस्तेषामेवास्तित्वमुपशम उच्यते सर्वघात्युदयाभावलक्षणक्षयेण सहित उपशमः तेषामेकदेशघातिस्पर्द्धकानामुदयश्चेति समुदायेन क्षयोपशमो भण्यते। क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिको भावः। अथवा देशघातिस्पर्द्धकोदये सति जीव एकदेशेन ज्ञानादिगुणं लभते यत्र स क्षायोपशमिको भावः। तेन किं सिद्धं—पूर्वोक्तसूक्ष्मनिगोदजीवे ज्ञानावरणीयदेशघातिस्पर्द्धकोदये सत्येक-देशेन ज्ञानगुणं लभ्यते तेन कारणेन तत् क्षायोपशमिकं ज्ञानं न च क्षायिकं कस्मादेकदेशोदयसद्भावादिति।

१२८.अयमत्रार्थः-यद्यपि पूर्वोक्तं शुद्धोपयोगलक्षणं क्षायोपशमिकं ज्ञानं मुक्तिकारणं भवति तथापि ध्यातृपुरुषेण यदेव नित्यसकलनिरावरणमखण्डैकसकलविमलकेवलज्ञानलक्षणं परमात्मस्वरूपं तदेवाहं न च खण्डज्ञानरूप इति भावनीयम्। इति संवरतत्त्वव्याख्यानविषये नयविभागो ज्ञातव्य इति ॥३४॥

१२९. अथ संवरकारणभेदान् कथयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु कैः कृत्वा संवरो भवतीति पृष्टे

देखा नहीं जाता; किन्तु अधिक बादलों से आच्छादित सूर्य-बिम्ब के समान या निबिड़ नेत्रपटल के समान, निगोदिया का ज्ञान सबसे थोड़ा जानता है, यह तात्पर्य है।

१२७. अब क्षयोपशम का लक्षण कहते हैं—सब प्रकार से आत्मा के गुणों का आच्छादन करने वाली कर्मों की जो शक्तियाँ हैं, उनको 'सर्वघातिस्पर्द्धक' कहते हैं और विवक्षित एक देश से जो आत्मा के गुणों को आच्छादन करने वाली कर्मशक्तियाँ हैं वे 'देशघातिस्पर्द्धक' कहलाती हैं। सर्वघातिस्पर्द्धकों के उदय का जो अभाव है सो ही क्षय है और उन्हीं सर्वघातिस्पर्द्धकों का जो अस्तित्व है वह उपशम कहलाता है। सर्वघातिस्पर्द्धकों के उदय का अभावरूप क्षय सहित उपशम और उन (कर्मों) के एकदेश घातिस्पर्द्धकों का उदय होना, सो ऐसे तीन प्रकार के समुदाय से क्षयोपशम कहा जाता है। क्षयोपशम में जो भाव हो, वह क्षायोपशमिक भाव है। अथवा देशघातिस्पर्द्धकों के उदय के होते हुए, जीव जो एकदेश ज्ञानादि गुण प्राप्त करता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इससे क्या सिद्ध हुआ? पूर्वोक्त सूक्ष्म निगोद जीव में ज्ञानावरण कर्म के देशघातिस्पर्द्धकों का उदय होने के कारण एकदेश से ज्ञान गुण होता है, इस कारण वह ज्ञान क्षायोपशमिक है, क्षायिक नहीं; क्योंकि वहाँ कर्म के एकदेश उदय का सद्भाव है।

१२८. यहाँ सारांश यह है—यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोग लक्षणवाला क्षायोपशमिक ज्ञान मुक्ति का कारण है तथापि ध्यान करने वाले पुरुष को, ''नित्य सकल-आवरणों से रहित, अखण्ड, एक सकल विमल केवलज्ञानरूप परमात्मा का जो स्वरूप है, वही मैं हूँ, खण्ड ज्ञानरूप नहीं हूँ,'' ऐसा ध्यान करना चाहिए। इस तरह संवर तत्त्व के व्याख्यान में नय का विभाग जानना चाहिए ॥३४॥

१२९. अब संवर के कारणों के भेद कहते हैं, यह एक भूमिका है। किनसे संवर होता है? इस

प्रत्युत्तरं ददातीति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति भगवान्–

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥३५॥

पञ्च-समितियाँ तीन-गुप्तियाँ पञ्च-व्रतों का पालन हो।
बार-बार बारह-भावन भी दश-धर्मों का धारण हो॥
तथा विजय हो परीषहों पर बहुविध-चारित में रमना।
भेद 'भाव-संवर' के ये सब रमते इनमें वे श्रमणा ॥३५॥

१३०. वृत्ति—वदसमिदीगुत्तीओ व्रतसमितिगुप्तयः **धम्माणुपेहा** धर्मस्तथैवानुप्रेक्षाः **परीसहजओ य** परीषहजयश्च **चारित्तं बहुभेया** चारित्रं बहुभेदयुक्तं **णायव्वा भावसंवरविसेसा** एते सर्वे मिलिता भावसंवरविशेषा भेदा ज्ञातव्याः। अथ विस्तरः—निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्व-भावनोत्पन्नसुखसुधास्वादबलेन समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्, व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पञ्चविधं व्रतम्। निश्चयेनानन्तज्ञानादिस्वभावे निजात्मनि सम्सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिन्तनतन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं

प्रश्न का उत्तर देने वाली दूसरी भूमिका है, इन दोनों भूमिकाओं को मन में धारण करके, श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव गाथासूत्र कहते हैं—

अन्वयार्थ—(वदसमिदीगुत्तीओ) व्रत, समिति, गुप्ति, **(धम्माणुपेहा)** धर्म, अनुप्रेक्षा, **(परीसहजओ)** परीषहजय **(य)** और **(बहुभेया)** बहुत प्रकार वाला **(चारित्तं)** चारित्र ये सभी **(भावसंवरविसेसा)** भावसंवर के भेद **(णायव्वा)** जानना चाहिए।

गाथार्थ—पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस तरह ये सब भावसंवर के भेद जानने चाहिए ॥३५॥

१३०. वृत्त्यर्थ—वदसमिदीगुत्तीओ व्रत, समिति, गुप्तियाँ **धम्माणुपेहा** धर्म और अनुप्रेक्षा, **परीसहजओ य** और परीषहों का जीतना, **चारित्तं बहुभेया** अनेक प्रकार का चारित्र, **णायव्वा भावसंवरविसेसा** ये सब मिलकर भावसंवर के भेद जानने चाहिए। अब इसको विस्तार से कहते हैं—निश्चयनय की अपेक्षा विशुद्ध ज्ञान दर्शन रूप स्वभाव धारक निज-आत्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के आस्वाद के बल से सब शुभ—अशुभ राग आदि विकल्पों से रहित होना व्रत है। व्यवहारनय से उस निश्चय व्रत को साधने वाला हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से जीवन भर त्याग रूप पाँच प्रकार का व्रत है। निश्चयनय की अपेक्षा अनन्तज्ञान-आदि स्वभाव धारक निज आत्मा है, उसमें 'सम' भले प्रकार, अर्थात् समस्त रागादि विभागों के त्याग द्वारा आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना आदिरूप से जो अयन कहिये गमन अर्थात्

समितिः, व्यवहारेण तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूताचारादिचरणग्रन्थोक्ता ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञाः पञ्च समितयः। निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावनालक्षणे गूढस्थाने संसारकारणरागादिभयात्स्वस्यात्मनो गोपनं प्रच्छादनं झम्पनं प्रवेशनं रक्षणं गुप्तिः व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं मनोवचनकायव्यापारनिरोधो गुप्तिः। निश्चयेन संसारे पतन्तमात्मानं धरतीति विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणनिजशुद्धात्मभावनात्मको धर्मः, व्यवहारेण तत्साधनार्थं देवेन्द्रनरेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्य-लक्षणो दशप्रकारो धर्मः।

१३१. तद्यथा–प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं धर्मवचनं। क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविषह्याक्रोशादिसंभवेऽ-कालुष्योपरमः क्षमा। शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रहसनाव-ज्ञानताडनशरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमा इति उच्यते ॥१॥

१३२. जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवं ॥२॥ योगस्यावक्रता आर्जवं। योगस्य कायवाङ्-मनोलक्षणस्यावक्रता आर्जवं इति उच्यते ॥३॥ सत्सु साधुवचनं सत्यं। सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यमिति उच्यते ॥४॥ प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः शौचं। लोभस्य निवृत्तिः प्रकर्षप्राप्ता, शुचेर्भावः कर्म वा

परिणमन सो समिति है। व्यवहार से उस निश्चय समिति के बहिरंग सहकारी कारणभूत आचार चारित्र विषयक ग्रन्थों में कही हुई ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं। निश्चय से सहज-शुद्ध-आत्म-भावनारूप गुप्त स्थान में संसार के कारणभूत रागादि के भय से अपने आत्मा का जो छिपाना, प्रच्छादन, झंपन, प्रवेशन या रक्षा करना है, सो गुप्ति है। व्यवहारनय से बहिरंग साधन के अर्थ जो मन, वचन, काय की क्रिया को रोकना सो गुप्ति है। निश्चय से संसार में गिरते हुए आत्मा को जो धारण करे (बचावे) सो विशुद्ध ज्ञान, दर्शन, लक्षणमयी निज शुद्ध आत्मा की भावनास्वरूप धर्म है। व्यवहारनय से उसके साधन के लिए इन्द्र, चक्रवर्ती आदि से जो वन्दने योग्य पद है, उसमें पहुँचाने वाला उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्यरूप दस प्रकार का धर्म है।

१३१. वे धर्म इस प्रकार हैं, जो समिति-पालन में प्रवृत्तिरूप हैं, उनके प्रमाद को दूर करने के लिए धर्म का निरूपण किया गया है। क्रोध उत्पन्न होने में निमित्तीभूत ऐसे असह्य दुर्वचन आदि के अवसर प्राप्त होने पर कलुषता का न होना क्षमा है अर्थात् शरीर की स्थिति का कारण जो शुद्ध आहार उसकी खोज के लिए पर-कुलों (गृहों) में जाते हुए मुनि को दुष्टजनों द्वारा गाली, हास्य, निरादर के वचन कहे जाने पर भी तथा ताड़न, शरीर-घात इत्यादि क्रोध उत्पन्न होने के निमित्त कारण मिलने पर भी परिणामों में मलिनता न आना, इस ही का नाम क्षमा कहा गया है ॥१॥

१३२. उत्तम जाति आदि मद के आवेग से अभिमान का न होना मार्दव है ॥२॥ योगों की अकुटिलता आर्जव है अर्थात् मन-वचन-कायरूप योगों की सरलता को आर्जव कहा गया है ॥३॥ सत्जनों से साधुवचन बोलना सत्य है अर्थात् प्रशस्त एवं श्रेष्ठ सज्जन पुरुषों से जो समीचीन वचन बोलना, वह सत्य कहलाता है ॥४॥ लोभ की निवृत्ति की प्रकर्षता होना, शौच है। शुचि नाम

शौचं इति निश्चीयते ॥५॥ समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः। ईर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्तत्प्रतिपालनार्थः प्राणीन्द्रियपरिहारः संयम इत्युच्यते। एकेन्द्रियादि प्राणिपीडापरिहारः प्राणिसंयमः। शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्ग इन्द्रियसंयमः।

१३३. तत्प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशः। तद्यथा—अष्टौ शुद्धयः—भावशुद्धिः, कायशुद्धिः, विनयशुद्धिः, ईर्यापथशुद्धिः, भिक्षाशुद्धिः, प्रतिष्ठापनशुद्धिः, शयनासनशुद्धिः, वाक्यशुद्धिश्चेति। तत्र भाव-शुद्धिः, कर्मक्षयोपशमजनिता, मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा, रागाद्युपप्लवरहिता। कायशुद्धिः, निरावरणा-भरणा, निरस्तसंस्कारा, यथाजातमलधारिणी, निराकृताङ्गविकारा। विनयशुद्धिः, अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हं पूजाप्रवणा, ज्ञानादिषु च यथाविधिभक्तियुक्ता, गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः। ईर्यापथशुद्धिः, नानाविध-जीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीड़ा, ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी, द्रुतविलम्बितसम्भ्रांतविस्मितलीलाविकारादिगान्तरावलोकनादिदोषविरहितगमना। भिक्षाशुद्धिः,आचार-सूत्रोक्तकालदेशप्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला, लाभालाभमानापमानसमानमनोवृत्तिः, लोकगर्हितकुलपरिवर्जन-

---

पवित्रता का है, शुचि के भाव व कर्म को शौच कहते हैं ॥५॥ समितियों के पालन करने वाले मुनिराज का प्राणियों की रक्षा करना तथा इन्द्रियों के विषयों का निषेध संयम है, अर्थात् ईर्यासमिति आदि में प्रवर्तमान मुनि का उनकी (समिति की) प्रतिपालना के लिए प्राणीपीड़ापरिहार एवं इंद्रियविषयासक्ति-परिहार को संयम कहते हैं। एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा का त्याग प्राणिसंयम है, शब्दादि इन्द्रिय-विषयों में राग का लगाव न होना इन्द्रिय-संयम है।

१३३. उस संयम का विशेष निरूपण करने के लिए अथवा उसकी पालना के लिए अष्टशुद्धियों का उपदेश है। वे अष्टशुद्धि इस प्रकार हैं—भावशुद्धि-कायशुद्धि-विनयशुद्धि-ईर्यापथशुद्धि-भिक्षाशुद्धि-प्रतिष्ठापनशुद्धि-शयनासनशुद्धि-वाक्यशुद्धि। इनमें **भावशुद्धि** कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है, मोक्षमार्ग में रुचि होने से परिणामों को निर्मल करने वाली है तथा रागादि विकार से रहित है। १। **कायशुद्धि—**आवरण एवं आभूषणों से रहित, समस्त संस्कारों से अतीत, बालक (यथाजात) के समान धूलि-धूसरित देह को धारण करने वाला शरीर विकारों से रहित है। २। **विनयशुद्धि—**परम गुरु अरहन्तादि की यथायोग्य पूजा में तत्परता जहाँ रहती है, ज्ञानादि में यथाविधि भक्ति जहाँ की जाती है, गुरु के प्रति जहाँ सर्वत्र अनुकूल वृत्ति होती है। ३। **ईर्यापथ शुद्धि—**नाना प्रकार के जीवों की उत्पत्ति के स्थान तथा योनिरूप आश्रयों का बोध होने से ऐसा प्रयत्न करना जिससे जीवों को पीड़ा न हो, ज्ञानरूपी सूर्य से एवं इन्द्रियों से तथा प्रकाश से भले प्रकार देखे हुए प्रदेश में गमन करना, जल्दी चलना, देर से चलना, चंचल उपयोग सहित चलना, साश्चर्य चलना, क्रीड़ा करते हुए चलना, विकार-युक्त चलना, इधर-उधर दिशाओं में देखते हुए चलना, इत्यादि चलने सम्बन्धी दोषों से रहित गमन करना। ४। **भिक्षाशुद्धि—**आचारसूत्र में कहे अनुसार काल, देश, प्रकृति का बोध करना, लाभ-अलाभ, मान-अपमान में समान मनोवृत्ति का रहना; लोकनिंद्य परिवारों में आहार के

परा, चन्द्रगतिरिवहीनाधिकगृहा, विशिष्टोपस्थाना दीनानाथदानशालाविवाहय जनगेहादि परिवर्जनोपलक्षिता, दीनवृत्तिधिगमा, प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना, आगमविहित निरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला। प्रतिष्ठापनशुद्धिः, नखरोमसिङ्घाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च जंतूपरोधविरहिता। शयनासनशुद्धिः, स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौण्डशाकुनिकादिपापजनवासा वर्ज्याः, अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिताः सेव्याः। वाक्यशुद्धिः, पृथिवीकायिकारम्भादिप्रेरणरहिता, परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका, व्रतशीलदेशनादिप्रधानफला, हितमितमधुरमनोहरा, संयतस्य योग्या, इति संयमान्तर्गताष्टशुद्धयः ॥६॥

१३४. कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः। तद्द्विविधं, बाह्यमभ्यन्तरं च, तत्प्रत्यकं षड्विधम् ॥७॥ परिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः। परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते अथवा संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्याग इत्युच्यते ॥८॥ ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिंचन्यं। उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसंधिनिवृत्तिराकिञ्चन्यमित्याख्यायते। नास्य किञ्चनास्ति इत्यकिञ्चनः, तस्य भावः कर्म वा

लिए नहीं जाना, चन्द्रमा की गति के समान कम और अधिक गृहों की जिसमें मर्यादा हो, विशेष रूप से जो स्थान दीन-अनाथों के लिए दानशाला हो अथवा विवाह तथा यज्ञ जिस गृह में हो रहे हों, ऐसे स्थानों में आहार के लिए चर्या नहीं करना। (अन्तराय एवं अनेक उपवासों के पश्चात् भी) दीन-वृत्ति का न होना। प्रासुक आहार खोजना ही जहाँ मुख्य लक्ष्य है। आगम विधि के अनुसार निर्दोष भोजन की प्राप्ति से प्राणों की स्थिति मात्र है लक्ष्य जिसमें, ऐसी भिक्षाशुद्धि है। ५। **प्रतिष्ठापनशुद्धि**—नख-रोम-नासिकामल-कफ-वीर्य-मल-मूत्र की क्षेपणक्रिया में तथा शरीर की उठने-बैठने की क्रिया इत्यादि में जन्तुओं को बाधा न होने देना। ६। **शयनासनशुद्धि**—स्त्री, क्षुद्र पुरुष, चोर, मद्यपायी, जुआरी, मद्य-विक्रेता तथा पक्षियों को पकड़ने वाले आदि के स्थानों में नहीं बसना चाहिए। प्राकृतिक गिरि-गुफा, वृक्ष का कोटर तथा कृत्रिम सूने घर, छूटे हुए वा छोड़े हुए स्थानों में, जो अपने लिए नहीं बनाये गये हों, बसना चाहिए। ७। **वाक्यशुद्धि**-पृथिवीकायिकादि सम्बन्धी आरम्भ आदि की प्रेरणा जिसमें न हो, जो कठोर निष्ठुर और परपीड़ाकारी प्रयोगों से रहित हो, व्रतशील आदि का उपदेश देने वाली हो, हित-मित-मधुर मनोहर और संयमी के योग्य हो, ऐसी वाक्यशुद्धि है। ८। इस प्रकार संयम के अन्तर्गत आठ शुद्धियों का वर्णन हुआ।

१३४. कर्मक्षय के लिए जो तपा जाये वह तप है। वह तप दो प्रकार का है—बाह्य तप, अन्तरंग तप। इनमें से प्रत्येक छह प्रकार का है ॥७॥ परिग्रह की निवृत्ति त्याग है। चेतन-अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं अथवा संयमी के योग्य ज्ञानादि के दान को भी त्याग कहा गया है ॥८॥ ''यह मेरा है'' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग आकिंचन्य है अर्थात् जो शरीरादि प्राप्त परिग्रह हैं उनमें संस्कार न रहे, इसके लिए ''यह मेरा है'' इस अभिप्राय की निवृत्ति को आकिंचन्य के नाम से कहा गया है। जिसके कुछ भी (परिग्रह) नहीं है वह अकिंचन है उसका जो भाव अथवा कर्म उसे आकिंचन्य

आकिञ्चन्यम् ॥९॥ अनुभूतांगनास्मरणतत्कथाश्रवण स्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं। मया अनुभूतांगना कलागुणविशारदा इति स्मरणं तत्कथाश्रवणं रतिपरिमलादिवासितं स्त्रीसंसक्तशयनासन-मित्येवमादिवर्जनात् परिपूर्णं ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते। स्वातंत्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा ॥१०॥ एवं दशधा धर्मः॥

१३५.द्वादशानुप्रेक्षाः कथ्यन्ते—अध्रुवाशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोक बोधिदुर्लभ-धर्मानुचिंतनमनुप्रेक्षाः। ताश्च कथ्यते। तद्यथा—द्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेनाविनश्वर-स्वभावनिजपरमात्मद्रव्यादन्यद् भिन्नं यज्जीवसंबंधे अशुद्धनिश्चयनयेन रागादिविभावरूपं भावकर्म, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यकर्मनोकर्मरूपं च तथैव तत्स्वस्वामिभावसंबंधेन गृहीतं यच्चेतनं वनितादिकम्, अचेतनं सुवर्णादिकं तदुभयमिश्रं चेत्युक्तलक्षणं तत्सर्वमध्रुवमिति भावयितव्यम्। तद्भावनासहितपुरुषस्य तेषां वियोगेऽपि सत्युच्छिष्टेष्विव ममत्वं न भवति तत्र ममत्वाभावादविनश्वर-निजपरमात्मानमेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भावयति, यादृशमविनश्वरमात्मानं भावयति तादृशमेवा-क्षयानन्तसुखस्वभावं मुक्तात्मानं प्राप्नोति। इत्यध्रुवानुप्रेक्षा गता ॥१॥

कहते हैं ॥९॥ अनुभूत स्त्री का स्मरण, उसकी कथा का श्रवण तथा स्त्रीसंशक्त शय्या, आसन आदि स्थान के त्याग से ब्रह्मचर्य है अर्थात् ''मैंने उस कलागुणविशारदा स्त्री को भोगा था'' ऐसा स्मरण, उसकी पूर्व कथा का श्रवण एवं रतिकालीन सुगन्धित द्रव्यों की सुवास तथा स्त्रीसंसक्तशय्या आसन आदि के त्याग से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए गुरु स्वरूप ब्रह्म जो शुद्ध आत्मा, उसमें चर्या होना ब्रह्मचर्य है ॥१०॥ इस प्रकार दस धर्म हैं।

१३५. बारह अनुप्रेक्षाओं का कथन किया जाता है—अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इनका चिंतन करना, अनुप्रेक्षा है। इनको विस्तार से कहते हैं—

अध्रुव अनुप्रेक्षा कहते हैं—द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव से अविनाशी स्वभाव वाले निज परमात्म द्रव्य से भिन्न, अशुद्ध निश्चयनय से जो जीव के रागादि विभावरूप भावकर्म एवं अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्य-कर्म व शरीरादि नोकर्मरूप तथा (उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से) उसके स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध से ग्रहण किये हुए स्त्री आदि चेतन द्रव्य, सुवर्ण आदि अचेतन द्रव्य और चेतन-अचेतन मिश्र पदार्थ, उक्त लक्षण वाले ये सब पदार्थ अध्रुव (नाशवान) हैं; इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए। ऐसी भावना वाले पुरुष के, उन स्त्री आदि पदार्थों के वियोग होने पर भी, जूठे भोजन के समान, ममत्व नहीं होता। उनमें ममत्व का अभाव होने से अविनाशी निज परमात्मा को ही भेद, अभेद रूप रत्नत्रय की भावना द्वारा भाता है। जैसी अविनश्वर आत्मा को भाता है, वैसी ही अक्षय अनन्त सुख स्वभाव वाली मुक्त आत्मा को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अध्रुव भावना है ॥१॥

१३६. अथ निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूतं पञ्चपरमेष्ठ्याराधनञ्च शरणम्, तस्माद्बहिर्भूता ये देवेन्द्रचक्रवर्त्तिसुभटकोटिभटपुत्रादिचेतना गिरिदुर्गभूविवरमणिमन्त्राज्ञाप्रसादौषधादयः पुनरचेतनास्तदुभयात्मका मिश्राश्च मरणकालादौ महाटव्यां व्याघ्रगृहीतमृगबालस्येव महासमुद्रे पोतच्युतपक्षिण इव शरणं न भवन्तीति विज्ञेयम्। तद्विज्ञाय भोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धादिनिरालम्बने स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतसालम्बने स्वशुद्धात्मन्येवावलम्बनं कृत्वा भावनां करोति। यादृशं शरणभूतमात्मानं भावयति तादृशमेव सर्वकालशरणभूतं शरणागतवज्रपञ्जरसदृशं निजशुद्धात्मानं प्राप्नोति। इत्यशरणानुप्रेक्षा व्याख्याता ॥२॥

१३७. अथ शुद्धात्मद्रव्यादितराणि सपूर्वापूर्वमिश्रपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेण शरीरपोषणार्थाशनपानादिपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण चानन्तवारान् गृहीत्वा विमुक्तानीति द्रव्यसंसारः। स्वशुद्धात्मद्रव्यसंबंधिसहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशेभ्यो भिन्ना ये लोकक्षेत्रप्रदेशास्तत्रैकैकं प्रदेशं व्याप्यानन्तवारान् यत्र न जातो न मृतोऽयं जीवः स कोऽपि प्रदेशो नास्तीति क्षेत्रसंसारः। शुद्धात्मानुभूतिरूपनिर्विकल्पसमाधिकालं विहाय प्रत्येकं दशकोटाकोटिसागरेण प्रमितोत्सर्पिण्यवसर्पिण्येकैकसमये

---

१३६. अशरण अनुप्रेक्षा को कहते हैं—निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो स्वशुद्धात्म द्रव्य और उसकी बहिरंग सहकारी कारणभूत पंचपरमेष्ठियों की आराधना, ये दोनों शरण (रक्षक) हैं। उनसे भिन्न जो देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्र आदि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भौंहरा, मणि, मन्त्र, तन्त्र, आज्ञा, प्रासाद (महल) औषधि और आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्रित पदार्थ ये कोई भी मरण आदि के समय शरण नहीं होते; जैसे महावन में व्याघ्र से पकड़े हुए हिरण के बच्चे को अथवा महासमुद्र में जहाज से छूटे हुए पक्षी को कोई शरण नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए। अन्य पदार्थों को अपना शरण न जानकर, आगामी भोगों की वांछारूप निदानबन्ध आदि का अवलम्बन न लेकर तथा स्वानुभव से उत्पन्न सुख रूप अमृत के धारक निज-शुद्ध-आत्मा का ही अवलम्बन करके, उस शुद्ध-आत्मा की भावना करता है। जैसी शरणभूत आत्मा का यह चिन्तन करता है, वैसे ही सदा शरणभूत, शरण में आये हुए के लिए वज्र के पिंजरे के समान, निज-शुद्धात्मा को प्राप्त होता है। इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षा का व्याख्यान हुआ ॥२॥

१३७. संसारानुप्रेक्षा—शुद्ध-आत्मद्रव्य से भिन्न सपूर्व (पुराने), अपूर्व (नये) तथा मिश्र ऐसे पुद्गल द्रव्यों को ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूप से तथा शरीरपोषण के लिए भोजनपान आदि पाँचों इन्द्रियों के विषय रूप से इस जीव ने अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा है, इस प्रकार द्रव्यसंसार है। निज-शुद्ध आत्म-द्रव्य संबंधी जो सहज शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, उनसे भिन्न लोक-क्षेत्र के सर्व प्रदेशों में एक-एक प्रदेश को व्याप्त करके, अनन्त बार यह जीव उत्पन्न न हुआ हो और मरा न हो, ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है। यह क्षेत्रसंसार है। निज-शुद्धात्म अनुभव रूप निर्विकल्प समाधि का काल छोड़कर (प्राप्त न करके) दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्सर्पिणीकाल

नानापरावर्त्तनकालेनानन्तवारानयं जीवो यत्र न जातो न मृतः स समयो नास्तीति कालसंसारः। अभेद-रत्नत्रयात्मकसमाधिबलेन सिद्धगतौ स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धपर्यायरूपेण योऽसावुत्पादो भवस्तं विहाय नारकतिर्यग्मनुष्यभवेषु तथैव देवभवेषु च निश्चयरत्नत्रयभावनारहितभोगाकाङ्क्षानिदानपूर्वकद्रव्य-तपश्चरणरूपजिनदीक्षाबलेन नवग्रैवेयकपर्यन्तं ''**सक्को सक्कमहिस्सी दक्खिणइंदा य लोयवाला य। लोयंतिया य देवा तच्छ चुदा णिव्वुदिं जंति।१।**'' इति गाथाकथितपदानि तथागमनिषिद्धान्यन्यपदानि च त्यक्त्वा भवविध्वंसकनिजशुद्धात्मभावनारहितो भवोत्पादकमिथ्यात्वरागादिभावनासहितश्च सन्नयं जीवोऽनन्तवारान् जीवितो मृतश्चेति भवसंसारो ज्ञातव्यः।

१३८. अथ भावसंसारः कथ्यते। तद्यथा—सर्वजघन्यप्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्य-मनोवचनकायपरिस्पन्दरूपाणि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि चतुःस्थानपतितानि सर्वजघन्ययोगस्थानानि भवन्ति। तथैव सर्वोत्कृष्टप्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टमनोवचनकायव्यापाररूपाणि तद्योग्य-श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि चतुःस्थानपतितानि सर्वोत्कृष्टयोगस्थानानि च भवन्ति। तथैव सर्वजघन्यस्थिति-बन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थानानि तद्योग्यासंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च भवन्ति। तथैव च सर्वोत्कृष्टकषायाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च भवन्ति। तथैव सर्वजघन्यानुभागबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसंख्येयलोक-

---

और दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण अवसर्पिणीकाल के एक-एक समय में अनेक परावर्तन करके यह जीव अनन्त बार जन्मा न हो और मरा न हो, ऐसा कोई भी समय नहीं है। इस प्रकार कालसंसार है। अभेद रत्नत्रयात्मक ध्यान के बल से सिद्धगति में निज-आत्मा की उपलब्धि रूप सिद्ध पर्याय रूप उत्पाद के सिवाय नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों के भवों में निश्चय रत्नत्रय की भावना से रहित और भोग-वांछादि निदान सहित द्रव्यतपश्चरणरूप मुनिदीक्षा के बल से नव ग्रैवेयक तक प्रथम स्वर्ग का इन्द्र, प्रथम स्वर्ग की इन्द्राणी शची, दक्षिण दिशा के इन्द्र, लोकपाल और लौकान्तिकदेव ये सब स्वर्ग से च्युत होकर निवृत्ति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ॥१॥ गाथा में कहे हुए पदों को तथा आगम में निषिद्ध अन्य उत्तम पदों को छोड़कर भवनाशक निज-आत्मा की भावना से रहित व संसार को उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व व राग आदि भावों से सहित हुआ, यह जीव अनन्त बार जन्मा है और मरा है। इस प्रकार भवसंसार जानना चाहिए।

१३८. अब भावसंसार का कथन किया जाता है—सबसे जघन्य प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध के कारणभूत सर्व जघन्य मन, वचन, काय के अवलम्बन से परिस्पन्द रूप श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण तथा चार स्थानों में पतित (वृद्धि हानि), ऐसे सर्व जघन्य योगस्थान होते हैं। इसी प्रकार सर्व उत्कृष्ट प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध के कारणभूत, सर्वोत्कृष्ट मन, वचन, काय के व्यापार रूप, यथायोग्य श्रेणी के असंख्यातवें—भाग प्रमाण, चार स्थानों में पतित सर्वोत्कृष्ट योगस्थान होते हैं। इसी प्रकार सर्व जघन्य स्थितिबन्ध के कारणभूत, अपने योग्य असंख्यात लोक प्रमाण, षट्स्थान वृद्धि-हानि में पतित

प्रमितानि षट्स्थानपतितानि भवन्ति। तथैव च सर्वोत्कृष्टानुभागबन्धनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टानुभागाध्यवसाय-स्थानानि तान्यत्यसंख्येयलोकप्रतितानि षट्स्थानपतितानि च विज्ञेयानि। तेनैव प्रकारेण स्वकीयस्वकीय-जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये तारतम्येन मध्यमानि च भवन्ति। तथैव जघन्यादुत्कृष्टपर्यन्तानि ज्ञानावरणादि-मूलोत्तरप्रकृतीनां स्थितिबन्धस्थानानि च। तानि सर्वाणि परमागमकथितानुसारेणानन्तवारान् भ्रमितान्यनेन जीवेन परं किन्तु पूर्वोक्तसमस्तप्रकृतिबन्धादीनां सद्भावविनाशकारणानि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिज-परमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणि यानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तान्येव न लब्धानि। इति भावसंसारः।

१३९. एवं पूर्वोक्तप्रकारेण द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं भावयतोऽस्य जीवस्य संसारातीतस्वशुद्धात्मसंवित्तिनाशकेषु संसारवृद्धिकारणेषु मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु परिणामो न जायते किन्तु संसारातीतसुखास्वादे रतो भूत्वा स्वशुद्धात्मसंवित्तिबलेन संसारविनाशकनिजनिरञ्जन-परमात्मन्येव भावनां करोति। ततश्च यादृशमेव परमात्मानं भावयति तादृशमेव लब्ध्वा संसारविलक्षणे

सर्वजघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान होते हैं। इसी तरह सर्वोत्कृष्ट स्थितिबन्ध के कारणभूत सर्वोत्कृष्ट कषाय अध्यवसाय स्थान हैं, वे भी असंख्यात लोक-प्रमाण और षट् स्थानों में पतित होते हैं। इसी प्रकार सबसे जघन्य अनुभागबन्ध के कारणभूत सबसे जघन्य अनुभाग अध्यवसाय स्थान हैं, वे भी असंख्यात लोक-प्रमाण तथा षट्स्थान पतित हानिवृद्धि रूप होते हैं। इसी प्रकार सबसे उत्कृष्ट अनुभाग-बन्ध के कारण जो सर्वोत्कृष्ट अनुभाग अध्यवसाय स्थान हैं वे भी असंख्यात लोक-प्रमाण और षट्स्थान पतित जानने चाहिए। इसी प्रकार से अपने-अपने जघन्य और उत्कृष्ट के बीच में तारतम्य से मध्यम भेद भी होते हैं। इसी तरह जघन्य से उत्कृष्ट तक ज्ञानावरण आदि मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबन्ध स्थान हैं। उन सब में,[१] परमागम अनुसार, इस जीव ने अनन्त बार भ्रमण किया, परन्तु पूर्वोक्त समस्त प्रकृति बन्ध आदि की सत्ता के नाश के कारण जो विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज परमात्म-तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरण रूप जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, उनको इस जीव ने प्राप्त नहीं किया। इस प्रकार भावसंसार है।

१३९. इस प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाँच प्रकार के संसार का चिन्तन करते हुए इस जीव के, संसार रहित निज शुद्ध आत्मज्ञान का नाश करने वाले तथा संसार की वृद्धि के कारणभूत जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं, उनमें परिणाम नहीं जाता किन्तु वह संसारातीत (संसार में प्राप्त न होने वाला अतीन्द्रिय) सुख के अनुभव में लीन होकर, निज-शुद्धात्मज्ञान के बल से संसार को नष्ट करने वाले निज-निरंजन-परमात्मा में भावना करता है। तदनन्तर जिस प्रकार के परमात्मा को भाता है, उसी प्रकार के परमात्मा को प्राप्त होकर संसार से

१. परन्तु तीर्थंकर व आहारकचतुष्टय जैसी प्रकृतियों के सब स्थिति-बन्ध-स्थानों में इस जीव ने अनन्त बार भ्रमण नहीं किया, यह ध्रुव सत्य है।

मोक्षेऽनन्तकालं तिष्ठतीति। अयं तु विशेषः–नित्यनिगोदजीवान् विहाय पञ्चप्रकारसंसारव्याख्यानं ज्ञातव्यम्। कस्मादिति चेत्–नित्यनिगोदजीवानां कालत्रयेऽपि त्रसत्वं नास्तीति। तथा चोक्तं–

''अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति।१।''

अनुपममद्वितीयमनादिमिथ्यादृशोऽपि भरतपुत्रास्त्रयोविंशत्यधिकनवशतपरिमाणास्ते च नित्यनिगोदवासिनः क्षपितकर्माण इन्द्रगोपाः संजातास्तेषां च पुञ्जीभूतानामुपरि भरतहस्तिना पादो दत्तस्ततस्ते मृत्वापि वर्द्धनकुमारादयो भरतपुत्रा जातास्ते च केनचिदपि सह न वदन्ति। ततो भरतेन समवसरणे भगवान् पृष्टो, भगवता च प्राक्तनं वृत्तान्तं कथितम्। तच्छ्रुत्वा ते तपो गृहीत्वा क्षणस्तोककालेन मोक्षं गताः। आचाराराधनाटिप्पणे कथितमास्ते। इति संसारानुप्रेक्षा गता ॥३॥

विलक्षण मोक्ष में अनन्तकाल तक रहता है। यहाँ विशेष यह है—नित्य निगोद के जीवों को छोड़कर, पंच प्रकार के संसार का व्याख्यान जानना चाहिए (नित्य-निगोदी जीव इस पंच प्रकार के संसार में परिभ्रमण नहीं करते); क्योंकि नित्य निगोदवर्ती जीवों को तीन काल में भी त्रसपर्याय नहीं मिलती। सो कहा भी है—ऐसे अनन्त जीव हैं कि जिन्होंने त्रसपर्याय को अभी तक प्राप्त ही नहीं किया वे भाव-कलंकों (अशुभ परिणामों) से भरपूर हैं, जिससे वे निगोद के निवास को कभी नहीं छोड़ते। किन्तु यह वृत्तान्त अनुपम और अद्वितीय है कि नित्य निगोदवासी अनादि मिथ्यादृष्टि नौ सौ तेईस जीव, कर्मों की निर्जरा (मन्द) होने से, इंद्रगोप (मखमली लाल कीड़े) हुए उन सबके ढेर पर भरत के हाथी ने पैर रख दिया इससे वे मरकर, भरत के वर्द्धनकुमार आदि पुत्र हुए। वे पुत्र किसी के भी साथ नहीं बोलते थे। इसलिए भरत ने समवसरण में भगवान् से पूछा, तो भगवान् ने उन पुत्रों का पुराना सब वृत्तान्त कहा। उसको सुनकर उन सब वर्द्धनकुमारादि ने तप ग्रहण किया और बहुत थोड़े काल में मोक्ष चले गये। यह कथा आचाराराधना की टिप्पणी में कही गई है।[1] इस प्रकार संसार अनुप्रेक्षा का व्याख्यान हुआ ॥३॥

१. परन्तु भगवती-आराधना में निगोदों से सीधी मनुष्यपर्याय की प्राप्ति बताई है, बीच में इन्द्रगोप होने वाली बात भगवती आराधना टीकाकार के अनुसार नहीं है। यथा—अनादिमिथ्यादृष्टयः भद्दणादया राजपुत्रास्तस्मिन्नेव भवे त्रसतामापन्नाः। तथैव....अत एवानादिमिथ्यादृष्टयः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः सिद्धाश्च दृष्टा आराधनासम्पादका...[भगवती आराधना टीका गा० १७, विजयोदयाटीका, अनुवादक पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री]

अर्थ—भद्दण आदि राजपुत्रों ने उसी भव में त्रस पर्याय प्राप्त की थी। अतएव वे अनादि मिथ्यादृष्टि थे। उन्होंने भगवान् ऋषभदेव के पादमूल में धर्म का सार सुनकर रत्नत्रय धारण किया और क्षण मात्र में सिद्ध पद पाया। वहीं पर विशेषार्थ में लिखा है—अनादिकाल से मिथ्यात्व का उदय होने से नित्यनिगोद पर्याय में रहकर भद्र-विवर्धन आदि ९२३ भरत चक्री के पुत्र हुए और उन्होंने भगवान् ऋषभदेव के पादमूल में धर्म सुनकर रत्नत्रय धारण किया और अल्पकाल में ही सिद्ध-पद पाया। [पृ० ३९-४० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर]

इससे यह स्पष्ट होता है कि निगोद से आकर उसी भव से मोक्ष पाना सम्भव है।

१४०. अथैकत्वानुप्रेक्षा कथ्यते। तद्यथा–निश्चयरत्नत्रयैकलक्षणैकत्वभावनापरिणतस्यास्य जीवस्य निश्चयनयेन सहजानन्दसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतं केवलज्ञानमेवैकं सहजं शरीरम्। शरीरमीति कोऽर्थः? स्वरूपं, न च सप्तधातुमयौदारिकशरीरम्। तथैवार्त्तरौद्रदुर्ध्यानविलक्षणपरमसामायिकलक्षणैकत्वभावना-परिणतं निजात्मतत्त्वमेवैकं सदा शाश्वतं परमहितकारि न च पुत्रकलत्रादि। तेनैव प्रकारेण परमोपेक्षासंयम-लक्षणैकत्वभावनासहितः स्वशुद्धात्मपदार्थ एक एवाविनश्वरहितकारी परमोऽर्थः न च सुवर्णाद्यर्थः। तथैव निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणानुकूलत्वस्वभावात्मसुखमेवैकं सुखं न चाकुलत्वोत्पाद-केन्द्रियसुखमिति। कस्मादिदं देहबन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादिकं जीवस्य निश्चयेन निराकृतमिति चेत्? यतो मरणकाले जीव एक एव गत्यन्तरं गच्छति न च देहादीनि। तथैव रोगव्याप्तिकाले विषयकषायादि-दुर्ध्यानरहितः स्वशुद्धात्मैकसहायो भवति। तदपि कथमिति चेत्? यदि चरमदेहो भवति तर्हि केवलज्ञानादि-व्यक्तिरूपं मोक्षं नयति, अचरमदेहस्य तु संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा देवेन्द्राद्यभ्युदयसुखं दत्वा च पश्चात् पारम्पर्येण मोक्षं प्रापयतीत्यर्थः।

तथा चोक्तं–

---

१४०. अब एकत्व-अनुप्रेक्षा कहते हैं—निश्चयरत्नत्रय लक्षण वाली एकत्व भावना में परिणत इस जीव के निश्चयनय से स्वाभाविक आनन्द आदि अनन्त गुणों का आधाररूप केवलज्ञान ही एक स्वाभाविक शरीर है। यहाँ 'शरीर' शब्द का अर्थ 'स्व-रूप', है, न कि सात धातुओं से निर्मित औदारिक शरीर। इसी प्रकार आर्त और रौद्र दुर्ध्यानों से विलक्षण परमसामायिक रूप एकत्वभावना में परिणत जो एक अपना आत्मा है वही सदा अविनाशी और परम हितकारी व परम बन्धु है; विनश्वर व अहितकारी पुत्र, मित्र, कलत्र आदि बन्धु नहीं हैं। उसी प्रकार परम उपेक्षा संयमरूप एकत्व भावना से सहित जो निज शुद्धात्म पदार्थ है, वही एक अविनाशी तथा हितकारी परम अर्थ है, सुवर्ण आदि परम-अर्थ नहीं हैं। एवं निर्विकल्प-ध्यान से उत्पन्न निर्विकार परम-आनन्द-लक्षण, आकुलतारहित आत्म-सुख ही एक सुख है और आकुलता उत्पन्न करने वाला इन्द्रियजन्य जो सुख है वह सुख नहीं है।

शंका—शरीर, बन्धुजन तथा सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय सुख आदि को निश्चयनय से जीव के लिए हेय क्यों कहे हैं? **समाधान**—मरण समय यह जीव अकेला ही दूसरी गति में गमन करता है, देह आदि इस जीव के साथ नहीं जाते। तथा जब जीव रोगों से घिर जाता है तब विषय कषाय आदि रूप दुर्ध्यान से रहित एक-निजशुद्ध-आत्मा ही इसका सहायक होता है। **शंका**—वह कैसे सहायक होता है? **समाधान**—यदि जीव का वह अन्तिम शरीर हो, तब तो केवलज्ञान आदि की प्रकटतारूप मोक्ष में ले जाता है और यदि अन्तिम शरीर न हो, तो वह संसार की स्थिति को कम करके देवेन्द्रादि सांसारिक सुख को देकर तत्पश्चात् परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति कराता है। यह निष्कर्ष है। कहा भी है—

''सग्गं तवेण सव्वो, वि पावए किं तु झाणजोयेण।
जो पावइ सो पावइ, परलोए[1] सासयं सोक्खं।१।''

एवमेकत्वभावनाफलं ज्ञात्वा निरन्तरं निजशुद्धात्मैकत्वभावना कर्त्तव्या। इत्येकत्वानुप्रेक्षा गता ॥४॥

१४१. तथान्यत्वानुप्रेक्षां कथयति। तथा हि—पूर्वोक्तानि यानि देहबन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादीनि कर्माधीनत्वे विनश्वराणि तथैव हेयभूतानि च, तानि सर्वाणि टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन नित्यात्सर्व-प्रकारोपादेयभूतान्निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारस्वभावान्निजपरमात्मपदार्थान्निश्चयनयेनान्यानि भिन्नानि। तेभ्यः पुनरात्माप्यन्यो भिन्न इति। अयमत्र भाव एकत्वानुप्रेक्षायामेकोऽहमित्यादिविधिरूपेण व्याख्यानं, अन्यत्वानुप्रेक्षायां तु देहादयो मत्सकाशादन्ये मदीया न भवन्तीति निषेधरूपेण। इत्येकत्वान्यत्वानुप्रेक्षायां विधिनिषेधरूप एव विशेषस्तात्पर्यं तदेव। इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा समाप्ता ॥५॥

१४२. अतः परमशुचित्वानुप्रेक्षा कथ्यते। तद्यथा—सर्वाशुचिशुक्रशोणितकारणोत्पन्नत्वात्तथैव ''**वसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः**'' इत्युक्ताशुचिसप्तधातुमयत्वेन तथा नासिकादि-नवरन्ध्रद्वारैरपि स्वरूपेणाशुचित्वात्तथैव मूत्रपुरीषाद्यशुचिमलानामुत्पत्तिस्थानत्वाच्चाशुचिरयं देहः। न केवलमशुचिकारणत्वेनाशुचिः स्वरूपेणाशुच्युत्पादकत्वेन चाशुचिः। शुचि सुगन्धमाल्यवस्त्रादीनाम-

---

तप करने से स्वर्ग सब कोई पाते हैं, परन्तु ध्यान के योग से जो कोई स्वर्ग पाता है वह अग्रिम भव में अक्षय-सुख को प्राप्त करता है ॥१॥

इस तरह एकत्व भावना के फल को जान कर, सदा निज-शुद्ध आत्मा में एकत्व रूप भावना करनी चाहिए। इस प्रकार एकत्व अनुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥४॥

१४१. अब अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते हैं—पूर्वोक्त देह, बन्धुजन, सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय-सुख आदि कर्मों के अधीन हैं, इसी कारण विनाशशील तथा हेय भी हैं। इस कारण टंकोत्कीर्ण ज्ञायकरूप एकस्वभाव से नित्य, सब प्रकार उपादेयभूत निर्विकार-परम चैतन्य चित्-चमत्कार स्वभाव रूप जो निज-परमात्म पदार्थ हैं, निश्चयनय की अपेक्षा उससे वे सब देह आदि भिन्न हैं। आत्मा भी उनसे भिन्न है। भावार्थ है कि एकत्व अनुप्रेक्षा में तो ''मैं एक हूँ'' इत्यादि प्रकार से विधि रूप व्याख्यान है और अन्यत्व अनुप्रेक्षा में ''देह आदिक पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, ये मेरे नहीं हैं'' इत्यादि निषेध रूप से वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनों अनुप्रेक्षाओं में विधि-निषेध रूप का ही अन्तर है, तात्पर्य दोनों का एक ही है। ऐसे अन्यत्व अनुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥५॥

१४२. इसके आगे अशुचित्व अनुप्रेक्षा कहते हैं—सब प्रकार से अपवित्र वीर्य और रज से उत्पन्न होने के कारण, '' वसा, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि (हाड़), मज्जा और शुक्र धातु हैं, इन अपवित्र सात धातुमय होने से, नाक आदि नौ छिद्रद्वार होने से, स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र, विष्ठा आदि अशुचि मलों की उत्पत्ति का स्थान होने से ही यह देह अशुचि नहीं है; किन्तु यह शरीर अपने

---

१. 'परं भवे' इति पाठान्तरम्

शुचित्वोत्पादकत्वाच्चाशुचिः।

१४३. इदानीं शुचित्वं कथ्यते—सहजशुद्धकेवलज्ञानादिगुणानामाधारभूतत्वात्स्वयं निश्चयेन शुचिरूपत्वाच्चपरमात्मैव शुचिः।

''जीवो बम्हा जीवम्हि चेव चरिया हविज्ज जो जदिणो।
तं जाण बम्हचेरं विमुक्कपरदेहभत्तीए।१।''

इति गाथाकथितनिर्मलब्रह्मचर्यं तत्रैव निजपरमात्मनि स्थितानामेव लभ्यते। तथैव **''ब्रह्मचारी सदा शुचिः''** इति वचनात्तथाविधब्रह्मचारिणामेव शुचित्वं न च कामक्रोधादिरतानां जलस्नानादिशौचेऽपि। तथैव च—

''जन्मना जायते शूद्रः क्रियया द्विज उच्यते।
श्रुतेन श्रोत्रियो ज्ञेयो ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।१।''

इति वचनात्त एव निश्चयशुद्धाः ब्राह्मणाः। तथा चोक्तं नारायणेन युधिष्ठिरं प्रति विशुद्धात्म-नदीस्नानमेव परमशुचित्वकारणं न च लौकिकगङ्गादितीर्थे स्नानादिकम्। **''आत्मानदी संयमतोयपूर्णा**[1] **सत्यावहा**[2] **शीलतटादयोर्मिः। तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा।१।''** इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा गता ॥६॥

संसर्ग से पवित्र-सुगन्ध-माला व वस्त्र आदि में भी अपवित्रता उत्पन्न कर देता है, इसलिए भी यह देह अशुचि है।

१४३. अब पवित्रता को बतलाते हैं—सहज-शुद्ध केवलज्ञान आदि गुण का आधार होने से और निश्चय से पवित्र होने से यह परमात्मा ही शुचि है। जीव ब्रह्म है, जीव ही में जो मुनि की चर्या होती है, उसको परदेह की सेवा रहित ब्रह्मचर्य जानो। इस गाथा में कहा हुआ जो निर्मल ब्रह्मचर्य है, वह निज परमात्मा में स्थित जीवों को ही मिलता है तथा ब्रह्मचारी सदा पवित्र है इस वचन से पूर्वोक्त प्रकार के ब्रह्मचारियों के ही पवित्रता है। जो काम, क्रोध आदि में लीन जीव हैं, उनके जल-स्नान आदि करने पर भी पवित्रता नहीं है क्योंकि जन्म से शूद्र होता है, क्रिया से द्विज कहलाता है, श्रुत (शास्त्र) से श्रोत्रिय और ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण जानना चाहिए। १। इस आगम वचनानुसार वे (परमात्मा में लीन) ही वास्तविक शुद्ध ब्राह्मण हैं। नारायण ने युधिष्ठिर से कहा भी है—विशुद्ध आत्मारूपी शुद्ध नदी में स्नान करना ही परम पवित्रता का कारण है, लौकिक गंगा आदि तीर्थों में स्नान करना शुचि का कारण नहीं है। ''संयमरूपी जल से भरी, सत्यरूपी प्रवाहशीलरूप तट और दयामय तरंगों की धारक जो आत्मा रूपी नदी है, उसमें हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! स्नान करो क्योंकि अन्तरात्मा जल से शुद्ध नहीं होता है ॥१॥ इस प्रकार अशुचित्व अनुप्रेक्षा का वर्णन हुआ ॥६॥

---

१. 'संयमपुण्यतीर्थाः' इति पाठान्तरम्। २. 'सत्योदकाः' इति पाठान्तरम्।

१४४. अत ऊर्ध्वमास्रवानुप्रेक्षा कथ्यते। समुद्रे सच्छिद्रपोतवदयं जीव इन्द्रियाद्यास्रवैः संसारसागरे पततीति वार्त्तिकम्। अतीन्द्रियस्वशुद्धात्मसंवित्तिविलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीन्द्रियाणि भण्यन्ते। परमोपशममूर्तिपरमात्मस्वभावस्य क्षोभोत्पादकाः क्रोधमानमायालोभकषाया अभिधीयन्ते। रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपायाः शुद्धात्मानुभूतेः प्रतिकूलानि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहप्रवृत्तिरूपाणि पञ्चाव्रतानि। निष्क्रियनिर्विकारात्मतत्त्वाद्विपरीता मनोवचनकायव्यापाररूपाः परमागमोक्ताः सम्यक्त्व-क्रिया मिथ्यात्वक्रियेत्यादिपञ्चविंशतिक्रियाः उच्यन्ते। इन्द्रियकषायाव्रतक्रियारूपास्रवाणां स्वरूपमेतद्वि-ज्ञेयम्।

१४५. यथा समुद्रेऽनेकरत्नभाण्डपूर्णस्य सच्छिद्रपोतस्य जलप्रवेशे पातो भवति न च वेलापत्तनं प्राप्नोति। तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणामूल्यरत्नभाण्डपूर्णजीवपोतस्यपूर्वोक्तास्रवद्वारैः कर्मजलप्रवेशे सति संसारसमुद्रे पातो भवति न च केवलज्ञानाव्याबाधसुखाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति। एवमास्रवगतदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा ज्ञातव्येति॥७॥

१४६. अथ संवरानुप्रेक्षा कथ्यते—यथा तदेव जलपात्रं छिद्रस्य झम्पने सति जलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन वेलापत्तनं प्राप्नोति; तथा जीवजलपात्रं निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन इन्द्रियाद्यास्रवच्छिद्राणां झम्पने सति

---

१४४. अब आगे आस्रवानुप्रेक्षा कहते हैं। जैसे छेद वाली नाव समुद्र में डूबती है, उसी तरह इन्द्रिय आदि आस्रवों द्वारा यह जीव संसार-समुद्र में गिरता है, यह वार्तिक है। अतीन्द्रिय निज-शुद्धात्मज्ञान से विलक्षण स्पर्शन, रसना, नाक, नेत्र और कान ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। परम उपशम रूप परमात्म स्वभाव को क्षोभित करने वाले क्रोध, मान, माया व लोभ ये चार कषाय कहे जाते हैं। राग आदि विकल्पों से रहित ऐसे शुद्ध-आत्मानुभव से प्रतिकूल हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँचों में प्रवृत्तिरूप पाँच अव्रत हैं। क्रिया रहित और निर्विकार आत्मतत्त्व से विपरीत मन-वचन-काय के व्यापार रूप, शास्त्र में कही हुई सम्यक् क्रिया, मिथ्यात्व आदि पच्चीस क्रियायें हैं।[१] इस प्रकार इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया रूप आस्रवों का स्वरूप जानना चाहिए।

१४५. जैसे समुद्र में अनेक रत्नों से भरा हुआ छिद्र सहित जहाज उसमें जल के प्रवेश से डूब जाता है, समुद्र के किनारे पत्तन (नगर) को नहीं पहुँच पाता। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप अमूल्य रत्नों से पूर्ण जीवरूपी जहाज, इन्द्रिय आदि आस्रवों द्वारा कर्मरूपी जल का प्रवेश हो जाने पर, संसाररूपी समुद्र में डूब जाता है। केवलज्ञान, अव्याबाध सुख आदि अनन्त गुणमय रत्नों से पूर्ण व मुक्ति स्वरूप वेलापत्तन (संसार-समुद्र के किनारे का नगर) को यह जीव नहीं पहुँच पाता इत्यादि प्रकार से आस्रवगत दोषों का विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है ॥७॥

१४६. अब संवर अनुप्रेक्षा कहते हैं। वही समुद्र का जहाज अपने छेदों के बन्द हो जाने से जल के न घुसने पर निर्विघ्न वेलापत्तन को प्राप्त हो जाता है; उसी प्रकार जीवरूपी जहाज अपने

---

१. इन पच्चीस क्रियाओं के नाम व स्वरूप सर्वार्थसिद्धि ६/५ तथा राजवार्तिक ६/५/७-१२। पृ० ५०९-५१० से जानने चाहिए।

कर्मजलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति। एवं संवरगत-गुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा ज्ञातव्या ॥८॥

१४७. अथ निर्जरानुप्रेक्षां प्रतिपादयति। यथा कोऽप्यजीर्णदोषेण मलसञ्चये जाते सत्याहारं त्यक्त्वा किमपि हरीतक्यादिकं मलपाचकमग्निदीपकं चौषधं गृह्णाति। तेन च मलपाकेन मलानां पातने गलने निर्जरणे सति सुखी भवति। तथायं भव्यजीवोऽप्यजीर्णजनकाहारस्थानीयमिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्ममलसञ्चये सति मिथ्यात्वरागादिकं त्यक्त्वा परमौषधस्थानीयं जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादि-समभावनाप्रतिपादकं कर्ममलपाचकं शुद्धध्यानाग्निदीपकं च जिनवचनौषधं सेवते। तेन च कर्ममलानां गलने निर्जरणे सति सुखी भवति।

१४८. किञ्च, यथा कोऽपि धीमानजीर्णकाले यद्दुःखं जातं तदजीर्णे गतेऽपि न विस्मरति ततश्चा-जीर्णजनकाहारं परिहरति तेन च सर्वदैव सुखी भवति। तथा विवेकि जनोऽपि ''**आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति**'' इति वचनाद्दुःखोत्पत्तिकाले ये धर्मपरिणामा जायन्ते तान् दुःखे गतेऽपि न विस्मरति। ततश्च निज-परमात्मानुभूतिबलेन निजरार्थं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षादिविभावपरिणामपरित्यागरूपैः संवेगवैराग्य-परिणामैर्वर्त्तत इति।

शुद्ध आत्मज्ञान के बल से इन्द्रिय आदि आस्रवरूप छिद्रों के मुँद जाने पर कर्मरूप जल न घुस सकने से, केवलज्ञान आदि अनन्तगुण रत्नों से पूर्ण मुक्तिरूप वेलापत्तन को निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है। ऐसे संवर के गुणों के चिंतनरूप संवर अनुप्रेक्षा जाननी चाहिए ॥८॥

१४७. अब निर्जरानुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते हैं—जैसे किसी मनुष्य के अजीर्ण होने से पेट में मल का जमाव हो जाने पर, वह मनुष्य आहार को छोड़कर मल को पचाने वाले तथा जठराग्नि को तीव्र करने वाले हरड़ आदि औषध को ग्रहण करता है। जब उस औषध से मल पक जाता है, गल जाता है अथवा पेट से बाहर निकल जाता है तब वह मनुष्य सुखी होता है। उसी प्रकार यह भव्य जीव भी अजीर्ण उत्पन्न करने वाले आहार के स्थानभूत मिथ्यात्व-रागादि अज्ञान भावों से कर्मरूपी मल का संचय होने पर मिथ्यात्व-राग आदि छोड़कर, जीवन-मरण में व लाभ-अलाभ में और सुख-दुःख आदि में समभाव को उत्पन्न करने वाला, कर्ममल को पकाने वाला तथा शुद्ध-ध्यान-अग्नि को प्रज्ज्वलित करने वाला, जो परम औषध के स्थानभूत जिनवचनरूप औषध है, उसका सेवन करता है, उससे कर्मरूपी मलों के गलन तथा निर्जरण हो जाने पर सुखी होता है।

१४८. **विशेष—**जैसे कोई बुद्धिमान् अजीर्ण के समय जो कष्ट हुआ उसको अजीर्ण चले जाने पर भी नहीं भूलता और अजीर्ण पैदा करने वाले आहार को छोड़ देता है, जिससे सदा सुखी रहता है; उसी तरह ज्ञानी मनुष्य भी, ''दुःखी मनुष्य धर्म में तत्पर होते हैं'' इस वाक्यानुसार, दुःख के समय जो धर्मरूप परिणाम होते हैं उनको दुःख नष्ट हो जाने पर भी नहीं भूलता। तत्पश्चात् निज परमात्म अनुभव के बल से निर्जरा के लिए देखे, सुने तथा अनुभव किए हुए भोग-वांछादि रूप विभाव परिणाम के त्याग रूप संवेग तथा वैराग्य रूप परिणामों के साथ रहता है।

संवेगवैराग्यलक्षणं कथ्यते–"**धम्मे य धम्मफलम्हि दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो। संसारदेहभोगेसु विरत्तभावो य वेरग्गं।१।**" इति निर्जरानुप्रेक्षा गता ॥९॥

१४९. अथ लोकानुप्रेक्षां प्रतिपादयति। तद्यथा–अनन्तानन्ताकाशबहुमध्यप्रदेशे घनोदधिघनवात-तनुवाताभिधानवायुत्रयवेष्टितानादिनिधनाकृत्रिमनिश्चलासंख्यातप्रदेशो लोकोऽस्ति। तस्याकारः कथ्यते–अधोमुखार्द्धमुरजस्योपरि पूर्णे मुरजे स्थापिते यादृशाकारो भवति तादृशाकारः परं किन्तु मुरजो वृत्तो लोकस्तु चतुष्कोण इति विशेषः। अथवा प्रसारितपादस्य कटितटन्यस्तहस्तस्य चोर्ध्वस्थितपुरुषस्य यादृशाकारो भवति तादृशः। इदानीं तस्यैवोत्सेधायामविस्ताराः कथ्यन्ते–चतुर्दशरज्जुप्रमाणोत्सेधस्तथैव दक्षिणोत्तरेण सर्वत्र सप्तरज्जुप्रमाणायामो भवति। पूर्वपश्चिमेन पुनरधोविभागे सप्तरज्जुविस्तारः। ततश्चाधोभागात् क्रमहानिरूपेण हीयते यावन्मध्यलोक एकरज्जुप्रमाणविस्तारो भवति। ततो मध्यलोकादूर्ध्वं क्रमवृद्ध्या वर्द्धते यावद् ब्रह्मलोकान्ते रज्जुपञ्चकविस्तारो भवति। ततश्चोर्द्ध्वं पुनरपि हीयते यावल्लोकान्ते रज्जुप्रमाणविस्तारो भवति। तस्यैव लोकस्य पुनरुदूखलस्य मध्याधोभागे छिद्रे कृते सति निक्षिप्तवंशनालिकेव चतुष्कोणा त्रसनाडी भवति। सा चैकरज्जुविष्कम्भा चतुर्दशरज्जूत्सेधा विज्ञेया। तस्यास्त्वधोभागे सप्तरज्जवोऽधोलोकसम्बन्धिन्यः। ऊर्ध्वभागे मध्यलोकोत्सेधसंबन्धिलक्षयोजन-

---

संवेग और वैराग्य का लक्षण कहते हैं—धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है सो तो संवेग है; और संसार, देह तथा भोगों में जो विरक्त भाव है सो वैराग्य है ॥१॥ ऐसे निर्जरानुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥९॥

१४९. अब लोकानुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते हैं—वह इस प्रकार है—अनन्तानन्त आकाश के बिल्कुल मध्य के प्रदेशों में, घनोदधि, घनवात, तनुवात नामक तीन पवनों से बेढ़ा हुआ, अनादि अनंत-अकृत्रिम-निश्चल-असंख्यात प्रदेशी लोक है। उसका आकार बतलाते हैं—नीचे मुख किये हुए आधे मृदंग के ऊपर पूरा मृदंग रखने पर जैसा आकार होता है वैसा आकार लोक का है; परन्तु मृदंग गोल है और लोक चौकोर है, यह अन्तर है। अथवा पैर फैलाये, कमर पर हाथ रखे, खड़े हुए मनुष्य का जैसा आकार होता है, वैसा लोक का आकार है। अब उस लोक की ऊँचाई-लम्बाई-विस्तार का निरूपण करते हैं—चौदह राजू प्रमाण ऊँचा तथा दक्षिण उत्तर में सब जगह सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम में नीचे के भाग में सात राजू विस्तार है, फिर उस अधोभाग से, क्रम से इतना घटता है कि मध्यलोक (बीच) में एक राजू रह जाता है फिर मध्यलोक से ऊपर क्रम से बढ़ता है सो ब्रह्मलोक नामक पंचम स्वर्ग के अन्त में पाँच राजू का विस्तार है, उसके ऊपर फिर घटता हुआ लोक के अन्त में जाकर एक राजू प्रमाण विस्तार वाला रह जाता है। इसी लोक के मध्य में, ऊखल के मध्य भाग से नीचे की ओर छिद्र करके एक बाँस की नली रखी जावे, उसका जैसा आकार होता है उसके समान, एक चौकोर त्रसनाड़ी है, वह एक राजू लम्बी-चौड़ी और चौदह राजू ऊँची जाननी चाहिए। उस त्रसनाड़ी के नीचे के भाग के जो सात राजू हैं वे अधोलोक सम्बन्धी हैं। ऊर्ध्व भाग में, मध्य लोक

प्रमाणमेरूत्सेधः सप्तरज्जव ऊर्ध्वलोकसम्बन्धिन्यः।

१५०. अतः परमधोलोकः कथ्यते। अधोभागे मेरोराधारभूता रत्नप्रभाख्या प्रथमपृथिवी। तस्याधोऽधः प्रत्येकमेकैकरज्जुप्रमाणमाकाशं गत्वा यथाक्रमेण शर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःसंज्ञा षड् भूमयो भवन्ति। तस्मादधोभागे रज्जुप्रमाणं क्षेत्रं भूमिरहितं निगोदादिपञ्चस्थावरभूतं च तिष्ठति। रत्नप्रभादिपृथिवीनां प्रत्येकं घनोदधिघनवाततनुवातत्रयमाधारभूतं भवतीति विज्ञेयम्। कस्यां पृथिव्यां कति नरक बिलानि सन्तीति प्रश्ने यथाक्रमेण कथयति—**तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशत-सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्** ८४०००००। अथ रत्नप्रभादिपृथिवीनां क्रमेण पिण्डस्य प्रमाणं कथयति। पिण्डस्य कोऽर्थः? मन्द्रत्वस्य बाहुल्यस्येति। अशीतिसहस्राधिकैकलक्षं तथैव द्वात्रिंशदष्टाविंशतिचतुर्विंशतिविंशति-षोडशाष्टसहस्रप्रमितानि योजनानि ज्ञातव्यानि। तिर्यग्-विस्तारस्तु चतुर्दिग्विभागे यद्यपि त्रसनाड्य-पेक्षयैकरज्जुप्रमाणस्तथापि त्रसरहितबहिर्भागे लोकान्तप्रमाणमिति। तथा चोक्तं—"**भुवामन्ते स्पृशन्तीनां लोकान्तं सर्वदिक्षु च**"। अत्र विस्तारेण तिर्यग्विस्तारपर्यन्तमन्द्रत्वेन

की ऊँचाई सम्बन्धी लक्ष-योजन-प्रमाण सुमेरु की ऊँचाई सहित सात राजू ऊर्ध्व लोक सम्बन्धी हैं।

१५०. इसके आगे अधोलोक का कथन करते हैं—अधोभाग में सुमेरु की आधारभूत रत्नप्रभा नामक पहली पृथ्वी है। उस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे-नीचे एक-एक राजू प्रमाण आकाश जाकर क्रमशः शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा नामक ६ भूमियाँ हैं। उनके नीचे भूमिरहित एक राजूप्रमाण जो क्षेत्र है वह निगोद आदि पंच स्थावरों से भरा हुआ है। घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक जो तीन वातवलय हैं वे रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथ्वी के आधारभूत हैं (रत्नप्रभा आदि पृथ्वी इन तीनों वातवलयों के आधार से हैं) यह जानना चाहिए। किस पृथ्वी में कितने (कुएँ सरीखे) नरक-बिल हैं, उनको यथाक्रम से कहते हैं—पहली भूमि में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवीं में तीन लाख, छठी में पाँच कम एक लाख तथा सातवीं पृथ्वी में पाँच, इस प्रकार सब मिलकर चौरासी लाख (८४०००००) नरक-बिल हैं। अब रत्नप्रभा आदि भूमियों का पिंड प्रमाण क्रम से कहते हैं। यहाँ पिंड शब्द का अर्थ गहराई या मोटाई है। प्रथम पृथ्वी का एक लाख अस्सी हजार, दूसरी का बत्तीस हजार, तीसरी का अट्ठाईस हजार, चौथी का चौबीस हजार, पाँचवीं का बीस हजार, छठी का सोलह हजार और सातवीं का आठ हजार योजन पिंड जानना चाहिए। उन पृथिवियों का तिर्यग् विस्तार चारों दिशाओं में यद्यपि त्रस नाड़ी की अपेक्षा से एक राजू प्रमाण है तथापि त्रसों से रहित जो त्रस नाड़ी के बाहर का भाग है वह लोक के अन्त तक है। सो ही कहा है—अन्त को स्पर्श करती हुई भूमियों का प्रमाण सब दिशाओं में लोकान्त प्रमाण है। अब यहाँ विस्तार की अपेक्षा तिर्यक् लोकपर्यन्त विस्तार वाली, गहराई (मोटाई) की अपेक्षा मेरु की अवगाह समान एक हजार योजन मोटी चित्रा पृथ्वी मध्य लोक में है। उस पृथ्वी के नीचे सोलह हजार योजन मोटा खर भाग है। उस खर भाग के भी नीचे चौरासी हजार योजन मोटा

मन्दरावगाहयोजनसहस्रबाहुल्या मध्यलोके या चित्रा पृथिवी तिष्ठति तस्या अधोभागे षोडशसहस्रबाहुल्यः खरभागस्तिष्ठति। तस्मादप्यधश्चतुरशीतियोजनसहस्रबाहुल्यः पङ्कभागस्तिष्ठति। ततोऽप्यधोभागे अशीतिसहस्रबाहुल्यो अब्बहुलभागस्तिष्ठतीत्येवं रत्नप्रभा पृथिवी त्रिभेदा ज्ञातव्या। तत्र खरभागेऽसुरकुलं विहाय नवप्रकार-भवनवासिदेवानां तथैव राक्षसकुलं विहाय सप्तप्रकारव्यन्तरदेवानां आवासा ज्ञातव्या इति। पङ्कभागे पुनरसुराणां राक्षसानां चेति। अब्बहुलभागे नारकास्तिष्ठन्ति।

१५१. तत्र बहुभूमिकप्रासादवदधोऽधः सर्वपृथिवीषु स्वकीयस्वकीयबाहुल्यात् सकाशादध उपरि चैकैकयोजनसहस्रं विहाय मध्यभागे भूमिक्रमेण पटलानि भवन्ति त्रयोदशैकादशनवसप्त-पञ्चत्र्येकसंख्यानि, तान्येव सर्वसमुदायेन पुनरेकोनपञ्चाशत्प्रमितानि पटलानि। पटलानि कोऽर्थः? प्रस्तारा इन्द्रका अन्तर्भूमयः इति। तत्र रत्नप्रभायां सीमन्तसंज्ञे प्रथमपटलविस्तारे नृलोकवत् यत्संख्येययोजन-विस्तारवत् मध्यबिलं तस्येन्द्रकसंज्ञा। तस्यैव चतुर्दिग्विभागे प्रतिदिशं पंक्तिरूपेणासंख्येययोजन-विस्ताराण्येकोनपञ्चाशद्बिलानि। तथैव विदिक् चतुष्टये प्रतिदिशं पंक्तिरूपेण यान्यष्टचत्वारिंशद्बिलानि तान्यप्यसंख्यातयोजनविस्ताराणि। तेषामपि श्रेणीबद्धसंज्ञा। दिग्विदिगष्टकान्तरेषु पंक्तिरहितत्वेन पुष्पप्रकरवत्कानिचित्संख्येययोजनविस्ताराणि कानिचिदसंख्येययोजनविस्ताराणि यानि तिष्ठन्ति तेषां

पंक भाग है। उससे भी नीचे के भाग में अस्सी हजार योजन मोटा अब्बहुल भाग है। इस प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी खर भाग, पंक भाग और अब्बहुल भाग भेदों से तीन प्रकार की जाननी चाहिए। उनमें ही खर भाग में असुरकुमार देवों के सिवाय नौ प्रकार के भवनवासी देवों के और राक्षसों के सिवाय सात प्रकार के व्यन्तर देवों के निवास स्थान हैं। पंक भाग में असुर तथा राक्षसों का निवास है। अब्बहुल भाग में नरक हैं।

१५१. बहुत से खनों (मंजिलों) वाले महल के समान नीचे-नीचे सब पृथिवियों में अपनी-अपनी मोटाई में, नीचे और ऊपर एक-एक हजार योजन छोड़ कर, जो बीच का भाग है, उसमें पटल होते हैं। भूमि के क्रम से वे पटल पहली पृथ्वी में तेरह, दूसरी में ग्यारह, तीसरी में नौ, चौथी में सात, पाँचवीं में पाँच, छठी में तीन और सातवीं में एक, ऐसे सब ४९ पटल हैं। 'पटल' का क्या अर्थ है? पटल का अर्थ प्रस्तार, इन्द्रक अथवा अन्तर भूमि है। रत्नप्रभा प्रथम पृथ्वी के सीमन्त नामक पहले पटल में ढाईद्वीप के समान संख्यात (पैंतालीस लाख) योजन विस्तार वाला जो मध्य-बिल है, उसकी इन्द्रक संज्ञा है। उस इन्द्रक की चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में असंख्यात योजन विस्तार वाले ४९ बिल हैं और इसी प्रकार चारों विदिशाओं में से प्रत्येक विदिशा में पंक्ति रूप जो ४८-४८ बिल हैं, वे भी असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं। (इन्द्रक-बिल की दिशा और विदिशाओं में जो पंक्ति रूप बिल हैं) उनकी 'श्रेणीबद्ध' संज्ञा है। चारों दिशाओं और विदिशाओं के बीच में, पंक्ति के बिना, बिखरे हुए पुष्पों के समान, संख्यात योजन तथा असंख्यात योजन विस्तार वाले जो बिल हैं, उनकी

प्रकीर्णकसंज्ञा। इतीन्द्रकश्रेणीबद्धप्रकीर्णकरूपेण त्रिधा नरका भवन्ति। इत्यनेन क्रमेण प्रथमपटलव्याख्यानं विज्ञेयम्। तथैव पूर्वोक्तैकोनपञ्चाशत्-पटलेष्वयमेव व्याख्यानक्रमः किन्त्वष्टकश्रेणिष्वेकैकपटलं प्रत्येकैकं हीयते यावत्सप्तमपृथिव्यां चतुर्दिग्भागेष्वेकं बिलं तिष्ठति।

१५२. रत्नप्रभादिनारकदेहोत्सेधः कथ्यते। प्रथमपटले हस्तत्रयम् ततः क्रमवृद्धिवशात्त्रयोदशपटले सप्तचापानि हस्तत्रयमङ्गुलषट्कं चेति। ततो द्वितीयपृथिव्यादिषु चरमेन्द्रकेषु द्विगुणद्विगुणे क्रियमाणे सप्तमपृथिव्यां चापशतपञ्चकं भवति। उपरितने नरके य उत्कृष्टोत्सेधः सोऽधस्तने नरके विशेषाधिको जघन्यो भवति, तथैव पटलेषु च ज्ञातव्यः। आयुःप्रमाणं कथ्यते। प्रथमपृथिव्यां प्रथमे पटले जघन्येन दशवर्षसहस्राणि तत आगमोक्तक्रमवृद्धिवशादन्तपटले सर्वोत्कर्षेणैकसागरोपमम्। ततः परं द्वितीय-पृथिव्यादिषु क्रमेण त्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपममुत्कृष्टजीवितम्। यच्च प्रथमपृथिव्या-मुत्कृष्टं तद्द्वितीयायां समयाधिकं जघन्यं, तथैव पटलेषु च। एवं सप्तमपृथिवीपर्यन्तं ज्ञातव्यम्। स्व-शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयविलक्षणैस्तीव्रमिथ्यात्वदर्शनज्ञानचारित्रैः परिणतानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-सरटपक्षिसर्पसिंहस्त्रीणां क्रमेण रत्नप्रभादिषु षट्पृथिवीषु गमनशक्तिरस्ति सप्तम्यां तु कर्मभूमिज-मनुष्याणां

'प्रकीर्णक' संज्ञा है। ऐसे इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक रूप से तीन प्रकार के नरक हैं। इस प्रकार प्रथम पटल का व्याख्यान जानना चाहिए। इसी प्रकार पूर्वोक्त जो सातों पृथिवियों में उनचास पटल हैं उनमें भी बिलों का ऐसा ही क्रम है; किन्तु प्रत्येक पटल में, आठों दिशाओं के श्रेणीबद्ध बिलों में से एक-एक बिल घटता गया है, अतः सातवीं पृथ्वी में चारों दिशाओं में एक-एक बिल ही रह जाता है।

१५२. रत्नप्रभादि पृथिवियों के नारकियों के शरीर की ऊँचाई कहते हैं—प्रथम पटल में तीन हाथ की ऊँचाई है और यहाँ से क्रम-क्रम से बढ़ते हुए तेरहवें पटल में सात धनुष, तीन हाथ और ६ अंगुल की ऊँचाई है। तदनन्तर दूसरी आदि पृथिवियों के अन्त के इंद्रक बिलों में दूनी-दूनी वृद्धि करने से सातवीं पृथ्वी में पाँच सौ धनुष की ऊँचाई होती है। ऊपर के नरक में जो उत्कृष्ट ऊँचाई है उससे कुछ अधिक नीचे के नरक में जघन्य ऊँचाई है। इसी प्रकार पटलों में भी जानना चाहिए। नारकी जीवों की आयु का प्रमाण कहते हैं। प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल में जघन्य दस हजार वर्ष की आयु है; तत्पश्चात् आगम में कहे हुए क्रमानुसार वृद्धि से अन्त के तेरहवें पटल में एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसके अनन्तर क्रम से दूसरी पृथ्वी में तीन सागर, तीसरी में सात सागर, चौथी में दस सागर, पाँचवीं में सत्रह सागर, छठी में बाईस सागर और सातवीं में तैंतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। जो पहली पृथ्वी में उत्कृष्ट आयु है, उससे एक समय अधिक दूसरी में जघन्य आयु है। इसी तरह जो पहले पटल में उत्कृष्ट आयु है सो दूसरे में समयाधिक जघन्य है। ऐसे ही सातवीं पृथ्वी तक जानना चाहिए। निजशुद्ध-आत्मानुभव रूप निश्चय रत्नत्रय से विलक्षण जो तीव्र मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, उनसे परिणत असंज्ञी पंचेन्द्रिय, सरट (गोह आदि) पक्षी, सर्प, सिंह और स्त्री की क्रम से रत्नप्रभादि छह पृथिवियों तक जाने की शक्ति है (असैनी पंचेन्द्रिय प्रथम भूमि तक, सरट (गोह) पक्षी तीसरी तक, सर्प

मत्स्यानामेव।

१५३. किञ्च–यदि कोऽपि निरन्तरं नरके गच्छति तदा पृथिवीक्रमेणाष्टसप्तषट्पञ्चचतुस्त्रिद्वि-संख्यवारानेव किन्तु सप्तमनरकादागताः पुनरप्येकवारं तत्रान्यत्र वा नरके गच्छन्तीति नियमः। नरकादागता जीवा बलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवचक्रवर्तिसंज्ञाः शलाकापुरुषाः न भवन्ति। चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तम-नरकेभ्यः समागताः क्रमेण तीर्थकरचरमदेहभावसंयतश्रावका न भवन्ति। तर्हि किं भवन्ति? ''**णिरयादो णिस्सरिदो णरतिरिए कम्मसण्णिपज्जत्तो। गब्भभवे उप्पज्जदि सत्तमणिरयादु तिरिएव।१।**''॥

१५४. इदानीं नारकदुःखानि कथ्यन्ते। तद्यथा–विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुष्ठानभावनोत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरहितैः पञ्चेन्द्रियविषयसुखा-स्वादलम्पटैर्मिथ्यादृष्टिजीवैर्यदुपार्जितं नरकायुर्नरकगत्यादिपापकर्म तदुदयेन नरके समुत्पद्य पृथिवी-चतुष्टये तीव्रोष्णदुःखं, पञ्चम्यां पुनरुपरितनत्रिभागे तीव्रोष्णदुःखमधोभागे तीव्रशीतदुःखं, षष्ठी-

---

चौथी तक, सिंह पाँचवीं तक तथा स्त्री का जीव छठी भूमि तक जा सकता है) और सातवीं पृथ्वी में कर्मभूमि के उत्पन्न हुए मनुष्य और मगरमच्छ ही जा सकते हैं।[1]

१५३. **विशेष**—यदि कोई जीव निरन्तर नरक में जाता है तो प्रथम पृथ्वी में आठ बार, दूसरी में सात बार, तीसरी में छह बार, चौथी में पाँच बार, पाँचवीं में चार बार, छठी में तीन बार और सातवीं में दो बार ही जा सकता है किन्तु सातवें नरक से आये हुए जीव फिर एक बार उसी या अन्य किसी नरक में जाते हैं, ऐसा नियम है।[2] नरक से आये हुए जीव बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती नामक शलाकापुरुष नहीं होते। चौथे नरक से आये हुए जीव तीर्थंकर, पाँचवें से आये हुए जीव चरम शरीरी, छठे से आये हुए जीव भावलिंगी मुनि और सातवें से आये हुए जीव श्रावक नहीं होते। तो क्या होते हैं? नरक से आये हुए जीव, कर्मभूमि में संज्ञी, पर्याप्त तथा गर्भज मनुष्य या तिर्यञ्च होते हैं। सातवें नरक से आये हुए तिर्यञ्च ही होते हैं ॥१॥

१५४. अब नारकियों के दुःखों का कथन करते हैं। यथा—विशुद्धज्ञान, दर्शनस्वभाव निज शुद्ध परमात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरण की भावना से समुत्पन्न निर्विकार-परम-आनन्दमय सुखरूपी अमृत के आस्वाद से रहित और पाँच इन्द्रियों के विषय सुखास्वाद में लम्पट, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों ने जो नरक आयु तथा नरक गति आदि पापकर्म उपार्जन किया है, उसके उदय से वे नरक में

---

१. (i) तत्त्वार्थसार २/१४७ में भी ऐसा ही लिखा है।

(ii) इतना विशेष है कि सातवीं पृथ्वी में १५ कर्म भूमियों के साथ कर्मभूमि प्रतिभाग (स्वयंप्रभ पर्वत के बाह्य भाग में उत्पन्न) के जीव भी जाते हैं। धवल पु० ११ प्रस्तावना, पृष्ठ १० तथा मूल पृष्ठ ११३-११४।

२. हरिवंशपुराण ४/३७९ में भी लिखा है कि—यह नियम है कि सातवें नरक से निकल कर संज्ञी तिर्यंच ही होता है और वह संख्यात वर्ष की आयु पाकर फिर नरक जाता है।

सप्तम्योरतिशीतोत्पन्नदुःखमनुभवन्ति। तथैव छेदनभेदनक्रकचविदारणयन्त्रपीडनशूलारोहणादितीव्रदुःखं सहन्ते। तथा चोक्तं–"**अच्छिणिमीलणमित्तं णत्थि सुहं दुःखमेव अणुबद्धं। णिरये णेरयियाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं।१।**" प्रथमपृथिवीत्रयपर्यन्तमासुरोदीरितं चेति। एवं ज्ञात्वा नारकदुःखविनाशार्थं भेदाभेद-रत्नत्रयभावना कर्त्तव्या। संक्षेपेणाधोलोकव्याख्यानं ज्ञातव्यम्॥

१५५. अतः परं तिर्यग्लोकः कथ्यते–जम्बूद्वीपादिशुभनामानो द्वीपाः, लवणोदादिशुभनामानः समुद्राश्च द्विगुणद्विगुणविस्तारेण पूर्वं पूर्वं परिवेष्ट्य वृत्ताकाराः स्वयम्भूरमणपर्यन्तास्तिर्यग्विस्तारेण विस्तीर्णास्तिष्ठन्ति यतस्तेन कारणेन तिर्यग्लोको भण्यते, मध्यलोकश्च। तद्यथा–तेषु सार्द्ध-तृतीयोद्धार–सागरोपमलोमच्छेदप्रमितेष्वसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु मध्ये जम्बूद्वीपस्तिष्ठति।

१५६. स च जम्बूवृक्षोपलक्षितो मध्यभागस्थितमेरुपर्वतसहितो वृत्ताकारलक्षयोजनप्रमाणस्तद्-द्विगुणविष्कम्भेण योजनलक्षद्वयप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे लवणसमुद्रेण वेष्टितः। सोऽपि लवण-

---

उत्पन्न होते हैं। वहाँ पहले की चार पृथिवियों में तीव्र गर्मी का दुःख और पाँचवीं पृथ्वी के ऊपरी तीन चौथाई भाग में तीव्र उष्णता का दुःख और नीचे के एक चौथाई भाग में तीव्र शीत का दुःख तथा छठी और सातवीं पृथ्वी में अत्यन्त शीत के दुःख का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार छेदने, भेदने, करोती से चीरने, घानी में पेलने और शूली पर चढ़ाने आदि रूप तीव्र दुःख सहन करते हैं। सो ही कहा है कि नरक में रात-दिन दुःख-रूप अग्नि में पकते हुए नारकी जीवों को नेत्रों के टिमकार मात्र भी सुख नहीं है किन्तु सदा दुःख ही लगा रहता है ॥१॥ पहली तीन पृथिवियों तक असुरकुमार देवों द्वारा उत्पन्न किये हुए दुःख भी सहते हैं। ऐसा जानकर, नरक-सम्बन्धी दुःख के नाश के लिए भेद तथा अभेद रूप रत्नत्रय की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार संक्षेप से अधोलोक का व्याख्यान जानना चाहिए।

१५५. इसके अनन्तर तिर्यग् लोक का वर्णन करते हैं। अपने दूने-दूने विस्तार से पूर्व-पूर्व द्वीप को समुद्र और समुद्र को द्वीप इस क्रम से बेढ़ करके, गोल आकार वाले जम्बूद्वीप आदि शुभ नामों वाले द्वीप और लवणोदधि आदि शुभ नामों वाले समुद्र; स्वयम्भूरमण समुद्र तक तिर्यग् विस्तार से फैले हुए हैं। इस कारण इसको तिर्यग् लोक या मध्य लोक भी कहते हैं। वह इस प्रकार है—साढ़े तीन उद्धार सागर प्रमाण लोमों (बालों) के टुकड़ों के बराबर जो असंख्यात द्वीप समुद्र हैं;[१] उनके बीच में जम्बूद्वीप है।

१५६. वह जम्बू (जामुन) के वृक्ष से चिह्नित तथा मध्य भाग में स्थित सुमेरु पर्वत सहित है; गोलाकार एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है। बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले दो लाख योजन

---

१. यहाँ साढ़े तीन उद्धार सागर प्रमाण रोम खण्ड के बराबर द्वीपसमुद्र बताये हैं। परन्तु जहाँ तक मुझे विदित है, ढाई उद्धार सागर प्रमाण (यानि २५ कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्य प्रमाण) ही द्वीप सागरों की संख्या देखने में आई है। सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि– "अर्द्ध तृतीयोद्धारसागरोपमानां यावन्तो रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्राः" (सर्वार्थसिद्धि ३/३८)

समुद्रस्तद्द्विगुणविस्तारेण योजनलक्षचतुष्टयप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे धातकीखण्डद्वीपेन वेष्टितः। सोऽपि धातकीखण्डद्वीपस्तद्द्विगुणविस्तारेण योजनाष्टलक्षप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे कालोदकसमुद्रेण वेष्टितः। सोऽपि कालोदक समुद्रस्तद्द्विगुणविस्तारेण षोडशयोजनलक्षप्रमाणेन वृत्ताकारेण बहिर्भागे पुष्करद्वीपेन वेष्टितः। इत्यादिद्विगुणद्विगुणविष्कम्भः स्वयम्भूरमणद्वीपस्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्तो ज्ञातव्यः। यथा जम्बूद्वीपलवणसमुद्रविष्कम्भद्वयसमुदयाद्योजनलक्षत्रयप्रमितात्सकाशाद्धातकीखण्ड एकलक्षेणाधिकस्तथैवासंख्येयद्वीपसमुद्रविष्कम्भेभ्यः स्वयम्भूरमणसमुद्रविष्कम्भ एकलक्षेणाधिको ज्ञातव्यः। एवमुक्तलक्षणेष्वसंख्येयद्वीपसमुद्रेषु व्यन्तरदेवानां पर्वताद्युपरिगता आवासाः, अधोभूभागगतानि भवनानि, तथैव द्वीपसमुद्रादिगतानि पुराणि च, परमागमोक्तभिन्नलक्षणानि। तथैव खरभागपङ्कभागस्थितप्रतरासंख्येयप्रमाणासंख्येयव्यन्तरदेवावासाः, तथैव द्वासप्ततिलक्षाधिककोटिसप्तप्रमितभवनवासिदेवसम्बन्धिभवनान्यकृत्रिमजिनचैत्यालयसहितानि भवन्ति। एवमतिसंक्षेपेण तिर्यग्लोको व्याख्यातः॥

१५७. अथ तिर्यग्लोकमध्यस्थितो मनुष्यलोको व्याख्यायते–तन्मध्यस्थितजम्बूद्वीपे सप्तक्षेत्राणि

प्रमाण गोलाकार लवण समुद्र से वेष्टित (बेढ़ा हुआ) है। वह लवण समुद्र भी बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले चार लाख योजन प्रमाण गोलाकार धातकीखण्ड द्वीप से वेष्टित है। वह धातकीखण्ड द्वीप भी बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले आठ लाख योजन प्रमाण गोलाकार कालोदधि समुद्र से वेष्टित है। वह कालोदक समुद्र भी बाह्य भाग में अपने से दूने विस्तार वाले सोलह लाख योजन प्रमाण गोलाकार पुष्कर द्वीप से वेष्टित है। इस प्रकार यह दूना–दूना विस्तार स्वयंभूरमण द्वीप तथा स्वयंभूरमण समुद्र तक जानना चाहिए। जैसे जम्बूद्वीप एक लाख योजन और लवणसमुद्र दो लाख योजन चौड़ा है, इन दोनों का समुदाय तीन लाख योजन है; उससे एक लाख योजन अधिक अर्थात् चार लाख योजन धातकीखण्ड है। इसी प्रकार असंख्यात द्वीप समुद्रों के विष्कंभ का जो योग है उससे एक लाख योजन अधिक स्वयंभूरमण समुद्र का विष्कम्भ जानना चाहिए। ऐसे पूर्वोक्त लक्षण के धारक असंख्यात द्वीप समुद्रों में पर्वत आदि के ऊपर व्यन्तर देवों के आवास; नीचे की पृथ्वी के भाग में भवन और द्वीप तथा समुद्र आदि में पुर हैं। इन आवास; भवन तथा पुरों के परमागमानुसार भिन्न–भिन्न लक्षण हैं। इसी प्रकार रत्नप्रभा भूमि के खरभाग और पंकभाग में स्थित प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्य व्यन्तरदेवों के आवास हैं तथा सात करोड़ बहत्तर लाख भवनवासी देवों के भवन अकृत्रिम जिन चैत्यालयों सहित हैं। इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप से मध्यलोक का व्याख्यान किया।

१५७. अब तिर्यग् लोक के बीच में स्थित मनुष्य लोक का व्याख्यान करते हैं। उस मनुष्यलोक

यही का यही कथन राजवार्तिक ३/३८/७/२०८ में भी है। एवमेव, ''यानी ढाई उद्धार सागर प्रमाण ही द्वीप समुद्र हैं'', यह बात गोम्मटसार कर्मकाण्ड प्रस्तावना, पृ० ८ [श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला] गोम्मटसार जीवकाण्ड गा० ११८ की भूमिका, पर्याप्ति प्ररूपणा पृ० २३८ (ज्ञानपीठ प्रकाशन) राजवार्तिक हिन्दी–सार पृ० ३९८ [पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य], हरिवंशपुराण ७/५१, श्लोकवार्तिक ५/३९३ (दो बार), व पृ० ३९६ सिद्धान्तसार दीपक ४/११, राजवार्तिक ३/७/२/१७० आदि ग्रन्थों में लिखी है। अतः बृहद् द्रव्यसंग्रह के ''सार्द्ध तृतीय'' इस शब्द की जगह 'अर्द्ध तृतीय' पाठ उचित प्रतीत होता है।

भण्यन्ते। दक्षिणदिग्विभागादारभ्य भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतसंज्ञानि सप्तक्षेत्राणि भवन्ति। क्षेत्राणि कोऽर्थः? वर्षा वंशा देशा जनपदा इत्यर्थः। तेषां क्षेत्राणां विभागकारकाः षट्कुलपर्वताः कथ्यन्ते—दक्षिणदिग्भागमादीकृत्य हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिसंज्ञा भरतादिसप्तक्षेत्राणामन्तरेषु पूर्वापरायताः षट् कुलपर्वताः भवन्ति। पर्वता इति कोऽर्थः? वर्षधरपर्वताः सीमापर्वता इत्यर्थः। तेषां पर्वतानामुपरि क्रमेण ह्रदाः कथ्यन्ते। पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीकसंज्ञा अकृत्रिमा षट् ह्रदा भवन्ति। ह्रदा इति कोऽर्थः? सरोवराणीत्यर्थः। तेभ्यः पद्मादिषड्ह्रदेभ्यः सकाशादागमकथितक्रमेण निर्गतायाश्चतुर्दश-महानद्यस्ताः कथ्यन्ते।

१५८.तथाहि—हिमवत्पर्वतस्थपद्मनाममहाह्रदादर्धक्रोशावगाहक्रोशार्धाधिकषट्योजन[1] प्रमाणविस्तार-पूर्वतोरणद्वारेण निर्गत्य तत्पर्वतस्यैवोपरि पूर्वदिग्विभागेन योजनशतपञ्चकं गच्छति ततो गङ्गाकूटसमीपे दक्षिणेन व्यावृत्य भूमिस्थकुण्डे पतति तस्माद् दक्षिणद्वारेण निर्गत्य भरतक्षेत्रमध्यभागस्थितस्य दीर्घत्वेन पूर्वापरसमुद्रस्पर्शिनो विजयार्द्धस्य गुहाद्वारेण निर्गत्य तत आर्यखण्डार्द्धभागे पूर्वेण व्यावृत्य प्रथमावगाहापेक्षया दशगुणेन गव्यूतिपञ्चकावगाहेन तथैव प्रथमविष्कम्भापेक्षया दशगुणेन योजनार्द्ध-सहितद्विषष्टियोजनप्रमाणविस्तारेण च पूर्वसमुद्रे प्रविष्टा गङ्गा। तथा गङ्गावत्सिन्धुरपि तस्मादेव हिमवत्पर्वतस्थ-

---

के बीच में स्थित जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं। दक्षिण दिशा से आरम्भ होकर भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नामक सात क्षेत्र हैं। क्षेत्र का क्या अर्थ है? यहाँ क्षेत्र शब्द से वर्ष; वंश; देश अथवा जनपद अर्थ का ग्रहण है। उन क्षेत्रों का विभाग करने वाले छह कुलाचल हैं। दक्षिण दिशा की ओर से उनके नाम १. हिमवत्, २. महाहिमवत्, ३. निषध, ४. नील, ५. रुक्मी और ६. शिखरी हैं। पूर्व–पश्चिम लम्बे ये पर्वत उन भरत आदि सप्त क्षेत्रों के बीच में हैं। पर्वत का क्या अर्थ है? पर्वत का अर्थ वर्षधर पर्वत अथवा सीमा पर्वत है। उन पर्वतों के ऊपर ह्रदों का क्रम से कथन करते हैं। १. पद्म, २. महापद्म, ३. तिगिंछ, ४. केसरी, ५. महापुंडरीक, ६. पुंडरीक ये अकृत्रिम छह ह्रद हैं। ह्रद का क्या अर्थ है? ह्रद का अर्थ सरोवर है। उन पद्म आदि ६ ह्रदों से आगम में कहे क्रमानुसार जो चौदह महानदियाँ निकली हैं, उनका वर्णन करते हैं।

१५८. तथा—हिमवत् पर्वत पर स्थित पद्म नामक महाह्रद के पूर्व तोरण द्वार से, अर्ध कोस प्रमाण गहरी और एक कोस अधिक छह योजन प्रमाण चौड़ी गंगा नदी निकलकर, उसी हिमवत् पर्वत के ऊपर पूर्व दिशा में पाँच सौ योजन तक जाती है; फिर वहाँ से गंगाकूट के पास दक्षिण दिशा को मुड़कर, भूमि में स्थित कुण्ड में गिरती है, वहाँ से दक्षिण द्वार से निकलकर, भरत क्षेत्र के मध्य भाग में स्थित तथा अपनी लम्बाई से पूर्व पश्चिम समुद्र को छूने वाले विजयार्द्ध पर्वत की गुफा के द्वार से निकलकर, आर्यखण्ड के अर्द्ध भाग में पूर्व को घूमकर पहली गहराई की अपेक्षा दसगुणी अर्थात् ५ कोस गहरी और इसी प्रकार पहली चौड़ाई से दस गुणी अर्थात् साढ़े बासठ योजन चौड़ी गंगा नदी पूर्व समुद्र में

---

१. 'क्रोशार्धाधिक षट् योजन' इति पाठान्तरम्।

पद्महृदात्पर्वतस्यैवोपरि पश्चिमद्वारेण निर्गत्य पश्चाद्दक्षिणदिग्विभागेनागत्य विजयार्द्धगुहाद्वारेण निर्गत्यार्य-खण्डार्द्धभागे पश्चिमेन व्यावृत्य पश्चिमसमुद्रे प्रविष्टेति। एवं दक्षिणदिग्विभागसमागतगङ्गासिन्धुभ्यां पूर्वापरायतेन विजयार्द्धपर्वतेन च षट्खण्डीकृतं भरतक्षेत्रम्।

१५९. अथ महाहिमवत्पर्वतस्थमहापद्महृदाद्दक्षिणदिग्विभागेन हैमवतक्षेत्रमध्ये समागत्य तत्रस्थ-नाभिगिरिपर्वतं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धे प्रदक्षिणं कृत्वा रोहित्पूर्वसमुद्रं गता। तथैव हिमवत्-पर्वतस्थितपद्महृदादुत्तरेणागत्य तमेव नाभिगिरिं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्द्धप्रदक्षिणं कृत्वा रोहितास्या पश्चिमसमुद्रं गता। इति रोहिद्रोहितास्यासंज्ञं नदीद्वन्द्वं हैमवतसंज्ञजघन्यभोगभूमिक्षेत्रे ज्ञातव्यम्। अथ निषधपर्वतस्थिततिगिञ्छनामहृदाद्दक्षिणेनागत्य नाभिगिरिपर्वतं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धप्रदक्षिणं कृत्वा हरित्पूर्वसमुद्रं गता। तथैव महाहिमवत्पर्वतस्थमहापद्मनामहृदादुत्तरदिग्विभागेनागत्य तमेव नाभिगिरिं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धप्रदक्षिणं कृत्वा हरिकान्ता नाम नदी पश्चिमसमुद्रं गता। इति हरिद्धरिकान्तासंज्ञं नदीद्वयं हरिसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे विज्ञेयम्। अथ नीलपर्वतस्थितकेसरिनाम-हृदाद्दक्षिणेनागत्योत्तरकुरुसंज्ञोत्कृष्टभूमिक्षेत्रे मध्येन गत्वा मेरुसमीपे गजदन्तपर्वतं भित्त्वा च प्रदक्षिणेन

प्रवेश करती है। इस गंगा की भाँति सिन्धु नामक महानदी भी उसी हिमवत् पर्वत पर विद्यमान पद्म हृद के पश्चिम द्वार से निकलकर पर्वत पर ही गमन करके फिर दक्षिण दिशा को आकर विजयार्द्ध की गुफा के द्वार से निकलकर, आर्यखण्ड के अर्धभाग में पश्चिम को मुड़कर पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। इस प्रकार दक्षिण दिशा को आई हुई गंगा और सिन्धु दो नदियों से और पूर्व-पश्चिम लम्बे विजयार्द्ध पर्वत से भरत क्षेत्र छह खण्ड वाला किया गया है अर्थात् भरत के छह खण्ड हो जाते हैं।

१५९. महाहिमवत् पर्वत पर स्थित महापद्म नामक हृद के दक्षिण दिशा की ओर से हैमवत् क्षेत्र के मध्य में आकर, वहाँ पर स्थित नाभिगिरि पर्वत को आधा योजन से न छूती हुई (पर्वत से आधा योजन दूर रहकर), उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करती हुई रोहित् नामा नदी पूर्व समुद्र को गई है। इसी प्रकार रोहितास्या नदी हिमवत् पर्वत के पद्म हृद से उत्तर को आकर, उसी नाभिगिरि से आधा योजन दूर रहती हुई; उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करके पश्चिम समुद्र में गई है। इस प्रकार रोहित और रोहितास्या नामक दो नदियाँ हैमवत् नामक जघन्य भोगभूमि के क्षेत्र में जाननी चाहिए। हरित नदी निषध पर्वत के तिगिंछ हृद से दक्षिण को आकर नाभिगिरि पर्वत से आधे योजन दूर रहकर उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करके पूर्व समुद्र में गई है। इसी तरह हरिकान्ता नदी महाहिमवत् पर्वत के महापद्म हृद से उत्तर दिशा की ओर आकर, उसी नाभिगिरि को आधे योजन तक न स्पर्शती हुई अर्ध प्रदक्षिणा देकर, पश्चिम समुद्र में गई है। ऐसे हरित और हरिकान्ता नामक दो नदियाँ हरि नामक मध्य-भोग-भूमि क्षेत्र में हैं। सीता नदी नील पर्वत के केसरी हृद से दक्षिण को आकर, उत्तरकुरु नामक उत्कृष्ट भोगभूमि क्षेत्र के बीच में होकर, मेरु के पास आकर, गजदन्त पर्वत को भेदकर और मेरु की प्रदक्षिणा

योजनार्धेन मेरुं विहाय पूर्वभद्रशालवनस्य मध्येन पूर्वविदेहस्य च मध्ये शीतानामनदी पूर्वसमुद्रं गता। तथैव निषधपर्वतस्थिततिगिञ्छह्रदादुत्तरदिग्विभागेनागत्य देवकुरुसंज्ञोत्तमभोगभूमिक्षेत्रमध्येन गत्वा मेरुसमीपे गजदन्तपर्वतं भित्त्वा च प्रदक्षिणेन योजनार्धेन मेरुं विहाय पश्चिमभद्रशालवनस्य मध्येन पश्चिमविदेहस्य च मध्येन शीतोदा पश्चिमसमुद्रं गता। एवं शीताशीतोदासंज्ञं नदीद्वयं विदेहाभिधाने कर्मभूमिक्षेत्रे ज्ञातव्यम्। यत्पूर्वं गङ्गासिन्धुनदीद्वयस्य विस्तारावगाहप्रमाणं भणितं तदेव क्षेत्रे क्षेत्रे नदीयुगलं प्रति विदेहपर्यन्तं द्विगुणं द्विगुणं ज्ञातव्यम्। अथ गङ्गा चतुर्दशसहस्रपरिवारनदीसहिता, सिन्धुरपि तथा, तद्द्विगुणसंख्यानं रोहिद्रोहितास्याद्वयम्, ततोऽपि द्विगुणसंख्यानं हरिद्धरिकान्ताद्वयमिति। तथा षड्विंशत्यधिक-योजनशतपञ्चकमेकोनविंशतिभागीकृतैकयोजनस्य भागषट्कं च यद्दक्षिणोत्तरेण कर्मभूमिसंज्ञभरतक्षेत्रस्य विष्कम्भप्रमाणं तद्द्विगुणं हिमवत्पर्वते, तस्माद् द्विगुणं हैमवतक्षेत्रे, इत्यादि द्विगुणं द्विगुणं विदेहपर्यन्तं ज्ञातव्यम्। तथा पद्मह्रदो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो दशयोजनावगाहो योजनैकप्रमाणपद्म-विष्कम्भस्तस्मान्महापद्मे द्विगुणस्तस्मादपि तिगिञ्छे द्विगुण इति॥

१६०. अथ यथा भरते हिमवत्पर्वतान्निर्गतं गङ्गासिन्धुद्वयं, तथोत्तरे कर्मभूमिसंज्ञैरावतक्षेत्रे शिखरि-पर्वतान्निर्गतं रक्तारक्तोदानदीद्वयम्। यथा च हैमवतसंज्ञे जघन्यभोगभूमिक्षेत्रे महाहिमवद्धिमवन्नाम-

---

से आधे योजन तक दूर रहकर, पूर्व भद्रशालवन और पूर्व विदेह के मध्य में होकर, पूर्व समुद्र को गई है। इसी प्रकार सीतोदा नदी निषधपर्वत के तिगिंछह्रद से उत्तर को आकर, देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमि क्षेत्र के बीच में से जाकर मेरु के पास गजदन्त पर्वत को भेदकर और मेरु की प्रदक्षिणा से आधे योजन दूर रहकर, पश्चिम भद्रशालवन के और पश्चिम विदेह के मध्य में गमन करके, पश्चिम समुद्र को गई है। ऐसे सीता और सीतोदा नामक नदियों का युगल विदेह नामक कर्मभूमि के क्षेत्र में जानना चाहिए। जो विस्तार और अवगाह का प्रमाण पहले गंगा-सिंधु नदियों का कहा है, उससे दूना-दूना विस्तार आदि, प्रत्येक क्षेत्र में, नदियों के युगलों का विदेह तक जानना चाहिए। गंगा चौदह हजार परिवार की नदियों सहित है। इसी प्रकार सिन्धु भी चौदह हजार नदियों की धारक है। इनसे दूनी परिवार नदियों की धारक रोहित व रोहितास्या है। हरित-हरिकान्ता का इससे भी दूना परिवार है। सीता-सीतोदा दोनों नदियों का इनसे भी दूना परिवार है। दक्षिण से उत्तर को पाँच सौ छब्बीस योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से ६ भाग प्रमाण कर्मभूमि संज्ञक भरत क्षेत्र का विष्कम्भ है। उससे दूना हिमवत् पर्वत का, हिमवत् पर्वत से दूना हैमवत क्षेत्र का, ऐसे दूना-दूना विष्कम्भ विदेह क्षेत्र तक जानना चाहिए। पद्म ह्रद एक हजार योजन लम्बा, उससे आधा (पाँच सौ योजन) चौड़ा और दस योजन गहरा है, उसमें एक योजन का कमल है, उससे दूना महापद्म ह्रद में और उससे दूना तिगिंछ ह्रद में जानना।

१६०. जैसे भरतक्षेत्र में हिमवत् पर्वत से गंगा तथा सिन्धु ये दो नदियाँ निकलती हैं वैसे ही उत्तर दिशा में कर्मभूमिसंज्ञक ऐरावत क्षेत्र में शिखरी पर्वत से निकली हुई रक्ता तथा रक्तोदा नामक दो नदियाँ

पर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं रोहित्रोहितास्यानदीद्वयं, तथोत्तरे हैरण्यवतसंज्ञजघन्यभोगभूमिक्षेत्रे शिखरिरुक्मि-संज्ञपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं सुवर्णकूलारूप्यकूलानदीद्वयम्। तथैव यथा हरिसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे निषधमहाहिमवन्नामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं हरिद्धरिकान्तानदीद्वयं, तथोत्तरे रम्यकसंज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे रुक्मिनीलनामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गतं नारीनरकान्तानदीद्वयमिति विज्ञेयम्। सुषमसुषमादिषट्काल-संबंधिपरमागमोक्तायुरुत्सेधादिसहिता दशसागरोपमकोटिकोटिप्रमितावसर्पिणी तथोत्सर्पिणी च यथा भरते वर्त्तते तथैवैरावते च। अयन्तु विशेषः भरतम्लेच्छखण्डेषु विजयार्धनगेषु च चतुर्थकालसमयाद्यन्त-तुल्यकालोऽस्ति नापरः। किं बहुना यथा खट्वाया एक भागे ज्ञाते द्वितीयभागस्तथैव ज्ञायते तथैव जम्बूद्वीपस्य क्षेत्रपर्वतनदीह्रदादीनां यदेव दक्षिणविभागे व्याख्यानं तदुत्तरेऽपि विज्ञेयम्।

१६१. अथ देहममत्वमूलभूतमिथ्यात्वरागादिविभावरहिते केवलज्ञानदर्शनसुखाद्यनन्तगुणसहिते च निजपरमात्मद्रव्ये यया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभावनया कृत्वा विगतदेहा देहरहिताः सन्तो मुनयः प्राचुर्येण यत्र मोक्षं गच्छन्ति स विदेहो भण्यते। तस्य जम्बूद्वीपस्य मध्यमवर्त्तिनः किमपि विवरणं क्रियते।

हैं। जैसे हैमवत नामक जघन्य भोगभूमि क्षेत्र में महाहिमवत् और हिमवत् नामक दो पर्वतों से क्रमशः निकली हुई रोहित तथा रोहितास्या, ये दो नदियाँ हैं, इसी प्रकार उत्तर में हैरण्यवत नामक जघन्य भोगभूमि में, शिखरी और रुक्मी नामक पर्वतों से क्रमशः निकली हुई सुवर्णकूला तथा रूप्यकूला, ये दो नदियाँ हैं। जिस तरह हरि नामक मध्यम भोगभूमि में, निषध और महाहिमवन् पर्वतों से क्रमशः निकली हुई हरित-हरिकान्ता, ये दो नदियाँ हैं, उसी तरह उत्तर में रम्यक नामक मध्यम भोगभूमि-क्षेत्र में रुक्मी और नील संज्ञक दो पर्वतों से क्रमशः निकली हुई नारी-नरकान्ता दो नदियाँ जाननी चाहिए। सुषमासुषमा आदि छहों कालों सम्बन्धी आयु तथा शरीर की ऊँचाई आदि परमागम में कही गई है, उन सहित दस-कोटाकोटिसागर प्रमाण, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल भरत जैसे ही ऐरावत में भी होते हैं। इतना विशेष है कि भरत ऐरावत के म्लेच्छ खण्डों में और विजयार्ध पर्वतों में चतुर्थ काल के आदि तथा अन्त के समान काल वर्तता है, अन्य काल नहीं वर्तता।[१] विशेष क्या कहें, जैसे खाट का एक भाग जान लेने पर उसका दूसरा भाग भी उसी प्रकार समझ लिया जाता है; उसी तरह जम्बूद्वीप के क्षेत्र, नदी, पर्वत और ह्रद आदि का जो दक्षिण दिशा सम्बन्धी व्याख्यान है वही उत्तर दिशा सम्बन्धी भी जानना।

१६१. अब शरीर में ममत्व के कारणभूत मिथ्यात्व तथा राग आदि विभावों से रहित और केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों से सहित निज परमात्म द्रव्य में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप भावना करके, मुनिजन जहाँ से विगतदेह अर्थात् देहरहित होकर अधिकता से मोक्ष प्राप्त करते हैं उसको विदेह कहते हैं। जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित विदेह क्षेत्र का कुछ वर्णन करते

---

१. यानि इन स्थानों में अवसर्पिणी काल में चतुर्थकाल के प्रारम्भ से अन्त तक हानि और उत्सर्पिणी काल में तृतीय काल के प्रारम्भ से अन्त तक वृद्धि होती रहती है। यहाँ अन्य कालों की प्रवृत्ति नहीं होती। त्रिलोकसार ८८३ तथा सिद्धान्तसार दीपक ९/३५४, तिलोयपण्णत्ति ४/१६०७ आदि।

तद्यथा—नवनवतिसहस्रयोजनोत्सेध एकसहस्रावगाह आदौ भूमितले दशयोजनसहस्रप्रवृत्तविस्तार उपर्युपरि पुनरेकादशांशहानिक्रमेण हीयमानत्वे सति मस्तके योजनसहस्रविस्तार आगमोक्ताकृत्रिमचैत्यालयदेववन-देवावासाद्यागमकथितानेकाश्चर्यसहितो विदेहक्षेत्रमध्ये महामेरुर्नाम पर्वतोऽस्ति। स च गजो जातस्तस्मान्मेरुगजात्सकाशादुत्तरमुखे दन्तद्वयाकारेण यन्निर्गतं पर्वतद्वयं तस्य गजदन्तद्वयसंज्ञेति, तथोत्तरे भागे नीलपर्वते लग्नं तिष्ठति। तयोर्मध्ये यत्त्रिकोणाकारक्षेत्रमुत्तमभोगभूमिरूपं तस्योत्तरकुरुसंज्ञा। तस्य च मध्ये मेरोरीशानदिग्विभागे शीतानीलपर्वतयोर्मध्ये परमागमवर्णितानाद्यकृत्रिमपार्थिवो जम्बूवृक्षस्तिष्ठति। तस्या एव शीताया उभयतटे यमलगिरिसंज्ञं पर्वतद्वयं विज्ञेयम्। तस्मात्पर्वतद्वयाद्दक्षिणभागे कियन्तमध्वानं गत्वा शीतानदीमध्ये अन्तरान्तरेण पद्मादिह्रदपञ्चकमस्ति। तेषां ह्रदानामुभयपार्श्वयोः प्रत्येकं सुवर्णरत्नमयजिनगृहमण्डिता लोकानुयोगव्याख्यानेन दश दश सुवर्णपर्वता भवन्ति। तथैव निश्चय-व्यवहाररत्नत्रयाराधकोत्तमपात्रपरमभक्तिदत्ताहारदानफलेनोत्पन्नानां तिर्यग्मनुष्याणां स्वशुद्धात्म-भावनोत्पन्ननिर्विकारसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादविलक्षणस्य चक्रवर्त्तिभोगसुखादप्यधिकस्य विविधपञ्चेन्द्रियभोगसुखस्य प्रदायका ज्योतिर्गृहप्रदीपतूर्यभोजनवस्त्रमाल्यभाजनभूषणरागमदोत्पादक-रसांगसंज्ञा दशप्रकारकल्पवृक्षाः भोगभूमिक्षेत्रं व्याप्य तिष्ठन्तीत्यादिपरमागमोक्तप्रकारेणानेकाश्चर्याणि

हैं। निन्यानवे हजार योजन ऊँचा, एक हजार योजन गहरा और आदि में भूमितल पर दस हजार योजन गोल विस्तार वाला तथा ऊपर-ऊपर ग्यारहवें भाग हानि क्रम से घटते-घटते शिखर पर एक हजार योजन विस्तार का धारक और शास्त्र में कहे हुए अकृत्रिम चैत्यालय, देववन तथा देवों के आवास आदि नाना प्रकार के आश्चर्यों सहित ऐसा महामेरु नामक पर्वत विदेहक्षेत्र के मध्य में है, वही मानों गज (हाथी) हुआ, उस मेरुरूप गज से उत्तर दिशा में दो दन्तों के आकार से जो दो पर्वत निकले हैं, उनका नाम 'दो-गजदन्त' है और वे दोनों उत्तर भाग में जो नील पर्वत है उसमें लगे हुए हैं। उन दोनों गजदन्तों के मध्य में जो त्रिकोण आकार वाला उत्तम भोगभूमिरूप क्षेत्र है, उसका नाम 'उत्तरकुरु' है। उसके मध्य में मेरु की ईशान दिशा में सीता नदी और नील पर्वत के बीच में परमागम-कथित अनादि-अकृत्रिम तथा पृथ्वीकायिक जम्बूवृक्ष है। उसी सीता नदी के दोनों किनारों पर यमकगिरि नामक दो पर्वत जानने चाहिए। उन दोनों यमकगिरि पर्वतों से दक्षिण दिशा में कुछ मार्ग चलने पर सीता नदी के बीच में कुछ-कुछ अन्तराल से पद्म आदि पाँच ह्रद हैं। उन ह्रदों के दोनों पसवाड़ों में से प्रत्येक पार्श्व में, लोकानुयोग के व्याख्यान के अनुसार, सुवर्ण तथा रत्ननिर्मित जिनचैत्यालयों से भूषित दस-दस सुवर्ण पर्वत हैं। इसी प्रकार निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रय की आराधना करने वाले उत्तम पात्रों को परम भक्ति से दिये हुए आहार-दान के फल से उत्पन्न हुए तिर्यञ्च और मनुष्यों को, निज शुद्ध आत्मभावना से उत्पन्न होने वाला निर्विकार सदा आनन्दरूप सुखामृत रस के आस्वाद से विलक्षण और चक्रवर्ती के भोग-सुखों से भी अधिक, नाना प्रकार के पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी भोग-सुखों के देने वाले ज्योतिरांग, गृहांग, दीपांग, तूर्यांग, भोजनांग, वस्त्रांग, माल्यांग, भाजनांग, भूषणांग तथा राग एवं मद को उत्पन्न करने वाले रसांग नामक, ऐसे दस प्रकार के कल्पवृक्ष भोगभूमियाँ क्षेत्र में स्थित हैं, इत्यादि परमागम कथित प्रकार से

ज्ञातव्यानि। तस्मादेव मेरुगजाद्दक्षिणदिग्विभागेन गजदन्तद्वयमध्ये देवकुरुसंज्ञमुत्तमभोगभूमिक्षेत्रमुत्तर-कुरुवद्विज्ञेयम्।

१६२. तस्मादेव मेरुपर्वतात्पूर्वस्यां दिशि पूर्वापरेण द्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भं सवेदिकं भद्रशालवनमस्ति। तस्मात्पूर्वदिग्भागे कर्मभूमिसंज्ञः पूर्वविदेहोऽस्ति। तत्र नीलकुलपर्वताद्दक्षिणभागे शीतानद्या उत्तरभागे मेरोः प्रदक्षिणेन यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागः कथ्यते। तथाहि—मेरोः पूर्वदिशाभागे या पूर्वभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति तस्याः पूर्वदिग्भागे प्रथमं क्षेत्रं भवति, तदनन्तरं दक्षिणोत्तरायतो वक्षारनामा पर्वतो भवति, तदनन्तरं क्षेत्रं तिष्ठति, ततोऽप्यनन्तरं विभङ्गा नदी भवति, ततोऽपि क्षेत्रं, तस्मादपि वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, ततश्च क्षेत्रं, ततोऽपि विभङ्गानदी, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततः परं वक्षारपर्वतोऽस्ति, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभङ्गानदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पूर्वसमुद्रसमीपे यद्देवारण्यं तस्य वेदिका चेति नवभित्तिभिरष्टक्षेत्राणि ज्ञातव्यानि। तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—१. कच्छा, २. सुकच्छा, ३. महाकच्छा, ४. कच्छावती, ५. आवर्त्ता, ६. लाङ्गलावर्त्ता, ७. पुष्कला, ८. पुष्कलावती चेति। इदानीं क्षेत्रमध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते-१. क्षेमा, २. क्षेमपुरी, ३. रिष्टा, ४. रिष्टपुरी, ५. खड्गा, ६. मञ्जूषा, ७. औषधी, ८. पुण्डरीकिणी चेति।

१६३. अत ऊर्ध्वं शीताया दक्षिणविभागे निषधपर्वतादुत्तरविभागे यान्यष्टक्षेत्राणि तानि कथ्यन्ते।

अनेक आश्चर्य समझने चाहिए। उसी मेरुगज से निकले हुए दक्षिण दिशा में जो दो-गजदन्त हैं उनके मध्य में उत्तरकुरु के समान देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमि का क्षेत्र जानना चाहिए।

१६२. उसी मेरु पर्वत से पूर्व दिशा में, पूर्व-पश्चिम बाईस हजार योजन विस्तार वाला वेदी सहित भद्रशाल वन है। उससे पूर्व दिशा में कर्मभूमि नामक पूर्वविदेह है। वहाँ नील नामक कुलाचल से दक्षिण दिशा में और सीता नदी के उत्तर में मेरु की प्रदक्षिणा रूप से जो क्षेत्र है, उनके विभाग कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—मेरु से पूर्व दिशा में जो पूर्व भद्रशाल वन की वेदिका है, उससे पूर्व दिशा में प्रथम क्षेत्र है, उसके पश्चात् दक्षिण-उत्तर लम्बा वक्षार पर्वत है, उसके बाद क्षेत्र है, उसके आगे विभंगा नदी है, उसके आगे क्षेत्र है, उसके अनन्तर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है और फिर क्षेत्र है, उससे आगे फिर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, तदनन्तर पूर्व समुद्र के पास जो देवारण्य नामक वन है, उसकी वेदिका है। ऐसे नौ भित्तियों (दीवारों) से आठ क्षेत्र जानने चाहिए। क्रम से उनके नाम हैं—१. कच्छा, २. सुकच्छा, ३. महाकच्छा, ४. कच्छावती, ५. आवर्ता, ६. लांगलावर्ता, ७. पुष्कला और ८. पुष्कलावती। अब क्षेत्रों के मध्य में जो नगरियाँ हैं, उनके नाम कहते हैं— १. क्षेमा, २. क्षेमपुरी, ३. रिष्टा, ४. रिष्टपुरी, ५. खड्गा, ६. मंजूषा, ७. औषधी और ८. पुण्डरीकिणी।

१६३. इसके ऊपर सीता नदी के दक्षिण भाग में निषध पर्वत से उत्तर भाग में जो आठ क्षेत्र हैं

तद्यथा—पूर्वोक्ता या देवारण्यवेदिका तस्याः पश्चिमभागे क्षेत्रमस्ति, तदनन्तरं वक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, तस्माद्वक्षारपर्वतस्ततश्च क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतः, ततः क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो मेरुदिग्भागे पूर्वभद्रशालवनवेदिका भवतीति नवभित्तिमध्येऽष्टौ क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि। इदानीं तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—१. वच्छा, २. सुवच्छा, ३. महावच्छा, ४. वच्छावती, ५. रम्या, ६. रम्यका, ७. रमणीया, ८. मङ्गलावती चेति। इदानीं तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रभाकरी ४, अङ्का ५, पद्मा ६, शुभा ७, रत्नसंचया ८ चेति, इति पूर्वविदेहक्षेत्रविभागव्याख्यानं समाप्तम्।

१६४. अथ मेरोः पश्चिमदिग्भागे पूर्वापरद्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भो पश्चिमभद्रशालवनानन्तरं पश्चिमविदेहस्तिष्ठति। तत्र निषधपर्वतादुत्तरविभागे शीतोदानद्या दक्षिणभागे यानि क्षेत्राणि तेषां विभाग उच्यते। तथाहि—मेरुदिग्भागे या पश्चिमभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति तस्याः पश्चिमभागे क्षेत्रं भवति, ततो दक्षिणोत्तरायतो वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः परं क्षेत्रं, ततो विभङ्गानदी, ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, तदनन्तरं पश्चिमसमुद्रसमीपे यद्भूतारण्यवनं तिष्ठति तस्य वेदिका चेति नवभित्तिषु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति। तेषां नामानि कथ्यन्ते—१. पद्मा, २. सुपद्मा,

---

उनका कथन करते हैं। वे इस प्रकार हैं—पहले कही हुई जो देवारण्य की वेदी है उसके पश्चिम में क्षेत्र है, तदनन्तर वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके बाद क्षेत्र है, फिर वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, तत्पश्चात् विभंगा नदी है, फिर क्षेत्र है, पुनः वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, पश्चात् विभंगा नदी है, तदनन्तर क्षेत्र है, फिर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके आगे मेरु की पूर्व दिशा वाले पूर्व भद्रशाल वन की वेदी है। ऐसे नौ भित्तियों के मध्य में आठ क्षेत्र जानने योग्य हैं। उन क्षेत्रों के नाम क्रम से कहते हैं—१. वच्छा, २. सुवच्छा, ३. महावच्छा, ४. वच्छावती, ५. रम्या, ६. रम्यका, ७. रमणीया और ८. मंगलावती। अब उन क्षेत्रों में स्थित नगरियों के नाम कहते हैं—१. सुसीमा, २. कुण्डला, ३. अपराजिता, ४. प्रभाकरी, ५. अंका, ६. पद्मा, ७. शुभा और रत्नसंचया। इस प्रकार पूर्व विदेहक्षेत्र के विभागों का व्याख्यान समाप्त हुआ।

१६४. अब मेरु पर्वत की पश्चिम दिशा में पूर्व-पश्चिम बाईस हजार योजन लम्बे पश्चिम भद्रशाल वन के बाद पश्चिम विदेहक्षेत्र है। वहाँ निषध पर्वत के उत्तर में और सीतोदा नदी के दक्षिण में जो क्षेत्र हैं, उनके विभाग कहते हैं—मेरु की पश्चिम दिशा में जो पश्चिम भद्रशाल वन की वेदिका है, उसके पश्चिम भाग में क्षेत्र है, उससे आगे दक्षिण-उत्तर लम्बा वक्षार पर्वत है, तदनन्तर क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके बाद क्षेत्र है, उससे आगे वक्षार पर्वत है, तत्पश्चात् क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, फिर क्षेत्र है, उसके आगे वक्षार पर्वत है, तत्पश्चात् क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके अनन्तर पश्चिम समुद्र के समीप जो भूतारण्य नामक वन है उसकी वेदिका है। ऐसे नौ भित्तियों के मध्य में आठ क्षेत्र होते हैं। उनके नाम क्रम से

३. महापद्मा, ४. पद्मकावती, ५. शंखा, ६. नलिना, ७. कुमुदा, ८. सलिला चेति। तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथयन्ति—१. अश्वपुरी, २. सिंहपुरी, ३. महापुरी, ४. विजयापुरी, ५. अरजापुरी, ६. विरजापुरी, ७. अशोकापुरी, ८. विशोकापुरी चेति।

१६५. अत ऊर्ध्वं शीतोदाया उत्तरभागे नीलकुलपर्वताद्दक्षिणे भागे यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागभेदं कथयति। पूर्वभणिता या भूतारण्यवनवेदिका तस्याः पूर्वभागे क्षेत्रं भवति। तदनन्तरं वक्षारपर्वतस्तदनन्तरं क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतः, ततश्च क्षेत्रं, ततश्च विभङ्गा नदी, ततोऽपि क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततः क्षेत्रं, ततश्च वक्षारपर्वतस्ततः क्षेत्रं, ततो मेरुदिशाभागे पश्चिमभद्रशालवनवेदिका चेति नवभित्तिषु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति। तेषां क्रमेण नामानि कथ्यन्ते—१. वप्रा, २. सुवप्रा, ३. महावप्रा, ४. वप्रकावती, ५. गन्धा, ६. सुगन्धा, ७. गन्धिला, ८. गन्धमालिनी चेति। तन्मध्यस्थितनगरीणां नामानि कथ्यन्ते—१. विजया, २. वैजयन्ती, ३. जयन्ती, ४. अपराजिता, ५. चक्रपुरी, ६. खड्गपुरी, ७. अयोध्या, ८. अवध्या चेति।

१६६. अथ यथा-भरतक्षेत्रे गङ्गासिन्धुनदीद्वयेन विजयार्धपर्वतेन च म्लेच्छखण्डपञ्चकमार्यखण्डं चेति षट् खण्डानि जातानि। तथैव तेषु द्वात्रिंशत्क्षेत्रेषु गङ्गासिन्धुसमाननदीद्वयेन विजयार्धपर्वतेन च प्रत्येकं षट् खण्डानि ज्ञातव्यानि। अयं तु विशेषः। एतेषु सर्वदैव चतुर्थकालादिसमानकालः, उत्कर्षेण

कहते हैं— १. पद्मा, २. सुपद्मा, ३. महापद्मा, ४. पद्मकावती, ५. शंखा, ६. नलिना, ७. कुमुदा और ८. सलिला। उन क्षेत्रों के मध्य में स्थित नगरियों के नाम कहते हैं—१. अश्वपुरी, २. सिंहपुरी, ३. महापुरी, ४. विजयापुरी, ५. अरजापुरी, ६. विरजापुरी, ७. अशोकापुरी और ८. विशोकापुरी।

१६५. अब सीतोदा के उत्तर में और नील कुलाचल के दक्षिण में जो क्षेत्र हैं, उनके विभाग-भेद का वर्णन करते हैं—पहले कही हुई जो भूतारण्य वन की वेदिका है उसके पूर्व में क्षेत्र है, उसके बाद वक्षार पर्वत, उसके अनन्तर क्षेत्र, उसके बाद विभंगा नदी, उसके पीछे क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके अनन्तर पुनः क्षेत्र, उसके बाद पुनः विभंगा नदी, उसके अनन्तर पुनः क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके बाद क्षेत्र, तदनन्तर विभंगा नदी, उसके अनन्तर क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके बाद क्षेत्र है। उसके अनन्तर मेरु की (पश्चिम) दिशा में स्थित पश्चिम भद्रशाल वन की वेदिका है। ऐसे नौ भित्तियों के बीच में आठ क्षेत्र हैं। उनके नाम क्रम से कहते हैं—१. वप्रा, २. सुवप्रा, ३. महावप्रा, ४. वप्रकावती, ५. गंधा, ६. सुगंधा, ७. गंधिला और ८. गंधमालिनी। उन क्षेत्रों के मध्य में वर्तमान नगरियों के नाम कहते हैं—१. विजया, २. वैजयन्ती, ३. जयन्ती, ४. अपराजिता, ५. चक्रपुरी, ६. खड्गपुरी, ७. अयोध्या और ८. अवध्या।

१६६. अब, जैसे भरतक्षेत्र में गंगा और सिंधु इन दोनों नदियों से तथा विजयार्ध पर्वत से पाँच म्लेच्छ खण्ड और एक आर्य खण्ड ऐसे छह खण्ड हुए हैं, उसी तरह पूर्वोक्त बत्तीस विदेह क्षेत्रों में गंगा सिंधु समान दो नदियों और विजयार्ध पर्वत से प्रत्येक क्षेत्र के छह खण्ड जानने चाहिए। इतना विशेष

पूर्वकोटिजीवितं, पञ्चशतचापोत्सेधश्चेति विज्ञेयम्। पूर्वप्रमाणं कथ्यते।

''पुव्वस्स हु परिमाणं सदरिं खलु सदसहस्सकोडीओ।
छप्पण्णं च सहस्सा बोधव्वा वासगणनाओ।१।''

इति संक्षेपेण जम्बूद्वीप-व्याख्यानं समाप्तम्।

१६७. तदनन्तरं यथा सर्वद्वीपेषु सर्वसमुद्रेषु च द्वीपसमुद्रमर्यादाकारिका योजनाष्टकोत्सेधा वज्रवेदिकास्ति तथा जम्बूद्वीपेऽप्यस्तीति विज्ञेयम्। तद् बहिर्भागे योजनलक्षद्वयवलयविष्कम्भ आगम-कथितषोडशसहस्रयोजनजलोत्सेधाद्यनेकाश्चर्यसहितो लवणसमुद्रोऽस्ति। तस्मादपि बहिर्भागे योजनलक्ष-चतुष्टयवलयविष्कम्भो धातकीखण्डद्वीपोऽस्ति। तत्र च दक्षिणभागे लवणोदधिकालोदधिसमुद्र-द्वयवेदिकास्पर्शी दक्षिणोत्तरायामः सहस्रयोजनविष्कम्भः शतचतुष्टयोत्सेध इक्ष्वाकारनामपर्वतोऽस्ति। तथोत्तरविभागेऽपि। तेन पर्वतद्वयेन खण्डीकृतं पूर्वापरधातकीखण्डद्वयं ज्ञातव्यम्। तत्र पूर्वधातकी-खण्डद्वीपमध्ये चतुरशीतिसहस्रयोजनोत्सेधः सहस्रयोजनावगाहः क्षुल्लकमेरुरस्ति। तथा पश्चिमधातकी-खण्डेऽपि। यथा जम्बूद्वीपमहामेरौ भरतादिक्षेत्रहिमवदादिपर्वतगङ्गादिनदीपद्मादिह्रदानां दक्षिणोत्तरेण व्याख्यानं कृतं तथात्र पूर्वधातकीखण्डमेरौ पश्चिमधातकीखण्डमेरौ च ज्ञातव्यम्। अत एव जम्बूद्वीपापेक्षया

है कि इन सब क्षेत्रों में सदा चौथे काल के आदि जैसा काल रहता है। उत्कृष्टता से कोटि पूर्व प्रमाण आयु है और पाँच सौ धनुष प्रमाण शरीर का उत्सेध है। पूर्व का प्रमाण कहते हैं—पूर्व का प्रमाण सत्तर लाख छप्पन हजार कोड़ी वर्ष जानना चाहिए। इस प्रकार संक्षेप में जम्बूद्वीप का व्याख्यान समाप्त हुआ।

१६७. जैसे, सब द्वीप और समुद्रों में द्वीप और समुद्र की मर्यादा (सीमा) करने वाली आठ योजन ऊँची वज्र की वेदिका (दीवार) है, उसी प्रकार से जम्बूद्वीप में भी है, ऐसा जानना चाहिए। उस वेदिका के बाहर दो लाख-योजन चौड़ा, गोलाकार, शास्त्रोक्त सोलह हजार योजन जल की ऊँचाई (गहराई) आदि अनेक आश्चर्यों सहित लवणसमुद्र है; उसके बाहर चार लाख योजन गोल विस्तार वाला धातकीखण्ड द्वीप है। वहाँ पर दक्षिण भाग में लवणोदधि और कालोदधि इन दोनों समुद्रों की वेदिका को छूने वाला, दक्षिण-उत्तर लम्बा, एक हजार योजन विस्तार वाला तथा चार सौ योजन ऊँचा इष्वाकार नामक पर्वत है। इसी प्रकार उत्तर भाग में भी एक इष्वाकार पर्वत है। इन दोनों पर्वतों से विभाजित, पूर्व धातकीखण्ड तथा पश्चिम धातकीखण्ड ऐसे दो भाग जानने चाहिए। पूर्व धातकीखण्ड द्वीप के मध्य में चौरासी हजार योजन ऊँचा और एक हजार योजन गहरा छोटा मेरु है। उसी प्रकार पश्चिम धातकीखण्ड में भी एक छोटा मेरु है। जैसे जम्बूद्वीप के महामेरु में भरत आदि क्षेत्र, हिमवत् आदि पर्वत, गंगा आदि नदी और पद्म आदि ह्रदों का दक्षिण व उत्तर दिशाओं सम्बन्धी व्याख्यान किया है; वैसा ही इस पूर्व धातकीखण्ड के मेरु और पश्चिम धातकीखण्ड के मेरु सम्बन्धी जानना चाहिए। इसी कारण धातकीखण्ड में जम्बू द्वीप की अपेक्षा संख्या में भरत क्षेत्र आदि दूने होते हैं, परन्तु लम्बाई

संख्यां प्रति द्विगुणानि भवन्ति भरतक्षेत्राणि, न च विस्तारायामापेक्षया। कुलपर्वताः पुनर्विस्तारापेक्षयैव द्विगुणा नत्वायामं प्रति। तत्र धातकीखण्डद्वीपे यथा चक्रस्यारास्तथाकाराः कुलपर्वता भवन्ति। यथा चाराणां विवराणि छिद्राणि मध्यान्यभ्यन्तरे सङ्कीर्णानि बहिर्भागे विस्तीर्णानि तथा क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि॥

१६८. इत्थंभूतं धातकीखण्डद्वीपमष्टलक्षयोजनवलयविष्कम्भः कालोदकसमुद्रः परिवेष्ट्य तिष्ठति। तस्माद्बहिर्भागे योजनलक्षाष्टकं गत्वा पुष्करद्वीपस्य वलयाकारेण चतुर्दिशाभागे मानुषोत्तरनामा पर्वतस्तिष्ठति। तत्र पुष्करार्धेऽपि धातकीखण्डद्वीपवद्दक्षिणोत्तरेणेक्ष्वाकारनामपर्वतद्वयं पूर्वापरेण क्षुल्लक-मेरुद्वयं च। तथैव भरतादिक्षेत्रविभागश्च बोद्धव्यः। परं किन्तु जम्बूद्वीपभरतादिसंख्यापेक्षया भरतक्षेत्रादि-द्विगुणत्वं न च धातकीखण्डापेक्षया। कुलपर्वतानां तु धातकीखण्डकुलपर्वतापेक्षया द्विगुणो विष्कम्भ आयामश्च। उत्सेधप्रमाणं पुनर्दक्षिणभागे विजयार्धपर्वते योजनानि पञ्चविंशतिः, हिमवति पर्वते शतं, महाहिमवति द्विशतं, निषधे चतुःशतं, तथोत्तरभागे च। मेरुसमीपगजदन्तेषु शतपञ्चकं, नदीसमीपे वक्षारेषु चान्त्यनिषधनीलसमीपे चतुःशतं च, शेषपर्वतानां च मेरुं त्यक्त्वा यदेव जम्बूद्वीपे भणितं तदेवार्धतृतीयद्वीपेषु च विज्ञेयम्। तथा नामानि च क्षेत्रपर्वतनदीदेशनगरादीनां तान्येव। तथैव क्रोशद्वयोत्सेधा पञ्चशतधनुर्विस्तारा

चौड़ाई की अपेक्षा से दुगुने नहीं हैं। कुल पर्वत तो विस्तार की अपेक्षा ही दुगुने हैं, आयाम (लम्बाई) की अपेक्षा दुगुने नहीं हैं। उस धातकीखण्ड द्वीप में, जैसे चक्र के आरे होते हैं, वैसे आकार के धारक कुलाचल हैं। जैसे चक्र के आरों के छिद्र अन्दर की ओर तो संकीर्ण (सुकड़े) होते हैं और बाहर की ओर विस्तीर्ण (फैले हुए) होते हैं, वैसा ही क्षेत्रों का आकार समझना चाहिए।

१६८. इस प्रकार जो धातकीखण्ड द्वीप है उसको आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदक समुद्र बेढ़े हुए है। उस कालोदक समुद्र के बाहर आठ लाख योजन चलकर पुष्करवर द्वीप के अर्ध भाग में गोलाकार रूप से चारों दिशाओं में मानुषोत्तर नामक पर्वत है। उस पुष्करार्ध द्वीप में भी धातकीखण्ड द्वीप के समान दक्षिण तथा उत्तर दिशा में इष्वाकार दो पर्वत हैं, पूर्व-पश्चिम में दो छोटे मेरु हैं। इसी प्रकार (धातकीखण्ड के समान) भरत आदि क्षेत्रों का विभाग जानना चाहिए। परन्तु जम्बूद्वीप के भरत आदि की अपेक्षा से यहाँ पर संख्या में दूने-दूने भरत आदि क्षेत्र हैं, धातकीखण्ड की अपेक्षा से भरत आदि दूने नहीं हैं। कुल पर्वतों का विष्कम्भ तथा आयाम धातकीखण्ड के कुल पर्वतों की अपेक्षा दुगुना है। दक्षिण में विजयार्ध पर्वत की ऊँचाई का प्रमाण पच्चीस योजन, हिमवत् पर्वत की ऊँचाई १०० योजन, महाहिमवान् पर्वत की दो सौ योजन, निषध की चार सौ योजन प्रमाण है तथा उत्तर भाग में भी इसी प्रकार उत्सेध प्रमाण है। मेरु के समीप में गजदन्तों की ऊँचाई पाँच सौ योजन है और नील निषध पर्वतों के पास चार सौ योजन है। वक्षार पर्वतों की ऊँचाई नदी के निकट तथा अन्त में नील और निषध पर्वतों के पास चार सौ योजन है। मेरु को छोड़कर शेष पर्वतों की जो ऊँचाई जम्बूद्वीप में कही है सो ही पुष्करार्द्ध तक द्वीपों में जाननी चाहिए तथा क्षेत्र, पर्वत, नदी, देश, नगर आदि के नाम भी वे ही हैं, जो कि जम्बूद्वीप में हैं। इसी प्रकार दो कोस ऊँची, पाँच सौ धनुष

पद्मरागरत्नमयी वनादीनां वेदिका सर्वत्र समानेति। अत्रापि चक्राकारवत्पर्वता आरविवरसंस्थानानि क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि। मानुषोत्तरपर्वतादभ्यन्तरभाग एव मनुष्यास्तिष्ठन्ति न च बहिर्भागे। तेषां च जघन्यजीवितमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणम्, उत्कर्षेण पल्यत्रयं, मध्ये मध्यमविकल्पा बहवस्तथा तिरश्चां च। एवमसंख्येयद्वीपसमुद्रविस्तीर्णतिर्यग्लोकमध्येऽर्धतृतीयद्वीपप्रमाणः संक्षेपेण मनुष्यलोको व्याख्यातः।

१६९. अथ मानुषोत्तरपर्वतसकाशाद्बहिर्भागे स्वयम्भूरमणद्वीपार्धं परिक्षिप्य योऽसौ नागेन्द्रनामा पर्वतस्तस्मात्पूर्वभागे ये संख्यातीता द्वीपसमुद्रास्तिष्ठन्ति तेषु यद्यपि व्यन्तरा निरन्तरा इति वचनाद् व्यन्तरदेवावासास्तिष्ठन्ति तथापि पल्यप्रमाणायुषां तिरश्चां संबंधिनी जघन्यभोगभूमिरिति ज्ञेयम्। नागेन्द्रपर्वताद्बहिर्भागे स्वयम्भूरमणद्वीपार्धे समुद्रे च पुनर्विदेहवत्सर्वदैव कर्मभूमिश्चतुर्थकालश्च। परं किन्तु मनुष्या न सन्ति। एवमुक्तलक्षणतिर्यग्लोकस्य तदन्तरं मध्यमभागवर्त्तिनो मनुष्यलोकस्य च प्रतिपादनेन संक्षेपेण मध्यमलोकव्याख्यानं समाप्तम्। अथ मनुष्यलोके द्विहीनशतचतुष्टयं तिर्यग्लोके तु नन्दीश्वरकुण्डलरुचकाभिधानद्वीपत्रयेषु क्रमेण द्विपञ्चाशच्चतुष्टयचतुष्टयसंख्याश्चाकृत्रिमाः स्वतंत्रजिनगृहा ज्ञातव्याः।

चौड़ी पद्मराग रत्नमयी जो वन आदि की वेदिका है, वह सब द्वीपों में समान है। इस पुष्करार्ध द्वीप में भी चक्र के आरों के आकार समान पर्वत और आरों के छिद्रों के समान क्षेत्र जानने चाहिए। मानुषोत्तर पर्वत के भीतरी भाग में ही मनुष्य निवास करते हैं बाहरी भाग में नहीं। उन मनुष्यों की जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य के बराबर है। मध्य में मध्यम विकल्प बहुत से हैं तिर्यञ्चों की आयु भी मनुष्यों की आयु के समान है। इस प्रकार असंख्यात द्वीप-समुद्रों से विस्तरित तिर्यग्लोक के मध्य में ढाईद्वीप प्रमाण मनुष्यलोक का संक्षेप से व्याख्यान हुआ।

१६९. अब मानुषोत्तर पर्वत से बाहरी भाग में, स्वयंभूरमण द्वीप के अर्धभाग को बेढ़कर जो नागेन्द्र नामक पर्वत है, उस पर्वत के पूर्व भाग में जो असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, उनमें व्यन्तर देव निरन्तर रहते हैं, इस वचनानुसार, यद्यपि व्यन्तर देवों के आवास हैं, तथापि एक पल्यप्रमाण आयु वाले तिर्यञ्चों की जघन्य भोगभूमि भी है, ऐसा जानना चाहिए। नागेन्द्र पर्वत से बाहर स्वयंभूरमण आधे द्वीप और पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र में विदेहक्षेत्र के समान, सदा ही कर्मभूमि और चतुर्थकाल रहता है।[१] परन्तु वहाँ पर मनुष्य नहीं हैं। इस प्रकार तिर्यग्लोक के तथा उस तिर्यक् लोक के मध्य में विद्यमान मनुष्य-लोक के निरूपण द्वारा मध्य लोक का व्याख्यान समाप्त हुआ। मनुष्य लोक में तीन सौ अट्ठानवे (३९८) और तिर्यक् लोक में नन्दीश्वर द्वीप, कुण्डल द्वीप तथा रुचक द्वीप इन तीन द्वीपों सम्बन्धी क्रमशः बावन, चार, चार अकृत्रिम स्वतन्त्र चैत्यालय जानने चाहिए। (मध्यलोक में सब अकृत्रिम चैत्यालय ४५८ हैं)।

---

१. **नोट**—यहाँ स्वयंप्रभ पर्वत से परे स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्र में चतुर्थकाल का होना बताया है। स्वयंभूरमण समुद्र में स्थित महामत्स्य जलचर जीव सप्तम नरक जाते हैं, यह बात धवल पु॰ ११ पृ॰ १८,१९,२० तथा भगवती आराधना १६४४ से अत्यन्त स्पष्ट है। वहाँ का शालिशिक्यमत्स्य भी मरकर सातवें नरक में जाता है। [वही

१७०. अत ऊर्ध्वं ज्योतिर्लोकः कथ्यते। तद्यथा—चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्राणि प्रकीर्णतारकाश्चेति ज्योतिष्कदेवाः पञ्चविधा भवन्ति। तेषां मध्येऽस्माद्भूमितलादुपरि नवत्यधिकसप्तशतयोजनान्याकाशे गत्वा तारक विमानाः सन्ति, ततोऽपि योजनदशकं गत्वा सूर्यविमानाः, ततः परमशीतियोजनानि गत्वा चन्द्रविमानाः, ततोऽपि त्रैलोक्यसारकथितक्रमेण योजनचतुष्टयं गते अश्विन्यादिनक्षत्रविमानाः, ततः परं योजनचतुष्टयं गत्वा बुधविमानाः, ततः परं योजनत्रयं गत्वा शुक्रविमानाः, ततो योजनत्रये गते बृहस्पतिविमानाः, ततो योजनत्रयानन्तरं मङ्गलविमानाः, ततोऽपि योजनत्रयानन्तरं शनैश्चरविमाना इति। तथा चोक्तं—

''णउदुत्तरसत्तसया दस सीदी चउदुगं तु तिचउक्कं।
तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवअंगिरारसणी।१।''

१७१. ते च ज्योतिष्कदेवा अर्धतृतीयद्वीपेषु निरन्तरं मेरोः प्रदक्षिणेन परिभ्रमणगतिं कुर्वन्ति। तत्र

---

१७०. इसके पश्चात् ज्योतिष्कलोक का वर्णन करते हैं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक तारा ऐसे ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के होते हैं। उनमें से इस मध्य लोक के पृथ्वीतल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर आकाश में तारों के विमान हैं, तारों से दस योजन ऊपर सूर्य के विमान हैं। उससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा के विमान हैं। उसके अनन्तर, त्रिलोकसार कथित क्रमानुसार, चार योजन ऊपर अश्विनी आदि नक्षत्रों के विमान हैं। उसके पश्चात् चार योजन ऊपर बुध के विमान हैं। उसके अनन्तर तीन योजन ऊपर शुक्र के विमान हैं। वहाँ से तीन योजन ऊपर बृहस्पति के विमान हैं। उसके पश्चात् तीन योजन पर मंगल के विमान हैं। वहाँ से भी तीन योजन के अन्तर पर शनैश्चर के विमान हैं। सो ही कहा है—

सात सौ नब्बे, दस, अस्सी, चार, चार, तीन, तीन, तीन और तीन योजन ऊपर क्रम से तारा, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनैश्चर के विमान हैं[1]।

१७१. वे ज्योतिष्क देव ढाईद्वीप में मेरु की प्रदक्षिणा देते हुए सदा परिभ्रमण करते हैं। समय

ग्रन्थ, वही प्रकरण] इससे उनके वज्रवृषभनाराचसंहनन का अस्तित्व सिद्ध होता है। [गोम्मटसार कर्मकाण्ड ३१] धवला में स्वयंप्रभ पर्वत के पर भाग में स्थित त्रसकायिक पर्याप्त राशि के जीवों की इतर कर्मभूमिज जीवों की अपेक्षा दीर्घायु और सबसे बड़ी अवगाहना कही है।

इन बातों को देखते हुए उक्त क्षेत्र में विदेह क्षेत्र के समान चतुर्थकाल का अस्तित्व ही सम्भव लगता है। परन्तु, इस विषय में दूसरा मत भी पाया जाता है। यथा—नागेन्द्र (स्वयंप्रभ) पर्वत के बाह्य भाग से स्वयंभूरमण समुद्र के अन्त पर्यन्त, अर्थात् अर्द्ध स्वयंभूरमण द्वीप में और स्वयंभूरमण समुद्र में अवसर्पिणी के पंचमकाल के प्रारम्भ सदृश हानि-वृद्धि रहित पंचमकाल का ही नित्य वर्तन होता है, ऐसा लिखा है। (सिद्धान्तसार दीपक ९/३६३, त्रिलोकसार ८८४, जम्बूदीपपण्णत्ति २/१७४/२७)

१. त्रिलोकसार ३३२

घटिकाप्रहरदिवसादिरूपः स्थूलव्यवहारकालः समयनिमिषादिसूक्ष्मव्यवहारकालवत् यद्यप्यनादिनिधनेन समयघटिकादिविवक्षितविकल्परहितेन कालाणुद्रव्यरूपेण निश्चयकालेनोपादानभूतेन जन्यते तथापि चन्द्रादित्यादिज्योतिष्कदेवविमानगमनागमनेन कुम्भकारेण निमित्तभूतेन मृत्पिण्डोपादानजनितघट इव व्यज्यते प्रकटीक्रियते ज्ञायते तेन कारणेनोपचारेण ज्योतिष्कदेवकृत इत्यभिधीयते। निश्चयकालस्तु तद्विमानगतिपरिणतेर्बहिरङ्गसहकारिकारणं भवति कुम्भकारचक्रभ्रमणस्याधस्तनशिलावदिति॥

१७२. इदानीमर्धतृतीयद्वीपेषु चन्द्रादित्यसंख्या कथ्यते। तथाहि–जम्बूद्वीपे चन्द्रद्वयं सूर्यद्वयं च, लवणोदे चतुष्टयं, धातकीखण्डद्वीपे द्वादश चन्द्रादित्याश्च, कालोदकसमुद्रे द्विचत्वारिंशच्चन्द्रादित्याश्च, पुष्करार्धे द्वीपे द्वासप्ततिचन्द्रादित्याश्चेति। ततः परं भरतैरावतस्थितजम्बूद्वीपचन्द्रसूर्ययोः किमपि विवरणं क्रियते। तद्यथा–जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे योजनानामशीतिशतं बहिर्भागे लवणसमुद्रसंबंधे त्रिशदधिकशतत्रयमिति समुदायेन दशोत्तरयोजनशतपञ्चकं चारक्षेत्रं भण्यते तच्चन्द्रादित्ययोरेकमेव। तत्र भरतेन बहिर्भागे तस्मिंश्चारक्षेत्रे सूर्यस्य चतुरशीतिशतसंख्या मार्गा भवन्ति, चन्द्रस्य पञ्चदशैव।

निमिष आदि सूक्ष्म व्यवहार काल के समान घटिका, पहर, दिवस आदि स्थूल व्यवहारकाल भी, समय-घटिका आदि विवक्षित भेदों से रहित तथा अनादिनिधन कालाणुद्रव्यमयी निश्चयकाल रूप उपादान से यद्यपि उत्पन्न होता है; तो भी, निमित्तभूत कुम्भकार के द्वारा उपादान रूप मृत्तिकापिंड से घट प्रकट होने की तरह, उन ढाईद्वीप में चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिष्क देवों के विमानों के गमनागमन से यह व्यवहारकाल प्रकट किया जाता है तथा जाना जाता है; इस कारण उपचार से व्यवहार काल ज्योतिष्क देवों का किया हुआ है, ऐसा कहा जाता है। कुम्भकार के चाक के भ्रमण में बहिरंग सहकारी कारण नीचे की कीली के समान, निश्चयकाल तो, उन ज्योतिष्क देवों के विमानों के गमन रूप परिणमन में बहिरंग सहकारी कारण होता है।

१७२. अब ढाईद्वीपों में जो चन्द्र और सूर्य हैं, उनकी संख्या बतलाते हैं। वह इस प्रकार है—जम्बूद्वीप में दो चन्द्रमा और दो सूर्य हैं, लवणोदकसमुद्र में चार चन्द्रमा और चार सूर्य हैं, धातकीखण्ड द्वीप में बारह चन्द्रमा और बारह सूर्य हैं, कालोदक समुद्र में ४२ चन्द्रमा और ४२ सूर्य हैं तथा पुष्करार्ध द्वीप में ७२ चन्द्रमा और बहत्तर ही सूर्य हैं। इसके अनन्तर भरत और ऐरावत में स्थित जम्बूद्वीप के चन्द्र-सूर्य का कुछ थोड़ा-सा विवरण कहते हैं। वह इस तरह है—जम्बूद्वीप के भीतर एक सौ अस्सी और बाहरी भाग में अर्थात् लवणसमुद्र के तीन सौ तीस योजन, ऐसे दोनों मिलकर पाँच सौ दस योजन प्रमाण सूर्य का चार क्षेत्र (गमन का क्षेत्र) कहलाता है। सो चन्द्र तथा सूर्य इन दोनों का एक ही गमन क्षेत्र है। भरतक्षेत्र और बाहरी भाग के चार क्षेत्र में सूर्य के एक सौ चौरासी मार्ग (गली) हैं और चन्द्र के पन्द्रह ही मार्ग हैं।

१७३. तत्र जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे कर्कटसङ्क्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारंभे निषधपर्वतस्योपरि प्रथममार्गे सूर्यः प्रथमोदयं करोति। यत्र सूर्यविमानस्थं निर्दोषपरमात्मनो जिनेश्वरस्याकृत्रिमं जिनबिम्बं प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा अयोध्यानगरीस्थितो निर्मलसम्यक्त्वानुरागेण भरतचक्री पुष्पाञ्जलिमुत्क्षिप्यार्धं ददातीति। तन्मार्गस्थित-भरतक्षेत्रादित्यस्यैरावतादित्येन सह तथापि चन्द्रस्यान्यचन्द्रेण सह यदन्तरं भवति तद्विशेषेणागमतो ज्ञातव्यम्॥

१७४. अथ "**सदभिस भरणी अद्दा सादी असलेस जेट्ठमवरवरा। रोहिणिविसहपुणव्वसु तिउत्तरा मज्झिमा सेसा।१।**" इति गाथाकथितक्रमेण यानि जघन्योत्कृष्टमध्यनक्षत्राणि तेषु मध्ये कस्मिन्नक्षत्रे कियन्ति दिनान्यादित्यस्तिष्ठतीति।

"इंदुरवीदो रिक्खा सत्तट्ठियपंचगयणखंडहिया।
अहियहिदरिक्खखंडा इंदुरवीअत्थण्णमुहुत्ता।१।"

इत्यनेन गाथासूत्रेणागमकथितक्रमेण पृथक् पृथगानीय मेलापके कृते सति षडधिकषष्टियुत-त्रिशतसंख्यदिनानि भवन्ति। तस्य दिनसमूहार्धस्य यदा द्वीपाभ्यन्तराद्दक्षिणेन बहिर्भागेषु दिनकरो गच्छति

---

१७३. उनमें जम्बूद्वीप के भीतर कर्कट संक्रान्ति के दिन जब दक्षिणायन प्रारम्भ होता है, तब निषध पर्वत के ऊपर प्रथम मार्ग में सूर्य प्रथम उदय करता है। वहाँ पर सूर्य विमान में स्थित निर्दोष-परमात्म-जिनेन्द्र के अकृत्रिम जिनबिम्ब को, अयोध्यानगरी में स्थित भरतक्षेत्र का चक्रवर्ती प्रत्यक्ष देखकर निर्मल सम्यक्त्व के अनुराग से पुष्पांजलि उछालकर अर्घ देता है। उस प्रथम मार्ग में स्थित भरतक्षेत्र के सूर्य का ऐरावत क्षेत्र के सूर्य के साथ तथा चन्द्रमा का चन्द्रमा के साथ और भरत क्षेत्र के सूर्य चन्द्रमाओं का मेरु के साथ जो अन्तर (फासला) रहता है, उसका विशेष कथन आगम से जानना चाहिए।

१७४. अब "शतभिषा (शतभिषक्), भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये छह नक्षत्र जघन्य हैं। रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपद, ये छह नक्षत्र उत्कृष्ट हैं। इनके अतिरिक्त शेष १५ नक्षत्र मध्यम है।[१] इस गाथा में कहे हुए क्रमानुसार जो जघन्य, उत्कृष्ट तथा मध्यम नक्षत्र हैं, उनमें किस नक्षत्र में कितने दिन सूर्य ठहरता है, सो कहते हैं—एक मुहूर्त में चन्द्र १७६८, सूर्य १८३० और नक्षत्र १८३५ गगनखण्डों में गमन करते हैं, इसलिए ६७ व ५ (१८३५-१७६८=६७, १८३५-१८३०=५) अधिक भागों से नक्षत्रखण्डों को भाग देने से जो मुहूर्त प्राप्त होते हैं, उन मुहूर्तों को चन्द्र और सूर्य के आसन्न मुहूर्त जानने चाहिए। अर्थात् एक नक्षत्र पर उतने मुहूर्तों तक चन्द्रमा और सूर्य की स्थिति जाननी चाहिए।[२]"

इस प्रकार इस गाथा में कहे हुए क्रम से भिन्न-भिन्न दिनों को जोड़ने से तीन सौ छियासठ दिन होते हैं। जब द्वीप के भीतर से दक्षिण दिशा के बाहरी मार्गों में सूर्य गमन करता है, तब तीन सौ छियासठ

---

१. त्रिलोकसार ३९९, २. त्रिलोकसार ४०४

तदा दक्षिणायनसंज्ञा, यदा पुनः समुद्रात्सकाशादुत्तरेणाभ्यन्तरमार्गेषु समायाति तदोत्तरायण-संज्ञेति। तत्र यदा द्वीपाभ्यन्तरे प्रथममार्गपरिधौ कर्कटसंक्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारम्भे तिष्ठत्यादित्यस्तदा चतुर्णवतिसहस्र-पञ्चविंशत्यधिकपञ्चयोजनशतप्रमाण उत्कर्षेणादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो ज्ञेयः। तत्र पुनरष्टा-दशमुहूर्तैर्दिवसो भवति द्वादशमुहूर्तै रात्रिरिति। ततः क्रमेणातपहानौ सत्यां मुहूर्तद्वयस्यैकषष्टिभागी-कृतस्यैको भागो दिवसमध्ये दिनं प्रति हीयते यावल्लवणसमुद्रेऽवसानमार्गे माघमासे मकर-संक्रान्तावुत्तरायणदिवसे त्रिषष्टिसहस्राधिकषोडशयोजनप्रमाणो जघन्येनादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातप-विस्तारो भवति। तथैव द्वादशमुहूर्तैर्दिवसो भवत्यष्टादशमुहूर्तै रात्रिश्चेति। शेषं विशेषव्याख्यानं लोकविभागादौ विज्ञेयम्।

१७५. ये तु मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्भागे ज्योतिष्कविमानास्तेषां चलनं नास्ति। ते च मानुषोत्तर-पर्वताद्बहिर्भागे पञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां गत्वा वलयाकारं पंक्तिक्रमेण पूर्वक्षेत्रं परिवेष्ट्य तिष्ठन्ति। तत्र प्रथमवलये चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणाश्चन्द्रास्तथादित्याश्चान्तरान्तरेण तिष्ठन्ति। ततः परं योजनलक्षे लक्षे गते तेनैव क्रमेण वलयं भवति। अयन्तु विशेषः–वलये वलये चन्द्रचतुष्टयं सूर्यचतुष्टयं च वर्धते यावत्पुष्करार्धबहिर्भागे वलयाष्टकमिति। ततः पुष्करसमुद्रप्रवेशे वेदिकायाः सकाशात्पञ्चाशत्सहस्र-प्रमितयोजनानि जलमध्ये प्रविश्य यत्पूर्वं चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणं प्रथमवलयं व्याख्यातं तस्माद्

दिनों के आधे एक सौ तिरासी दिनों की दक्षिणायन संज्ञा होती है और इसी प्रकार जब सूर्य समुद्र से उत्तर दिशा के अभ्यंतर मार्गों में आता है तब शेष १८३ दिनों की उत्तरायण संज्ञा है। उनमें जब द्वीप के भीतर कर्कट संक्रान्ति के दिन दक्षिणायन के प्रारम्भ में सूर्य प्रथम मार्ग की परिधि में होता है, तब सूर्य-विमान के आतप (धूप) का पूर्व-पश्चिम फैलाव चौरानवे हजार पाँच सौ पच्चीस योजन प्रमाण होता है, ऐसा जानना चाहिए। उस समय अठारह मुहूर्तों का दिन और बारह मुहूर्तों की रात्रि होती है। फिर यहाँ से क्रम-क्रम से आतप की हानि होने पर दो मुहूर्तों के इकसठ भागों में से एक भाग प्रतिदिन घटता है। यह तब तक घटता है जब तक कि लवणसमुद्र के अन्तिम मार्ग में माघ मास में मकर संक्रांति में उत्तरायण दिवस के प्रारम्भ में जघन्यता से सूर्य-विमान के आतप का पूर्व-पश्चिम विस्तार त्रेसठ हजार सोलह योजन प्रमाण होता है। उसी प्रकार इस समय बारह मुहूर्तों का दिन और अठारह मुहूर्तों की रात्रि होती है। अन्य विशेष वर्णन लोकविभाग आदि से जानना चाहिए।

१७५. मनुष्य क्षेत्र से बाहर ज्योतिष्क-विमानों का गमन नहीं है। वे मानुषोत्तर पर्वत के बाहर पचास हजार योजन जाने पर, वलयाकार (गोलाकार) पंक्ति क्रम से पहले क्षेत्र को बेढ़ (घेर) कर रहते हैं। वहाँ प्रथम वलय में एक सौ चवालीस चन्द्रमा तथा सूर्य परस्पर अन्तर (फासले) से स्थित हैं, उसके आगे एक-एक लाख योजन जाने पर इसी क्रमानुसार एक-एक वलय होता है। विशेष यह है कि प्रत्येक वलय में चार-चार चन्द्रमा तथा चार-चार सूर्यों की वृद्धि पुष्करार्ध के बाह्य भाग में आठवें वलय तक होती है; उसके बाद पुष्करसमुद्र के प्रवेश में स्थित वेदिका से पचास हजार योजन प्रमाण जलभाग में जाकर, प्रथम वलय में, एक सौ चवालीस चन्द्र तथा सूर्य का जो पहले कथन

द्विगुणसंख्यानं प्रथमवलयं भवति। तदनन्तरं पूर्ववद्योजनलक्षे लक्षे गते वलयं भवति चन्द्रचतुष्टयस्य सूर्यचतुष्टयस्य च वृद्धिरित्यनेनैव क्रमेण स्वयम्भूरमणसमुद्रबहिर्भागवेदिकापर्यन्तं ज्योतिष्कदेवानामवस्थानं बोद्धव्यम्। एते च प्रतरासंख्येयभागप्रमिता असंख्येया ज्योतिष्क विमाना अकृत्रिमसुवर्णमयरत्नमय-जिनचैत्यालयमण्डिता ज्ञातव्याः। इति संक्षेपेण ज्योतिष्कलोकव्याख्यानं समाप्तम्॥

१७६.अथानन्तरमूर्ध्वलोकः कथ्यते। तथाहि–सौधर्मैशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तव-कापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्त्रारानतप्राणतारणाच्युतसंज्ञाः षोडशस्वर्गास्ततोऽपि नवग्रैवेयकसंज्ञास्ततश्च नवानुदिशसंज्ञं नवविमानसंख्यमेकपटलं ततोऽपि पञ्चानुत्तरसंज्ञं पञ्चविमानसंख्यमेकपटलं चेत्युक्त-क्रमेणोपर्युपरि वैमानिकदेवास्तिष्ठन्तीति वार्त्तिकं संग्रहवाक्यं समुदायकथनमिति यावत्। आदिमध्यान्तेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनवृत्तविष्कम्भा चत्वारिंशत्प्रमितयोजनोत्सेधा या मेरुचूलिका तिष्ठति तस्योपरि कुरु-भूमिजमर्त्यवालाग्रान्तरितं पुनर्ऋजुविमानमस्ति। तदादिं कृत्वा चूलिकासहितलक्षयोजनप्रमाणं मेरूत्सेधमानमर्द्धाधिकैकरज्जुप्रमाणं यदाकाशक्षेत्रं तत्पर्यन्तं सौधर्मैशानसंज्ञं स्वर्गयुगलं तिष्ठति। ततः परमर्द्धाधिकैकरज्जुपर्यन्तं सनत्कुमारमाहेन्द्रसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, तस्मादर्द्धरज्जुप्रमाणाकाशपर्यन्तं ब्रह्मब्रह्मोत्तराभिधानं स्वर्गयुगलमस्ति, ततोऽप्यर्द्धरज्जुपर्यन्तं लान्तवकापिष्टनामस्वर्गयुगलमस्ति, ततश्चार्द्धरज्जु-

---

किया है, उससे दुगुने (दो सौ अट्ठासी) चन्द्रमा व सूर्यों वाला पहला वलय है। उसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार एक-एक लाख योजन जाने पर एक-एक वलय है। प्रत्येक वलय में चार चन्द्रमा और चार सूर्यों की वृद्धि होती है। इसी क्रम से स्वयंभूरमण समुद्र की अन्त की वेदिका तक ज्योतिष्क देवों का अवस्थान जानना चाहिए। जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात ये ज्योतिष्कविमान अकृत्रिम सुवर्ण तथा रत्नमय जिनचैत्यालयों से भूषित हैं, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार संक्षेप से ज्योतिष्क लोक का वर्णन समाप्त हुआ।

१७६. अब इसके अनन्तर ऊर्ध्व लोक का कथन करते हैं। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत नामक सोलह स्वर्ग हैं। वहाँ से आगे नव ग्रैवेयक विमान हैं। उनके ऊपर नवअनुदिश नामक ९ विमानों का एक पटल है, इसके भी ऊपर पाँच विमानों की संख्या वाला पंचानुत्तर नामक एक पटल है, इस प्रकार उक्त क्रम से वैमानिक देव अवस्थित हैं। यह वार्तिक अर्थात् संग्रह वाक्य अथवा समुदाय से कथन है। आदि में बारह, मध्य में आठ और अन्त में चार योजन प्रमाण गोल व्यासवाली चालीस योजन ऊँची मेरु की चूलिका है; उसके ऊपर देवकुरु अथवा उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य के बाल के अग्रभाग प्रमाण के अन्तर से ऋजु विमान है। चूलिका सहित एक लाख योजन प्रमाण मेरु की ऊँचाई का प्रमाण है, उस मान को आदि करके डेढ़ राजू प्रमाण जो आकाश क्षेत्र है वहाँ तक सौधर्म तथा ईशान नामक दो स्वर्ग हैं। इसके ऊपर डेढ़ राजूपर्यन्त सानत्कुमार और माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग हैं। वहाँ से अर्धराजू प्रमाण आकाश तक ब्रह्म तथा ब्रह्मोत्तर नामक स्वर्गों का युगल है। वहाँ से भी आधे राजू तक लांतव और कापिष्ट नामक दो स्वर्ग हैं। वहाँ से आधे राजूप्रमाण आकाश में

पर्यन्तं शुक्रमहाशुक्राभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यम्, तदनन्तरमर्द्धरज्जुपर्यन्तं शतारसहस्रारसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, ततोऽप्यर्द्धरज्जुपर्यन्तमानतप्राणतनाम स्वर्गयुगलं, ततः परमर्द्धरज्जुपर्यन्तमाकाशं यावदारणाच्युताभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यमिति। तत्र प्रथमयुगलद्वये स्वकीयस्वकीयस्वर्गनामानश्चत्वार इन्द्रा विज्ञेयाः, मध्ययुगल-चतुष्टये पुनः स्वकीयस्वकीयप्रथमस्वर्गाभिधान एकैक एवेन्द्रो भवति, उपरितनयुगलद्वयेऽपि स्वकीयस्वकीय-स्वर्गनामानश्चत्वार इन्द्रा भवन्तीति समुदायेन षोडशस्वर्गेषु द्वादशेन्द्रा ज्ञातव्याः। षोडशस्वर्गादूर्ध्व-मेकरज्जुमध्ये नवग्रैवेयकनवानुदिशपञ्चानुत्तरविमानवासिदेवास्तिष्ठन्ति। ततः परं तत्रैव द्वादशयोजनेषु - गतेष्वष्टयोजनबाहुल्या मनुष्यलोकवत्पञ्चाधिकचत्वारिं शल्लक्षयोजनविस्तारा मोक्षशिला भवति। तस्योपरि घनोदधिघनवाततनुवातत्रयमस्ति। तत्र तनुवातमध्ये लोकान्ते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहिताः सिद्धास्तिष्ठन्ति।

१७७. इदानीं स्वर्गपटलसंख्या कथ्यते—सौधर्मैशानयोरेकत्रिंशत्, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोश्चत्वारि, लान्तवकापिष्टयोर्द्वयम्, शुक्रमहाशुक्रयोः पटलमेकम्, शतारसहस्रारयोरेकम्, आनतप्राणतयोस्त्रयम्, आरणाच्युतयोस्त्रयमिति। नवसु ग्रैवेयकेषु नवकं, नवानुदिशेषु पुनरेकं, पञ्चानुत्तरेषु चैकमिति समुदायेनोपर्युपरि त्रिषष्टिपटलानि ज्ञातव्यानि। तथा चोक्तं—

शुक्र तथा महाशुक्र नामक स्वर्गों का युगल जानना चाहिए। उसके बाद आधे राजू तक शतार और सहस्रार नामक स्वर्गों का युगल है। उसके पश्चात् आधे राजू तक आनत व प्राणत दो स्वर्ग हैं। तदनन्तर आधे राजूपर्यन्त आकाश तक आरण और अच्युत नामक दो स्वर्ग जानने चाहिए। उनमें से पहले के दो युगलों (४ स्वर्गों) में तो अपने-अपने स्वर्ग के नाम वाले (सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र) चार इंद्र हैं, बीच के चार युगलों (८ स्वर्गों) में अपने-अपने प्रथम स्वर्ग के नाम का धारक एक-एक ही इन्द्र है (अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग का एक इन्द्र है और वह ब्रह्म इन्द्र कहलाता है। ऐसे ही बारहवें स्वर्ग तक आठ स्वर्गों में चार इन्द्र जानने चाहिए) इनके ऊपर दो युगलों (४ स्वर्गों) में भी अपने-अपने स्वर्ग के नाम के धारक चार इन्द्र होते हैं। इस प्रकार समुदाय से सोलह स्वर्गों में बारह इन्द्र जानने चाहिए। सोलह स्वर्गों से ऊपर एक राजू में नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवासी देव हैं। उसके आगे बारह योजन जाने पर आठ योजन मोटी और ढाईद्वीप के बराबर पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाली मोक्षशिला है। उस मोक्षशिला के ऊपर घनोदधि, घनवात तथा तनुवात नामक तीन वायु हैं। इनमें से तनुवात के मध्य में तथा लोक के अन्त में केवलज्ञान आदि अनन्त-गुणों सहित सिद्धपरमेष्ठी विराजमान हैं।

१७७. अब स्वर्ग के पटलों की संख्या बतलाते हैं। सौधर्म और ईशान इन दो स्वर्गों में इकत्तीस, सानत्कुमार तथा माहेन्द्र में सात, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में चार, लांतव तथा कापिष्ट में दो, शुक्र-महाशुक्र में एक, शतार-सहस्रार में एक, आनत-प्राणत में तीन और आरण-अच्युत में भी तीन पटल हैं। नव ग्रैवेयकों में नौ, नव अनुदिशों में एक व पंचानुत्तरों में एक पटल है। ऐसे समुदाय से ऊपर-ऊपर ६३ पटल जानने चाहिए। सो ही कहा है—

''इगतीससत्तचत्तारिदोण्णिएक्केक्कछक्कचदुकप्पे।
तित्तियएक्केकिंदियणामा उडु आदि तेवट्ठी॥''

१७८. अतः परं प्रथमपटलव्याख्यानं क्रियते। ऋजु विमानं यदुक्तं पूर्वं मेरुचूलिकाया उपरि तस्य मनुष्यक्षेत्रप्रमाणविस्तारस्येन्द्रकसंज्ञा। तस्य चतुर्दिग्भागेष्वसंख्येययोजनविस्ताराराणि पंक्तिरूपेण सर्वद्वीपसमुद्रेषूपरि प्रतिदिशं यानि त्रिषष्टिविमानानि तिष्ठन्ति तेषां श्रेणीबद्धसंज्ञा। यानि च पंक्ति-रहितपुष्पप्रकरवद्विदिक् चतुष्टये तिष्ठन्ति तेषां संख्येयासंख्येययोजनविस्ताराणां प्रकीर्णकसंज्ञेति समुदायेन प्रथमपटललक्षणं ज्ञातव्यम्। तत्र पूर्वापरदक्षिणश्रेणित्रयविमानानि। तन्मध्ये विदिग्द्वयविमानानि च सौधर्मसंबंधीनि भवन्ति, शेषविदिग्द्वयविमानानि च पुनरीशानसंबंधीनि। अस्मात्पटलादुपरि जिनदृष्टमानेन संख्येयान्यसंख्येयानि योजनानि गत्वा तेनैव क्रमेण द्वितीयादिपटलानि भवन्ति। अयं च विशेषः—श्रेणीचतुष्टये पटले पटले प्रतिदिशमेकैकविमानं हीयते यावत्पञ्चानुत्तरपटले चतुर्दिक्ष्वैकैकविमानं तिष्ठति। एते सौधर्मादि-विमानाश्चतुरशीतिलक्षसप्तनवतिसहस्रत्रयोविंशतिप्रमिता अकृत्रिमसुवर्णमयजिनगृहमण्डिता ज्ञातव्या इति।

१७९. अथ देवानामायुःप्रमाणं कथ्यते। भवनवासिषु जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण

सौधर्म युगल में ३१, सानत्कुमार युगल में ७, ब्रह्म युगल में ४, लांतव युगल में २, शुक्र युगल में १, शतार युगल में १, आनत आदि चार स्वर्गों में ६, प्रत्येक तीनों ग्रैवेयकों में तीन-तीन, नव अनुदिश में १, पंचानुत्तरों में एक, ऐसे समुदाय से ६३ इन्द्रक होते हैं।[1]

१७८. इसके आगे प्रथम पटल का व्याख्यान करते हैं। मेरु की चूलिका के ऊपर मनुष्य क्षेत्र प्रमाण विस्तार वाले पूर्वोक्त ऋजु विमान की इंद्रक संज्ञा है। उसकी चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में, सब द्वीप समुद्रों के ऊपर, असंख्यात योजन विस्तार वाले पंक्तिरूप ६३-६३ विमान हैं; उनकी श्रेणीबद्ध संज्ञा है। पंक्ति बिना पुष्पों के समान चारों विदिशाओं में संख्यात व असंख्यात योजन विस्तार वाले जो विमान हैं, उन विमानों की प्रकीर्णक संज्ञा है। इस प्रकार समुदाय से प्रथम पटल का लक्षण जानना चाहिए। उन विमानों में से पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन श्रेणियों के विमान और इन तीनों दिशाओं के बीच में दो विदिशाओं के विमान, ये सब सौधर्म प्रथम स्वर्ग सम्बन्धी हैं तथा शेष दो विदिशाओं के विमान और उत्तर श्रेणी के विमान, वे ईशान स्वर्ग सम्बन्धी हैं। भगवान् द्वारा देखे प्रमाण अनुसार, इस पटल के ऊपर संख्यात तथा असंख्यात योजन जाकर इसी क्रम से द्वितीय आदि पटल हैं। विशेष यह है कि प्रत्येक पटल में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में एक-एक विमान घटता गया है, सो यहाँ तक घटता है कि पंचानुत्तर पटल में चारों दिशाओं में एक-एक ही विमान रह जाता है। सौधर्म स्वर्ग आदि सम्बन्धी ये सब विमान चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस अकृत्रिम सुवर्णमय जिन चैत्यालयों से मंडित हैं, ऐसा जानना चाहिए।

१७९. अब देवों की आयु का प्रमाण कहते हैं—भवन वासियों में दस हजार वर्ष की जघन्य

---

१. तिलोयपण्णत्ति ८/१५९

पुनरसुरकुमारेषु सागरोपमम्, नागकुमारेषु पल्यत्रयं, सुपर्णे सार्धद्वयं, द्वीपकुमारे द्वयं, शेषकुलषट्के सार्धपल्यमिति। व्यन्तरे जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण पल्यमधिकमिति। ज्योतिष्कदेवे जघन्येन पल्याष्टमविभागः, उत्कर्षेण चन्द्रे लक्षवर्षाधिकं पल्यं, सूर्ये सहस्राधिकं पल्यं, शेषज्योतिष्क देवानामागमानुसारेणेति। अथ सौधर्मैशानयोर्जघन्येन साधिकपल्यं, उत्कर्षेण साधिकसागरोपमद्वयं, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः साधिकसागरोपमसप्तकं, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोः साधिकसागरोपमदशकं, लान्तव-कापिष्ठयोः साधिकानि चतुर्दशसागरोपमानि, शुक्रमहाशुक्रयोः षोडश साधिकानि, शतार-सहस्रारयोरष्टादश साधिकानि, आनतप्राणतयोर्विंशतिरेव, आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिरिति। अतः परमच्युता-दूर्ध्वं कल्पातीतनवग्रैवेयकेषु द्वाविंशतिसागरोपमप्रमाणादूर्ध्वमेकैक सागरोपमे वर्धमाने सत्येक-त्रिंशत्सागरोपमान्यवसाननवग्रैवेयके भवन्ति। नवानुदिशपटले द्वात्रिंशत्, पञ्चानुत्तरपटले त्रयस्त्रिंशत्, उत्कृष्टायुःप्रमाणं ज्ञातव्यम्। तदायुः सौधर्मादिषु स्वर्गेषु यदुत्कृष्टं तत्परस्मिन् परस्मिन् स्वर्गे सर्वार्थसिद्धिं विहाय [1]जघन्यं चेति। शेषं विशेषव्याख्यानं त्रिलोकसारादौ बोद्धव्यम्।

आयु है। असुरकुमारों में एक सागर, नागकुमारों में तीन पल्य, सुपर्णकुमारों में ढाई पल्य, द्वीपकुमारों में दो पल्य और शेष ६ प्रकार के भवनवासियों में डेढ़ पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। व्यन्तरों में दस हजार वर्ष की जघन्य और कुछ अधिक एक पल्य की उत्कृष्ट आयु है। ज्योतिष्क देवों में जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण है। चन्द्रमा की एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य और सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। शेष ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु आगम के अनुसार जाननी चाहिए। सौधर्म तथा ईशान स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागर है। सानत्कुमार तथा माहेन्द्र देवों में कुछ अधिक सात सागर, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में कुछ अधिक दस सागर, लांतव-कापिष्ठ में कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र- महाशुक्र में कुछ अधिक सोलह सागर, शतार और सहस्रार में किंचित् अधिक अठारह सागर, आनत तथा प्राणत में पूरे बीस ही सागर और आरण-अच्युत में बाईस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसके अनन्तर अच्युत स्वर्ग से ऊपर कल्पातीत नव ग्रैवेयकों तक प्रत्येक ग्रैवेयक में क्रमशः बाईस सागर से एक-एक सागर अधिक उत्कृष्ट आयु है, तदनुसार अन्त के ग्रैवेयक में इकतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। नव अनुदिश पटल में बत्तीस सागर और पंचानुत्तर पटल में तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु जाननी चाहिए तथा सौधर्म आदि स्वर्गों में जो उत्कृष्ट आयु है, सर्वार्थसिद्धि के अतिरिक्त, वह उत्कृष्ट आयु अपने स्वर्ग से ऊपर-ऊपर के स्वर्ग में जघन्य आयु है। (अर्थात् जो सौधर्म ईशान स्वर्ग में कुछ अधिक दो सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है, वह सानत्कुमार माहेन्द्र में जघन्य है। इस क्रम से सर्वार्थसिद्धि के पहले-पहले जघन्य आयु है।) शेष विशेष व्याख्यान त्रिलोकसार आदि से जानना चाहिए।

---

१. यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र ४/३२; सर्वार्थसिद्धिः ४/३२/१९२ राजवार्तिक ४/ ३२/३/ २४७, राजवार्तिक ४/३४/१-२, २४८, राजवार्तिक भाग ६ पृ० ६५२ आदि लगभग सभी ग्रन्थों में सर्वार्थसिद्धि की जघन्य न उत्कृष्ट आयु ३३ सागर ही

१८०.किञ्च, आदिमध्यान्तमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमात्मनि सकलविमलकेवलज्ञानलोचनेनादर्शे बिम्बानीव शुद्धात्मादिपदार्था लोक्यन्तेदृश्यन्ते ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते। यतस्तेन कारणेन स एव निश्चयलोकस्तस्मिन्निश्चयलोकाख्ये स्वकीयशुद्धपरमात्मनि अवलोकनं वा स निश्चयलोकः।

''सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियविसयाय अट्टरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति[२]।१।''

इति गाथोदितविभावपरिणाममादिं कृत्वा समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्पत्यागेन निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकसुखामृतरसास्वादानुभवनेन च या भावना सैव निश्चयलोकानुप्रेक्षा। शेषा पुनर्व्यवहारेणेत्येवं संक्षेपेण लोकानुप्रेक्षाव्याख्यानं समाप्तम् ॥१०॥

१८१.अथ बोधिदुर्लभानुप्रेक्षां कथयति। तथाहि एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्त्तनक्रोधादिकषायनिवर्त्तनेषु परं परं दुर्लभेषु कथंचित्काकतालीयन्यायेन लब्धेष्वपि तल्लब्धिरूपबोधेः

१८०.**विशेष**—आदि, मध्य तथा अन्तरहित, शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाव परमात्मदेव में पूर्ण विमल केवलज्ञानमयी नेत्र है, उसके द्वारा जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बों का भान होता है उसी प्रकार से शुद्ध आत्मा आदि पदार्थ देखे जाते हैं, जाने जाते हैं, परिच्छिन्न किये जाते हैं। इस कारण वह निज शुद्ध आत्मा ही निश्चयलोक है अथवा उस निश्चय लोक वाले निज शुद्ध परमात्मा में जो अवलोकन है वह निश्चयलोक है। संज्ञा, तीन लेश्या, इंद्रियों के वश होना, आर्त-रौद्र-ध्यान तथा दुष्प्रयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पाप को देने वाले हैं।

इस गाथा में कहे हुए विभाव परिणाम आदि सम्पूर्ण शुभ-अशुभ संकल्प विकल्पों के त्याग से और निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद सुखरूपी अमृत के आस्वाद के अनुभव से जो भावना होती है, वही निश्चय से लोकानुप्रेक्षा है, शेष व्यवहार से है। इस प्रकार संक्षेप से लोकानुप्रेक्षा का वर्णन समाप्त हुआ ॥१०॥

१८१. अब बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा को कहते हैं—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, सुन्दर रूप, इन्द्रियों की पूर्णता, कार्य कुशलता, नीरोग, दीर्घ आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, समीचीन धर्म का सुनना-ग्रहण करना-धारण करना-श्रद्धान करना, संयम, विषय सुखों से पराङ्मुखता, क्रोध आदि कषायों से निवृत्ति, ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। कदाचित् काकतालीय न्याय से

बतायी है परन्तु कितने ही आचार्य सर्वार्थसिद्धि की जघन्य आयु पल्य के असंख्यातवें भाग कम ३३ सागर मानते हैं। यथा—''सर्वार्थायुर्यदुत्कृष्टं तदेवास्मिंस्ततः पुनः। पल्यासंख्येयभागोनमिच्छन्त्येकेऽल्पजीवितम्।'' (लोक-विभाग १०/२३४ पृ० २०२ आचार्य सिंहसूरर्षि, सं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री) अर्थ-सर्वार्थसिद्धि में जो उत्कृष्ट आयु है पल्य के असंख्यातवें भाग से हीन वही वहाँ जघन्य आयु है; ऐसा कितने ही आचार्य स्वीकार करते हैं।

२. 'पावप्पदो होदि' इति पाठान्तरम्

फलभूतस्वशुद्धात्मसंवित्त्यात्मकनिर्मलधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपः परमसमाधिर्दुर्लभः। कस्मादिति चेत्तत्प्रति-बन्धकमिथ्यात्वविषयकषायनिदानबन्धादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति। तस्मात्स एव निरन्तरं भावनीयः। तद्भावनारहितानां पुनरपि संसारे पतनमिति। तथा चोक्तम्—

''इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात्।
संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरम्।१।''

पुनश्चोक्तं—मनुष्यभवदुर्लभत्वम्—

''अशुभपरिणामबहुलता लोकस्य विपुलता महामहती।
योनिविपुलता च कुरुते सुदुर्लभां मानुषीं योनिम्।१।''

बोधिसमाधिलक्षणं कथ्यते—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति। एवं संक्षेपेण दुर्लभानुप्रेक्षा समाप्ता।

१८२. अथ धर्मानुप्रेक्षां कथयति। तद्यथा—संसारे पतन्तं जीवमुद्धृत्य नागेन्द्रनरेन्द्रदेवेन्द्रादिवन्द्ये अव्याबाधानन्तसुखाद्यनन्तगुणलक्षणे मोक्षपदे धरतीति धर्मः। तस्य च भेदाः कथ्यन्ते—अहिंसालक्षणः सागारानगारलक्षणो वा उत्तमक्षमादिलक्षणो वा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मको वा शुद्धात्मसंवित्त्यात्मक-

---

इन सबके प्राप्त हो जाने पर भी, इनकी प्राप्ति रूप बोधि के फलभूत जो निज शुद्ध आत्मा के ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूप परम समाधि है, वह दुर्लभ है। **शंका—**परम समाधि दुर्लभ क्यों है? **समाधान—**परम समाधि को रोकने वाले मिथ्यात्व, विषय, कषाय, निदानबंध आदि जो विभाव परिणाम हैं, उनकी जीवों में प्रबलता है इसलिए परम-समाधि का होना दुर्लभ है। इस कारण उस परमसमाधि की ही निरन्तर भावना करनी चाहिए क्योंकि उस भावना से रहित जीवों का फिर भी संसार में पतन होता है। सो ही कहा है—जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभरूप बोधि को प्राप्त होकर, प्रमादी होता है वह बेचारा संसाररूपी भयंकर वन में चिरकाल तक भ्रमण करता है[१]। १। मनुष्यभव की दुर्लभता के विषय में भी कहा है—अशुभ परिणामों की अधिकता, संसार की विशालता और बड़ी-बड़ी योनियों की अधिकता, ये सब बातें मनुष्य योनि को दुर्लभ बनाती है। बोधि व समाधि का लक्षण कहते हैं—पहले नहीं प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का प्राप्त होना तो बोधि कहलाती है, और उन्हीं सम्यग्दर्शन आदिकों को निर्विघ्न अन्य भव में साथ ले जाना सो समाधि है। इस प्रकार संक्षेप से दुर्लभ-अनुप्रेक्षा का कथन समाप्त हुआ ॥११॥

१८२. अब धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं—संसार में गिरते हुए जीव को उठाकर, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, देव, इन्द्र आदि द्वारा पूज्य अथवा बाधारहित अनन्त सुख आदि अनन्त-गुण-रूप मोक्ष पद में जो धरता है वह धर्म है। उस धर्म के भेद कहे जाते हैं—अहिंसा लक्षण वाला, गृहस्थ और मुनि इन लक्षण वाला, उत्तम क्षमा आदि लक्षण वाला, निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय-स्वरूप अथवा शुद्ध आत्मानुभवरूप

---

१. परमात्मप्रकाश गा० ९ टीका।

मोहक्षोभरहितात्मपरिणामो वा धर्मः। अस्य धर्मस्यालाभेऽतीतानन्तकाले

''णिच्चिदरधाउसत्तय तरुदस वियलेंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चउदस मणुयेसु सदसहस्सा।१।''

इति गाथाकथितचतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये परमस्वास्थ्यभावनोत्पन्ननिर्व्याकुलपारमार्थिकसुख-विलक्षणानि पञ्चेन्द्रियसुखाभिलाषजनितव्याकुलत्वोत्पादकानि दुःखानि सहमानः सन् भ्रमितोऽयं जीवो यदा पुनरेवं गुणविशिष्टस्य धर्मस्य लाभो भवति तदा राजाधिराजार्द्धमाण्डलिकमहामाण्डलिकबलदेव-वासुदेवकामदेवसकलचक्रवर्त्तिदेवेन्द्रगणधरदेवतीर्थङ्करपरमदेवप्रथमकल्याणत्रयपर्यन्तं विविधाभ्युदयसुखं प्राप्य पश्चादभेदरत्नत्रयभावनाबलेनाक्षयानन्तसुखादिगुणास्पदमर्हत्पदं सिद्धपदं च लभते। तेन कारणेन धर्म एव परमरसरसायनं निधिनिधानं कल्पवृक्षः कामधेनुश्चिन्तामणिरिति। किं बहुना ये जिनेश्वरप्रणीतं धर्मं प्राप्य दृढमतयो जातास्त एव धन्याः। तथा चोक्तम्–

''धन्या ये प्रतिबुद्धा धर्मे खलु जिनवरैः समुपदिष्टे।
ये प्रतिपन्ना धर्मं स्वभावनोपस्थितमनीषाः।१।''

इति संक्षेपेण धर्मानुप्रेक्षा समाप्ता॥

मोह-क्षोभरहित आत्म परिणाम वाला धर्म है। परम-स्वास्थ्य-भावना से उत्पन्न व व्याकुलतारहित पारमार्थिक सुख से विलक्षण तथा पाँचों इन्द्रियों के सुखों की वांछा से उत्पन्न और व्याकुलता करने वाले दुःखों को सहते हुए, इस जीव ने ऐसे धर्म की प्राप्ति न होने से नित्यनिगोद वनस्पति में सात लाख, इतर निगोद वनस्पति में सात लाख, पृथ्वीकाय में सात लाख, जलकाय में सात लाख, तेजकाय में सात लाख, वायुकाय में सात लाख, प्रत्येक वनस्पति में दस लाख, वेइन्द्रिय तेइन्द्रिय व चौइन्द्रिय में दो-दो लाख, देव, नारकी व तिर्यञ्च में चार-चार लाख तथा मनुष्यों में चौदह लाख योनि[१] इस गाथा में कही हुई चौरासी लाख योनियों में, अतीत अनन्त काल तक परिभ्रमण किया है। जब इस जीव को पूर्वोक्त प्रकार के धर्म की प्राप्ति होती है तब राजाधिराज, महाराज, अर्धमण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, बलदेव, नारायण, कामदेव, चक्रवर्ती, देवेन्द्र, गणधरदेव, तीर्थंकर परमदेव के पदों तथा तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप कल्याणक तक अनेक प्रकार के वैभव सुखों को पाकर, तदनन्तर अभेद रत्नत्रय की भावना के बल से अक्षय अनन्त गुणों के स्थानभूत अरहंत पद को और सिद्ध पद को प्राप्त होता है। इस कारण धर्म ही परम रस के लिए रसायन, निधियों की प्राप्ति के लिए निधान, कल्पवृक्ष, कामधेनु गाय और चिन्तामणि रत्न है। विशेष क्या कहें, जो जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म को पाकर दृढ़ बुद्धिधारी (सम्यग्दृष्टि) हुए हैं वे ही धन्य हैं। सो ही कहा है—जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट धर्म से जो प्रतिबोध को प्राप्त हुए वे धन्य हैं तथा जिन आत्मानुभव में संलग्न बुद्धि वालों ने धर्म को ग्रहण किया वे सब धन्य हैं।१। इस प्रकार संक्षेप से धर्मानुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥१२॥

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा० ८९।

१८३. इत्युक्त लक्षणा अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभ धर्मतत्त्वानुचिन्तनसंज्ञा निरास्रवशुद्धात्मतत्त्वपरिणतिरूपस्य संवरस्य कारणभूता द्वादशानुप्रेक्षाः समाप्ताः॥

१८४. अथ परीषहजयः कथ्यते—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्या-क्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानीति द्वाविंशतिपरीषहा विज्ञेयाः। तेषां क्षुधादिवेदनानां तीव्रोदयेऽपि सुखदुःखजीवितमरणलाभालाभनिन्दाप्रशंसादिसमतारूपपरमसामायिकेन नवतरशुभाशुभकर्मसंवरणचिरन्तनशुभाशुभकर्मनिर्जरणसमर्थेनायं निजपरमात्मभावनासंजातनिर्विकार-नित्यानन्दलक्षणसुखामृतसंवित्तेरचलनं स परीषहजय इति।

१८५. अथ चारित्रं कथयति। शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयपरिणते स्वशुद्धात्मस्वरूपे चरणमवस्थानं चारित्रम्। तच्च तारतम्यभेदेन पञ्चविधम्। तथाहि—सर्वे जीवाः केवलज्ञानमया इति भावनारूपेण समतालक्षणं सामायिकम्, अथवा परमस्वास्थ्यबलेन युगपत्समस्तशुभाशुभसङ्कल्प-विकल्पत्यागरूप-समाधिलक्षणं वा, निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन रागद्वेषपरिहाररूपं वा, स्वशुद्धात्मानुभूतिबलेनार्त्तरौद्र-परित्यागरूपं वा, समस्तसुखदुःखादिमध्यस्थरूपं चेति। अथ छेदोपस्थापनं कथयति—यदा युगपत्समस्त-

---

१८३. इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण वाली, अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मतत्त्व के अनुचिंतन संज्ञा (नाम) वाली और आस्रवरहित शुद्ध आत्मतत्त्व में परिणतिरूप संवर की कारणभूत बारह अनुप्रेक्षाओं का कथन समाप्त हुआ।

१८४. अब परीषहजय का कथन करते हैं—१. क्षुधा, २. प्यास, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक (डांस-मच्छर), ६. नग्नता, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०. निषद्या (बैठना), ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कारपुरस्कार, २०. प्रज्ञा (ज्ञान का मद), २१. अज्ञान और २२. अदर्शन ये बाईस परीषह जानने चाहिए। इन क्षुधा आदि वेदनाओं के तीव्र उदय होने पर भी सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निंदा-प्रशंसा आदि में समतारूप परम सामायिक के द्वारा तथा नवीन शुभ-अशुभ कर्मों के रुकने और पुराने शुभ-अशुभ कर्मों की निर्जरा के सामर्थ्य से इस जीव का, निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न, विकार रहित, नित्यानन्दरूप सुखामृत अनुभव से, विचलित नहीं होना, सो परीषहजय है।

१८५. अब चारित्र का कथन करते हैं—शुद्ध उपयोग लक्षणात्मक निश्चय रत्नत्रयमयी परिणतिरूप आत्मस्वरूप में जो आचरण या स्थिति, सो चारित्र है। यह तारतम्य भेद से पाँच प्रकार का है। तथा—सब जीव केवलज्ञानमय हैं, ऐसी भावना से जो समता परिणाम का होना सो सामायिक है। अथवा परम स्वास्थ्य के बल से युगपत् समस्त शुभ, अशुभ संकल्प-विकल्पों के त्यागरूप जो समाधि (ध्यान), वह सामायिक है। अथवा निर्विकार आत्म-अनुभव के बल से राग द्वेष परिहार (त्याग) रूप सामायिक है अथवा शुद्ध आत्म-अनुभव के बल से आर्त-रौद्र-ध्यान के त्याग स्वरूप सामायिक है अथवा समस्त सुख-दुखों में मध्यस्थ भावरूप सामायिक है। अब छेदोपस्थापन का

विकल्पत्यागरूपे परमसामायिके स्थातुमशक्तोऽयं जीवस्तदा समस्तहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमित्यनेन पञ्चप्रकारविकल्पभेदेन व्रतच्छेदेन रागादिविकल्परूपसावद्येभ्यो निवर्त्य निजशुद्धात्मन्यात्मानमुपस्थापयतीति छेदोपस्थापनम्। अथवा छेदे व्रतखण्डे सति निर्विकारस्वसंवित्तिरूपनिश्चयप्रायश्चित्तेन तत्साधकबहिरङ्गव्यवहारप्रायश्चित्तेन वा स्वात्मन्युपस्थापनं छेदोपस्थापनमिति। अथ परिहारविशुद्धिं कथयति–

''तीसं वासा जम्मे वासपुहत्तं च तित्थयरमूले।
पच्चक्खाणं पढिदो संझूण दुगाउ अ विहारो।१।''

इति गाथाकथितक्रमेण मिथ्यात्वरागादिविकल्पमलानां प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण स्वात्मनः शुद्धिर्नैर्मल्यं परिहारविशुद्धिश्चारित्रमिति। अथ सूक्ष्मसाम्परायचारित्रं कथयति। सूक्ष्मातीन्द्रियनिजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन सूक्ष्मलोभाभिधानसाम्परायस्य कषायस्य यत्र निरवशेषोपशमनं क्षपणं वा

कथन करते हैं—जब एक ही साथ समस्त विकल्पों के त्यागरूप परम सामायिक में स्थित होने में यह जीव असमर्थ होता है, तब ''समस्त हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह से विरति सो व्रत है'' इन पाँच प्रकार भेद विकल्प रूप व्रतों का छेद होने से राग आदि विकल्परूप सावद्यों से अपने आपको छुड़ा कर निज शुद्ध आत्मा में अपने को उपस्थापन करना छेदोपस्थापना है। अथवा छेद अर्थात् व्रत का भंग होने पर निर्विकार निज आत्मानुभवरूप निश्चय प्रायश्चित्त के बल से और उसके साधकरूप बहिरंग व्यवहार प्रायश्चित्त से निज आत्मा में स्थित होना, छेदोपस्थापन है। परिहार विशुद्धि का कथन करते हैं—जो जन्म से ३० वर्ष सुख से व्यतीत करके वर्ष पृथक्त्व (८ वर्ष) तक तीर्थंकर के चरणों में प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व को पढ़कर तीनों संध्याकालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोस गमन करता है। १।[1]

इस गाथा में कहे क्रम अनुसार मिथ्यात्व, राग आदि विकल्प मलों का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करके विशेष रूप से जो आत्म-शुद्धि अथवा निर्मलता, सो परिहारविशुद्धि चारित्र है। अब सूक्ष्मसांपराय चारित्र कहते हैं—सूक्ष्म अतीन्द्रिय निज शुद्ध आत्म-अनुभव के बल से सूक्ष्मलोभ नामक सांपराय-कषाय का पूर्णरूप से उपशमन अथवा क्षपण (क्षय) जहाँ होता है सो सूक्ष्मसांपराय चारित्र

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा० ४७३ इस प्रकार ऐसा मुनि अड़तीस वर्ष का होने पर परिहारविशुद्धि संयम को प्राप्त होता है। परन्तु किन्हीं आचार्यों के मत से २२ वर्ष की आयु होने पर परिहारविशुद्धि संयम हो जाता है। तथा किन्हीं आचार्यों के मत से मात्र १६ वर्ष की आयु हो जाने पर परिहार विशुद्धि संयम हो जाता है। कहा भी है—कुछ आचार्यों के मत से २२ या १६ वर्ष में परिहारविशुद्धि संयम प्राप्त हो जाता है। [जयधवल २/११९] धवला में भी कहा है—एवमट्ठतीसवस्सेहि ऊणिया पुव्वकोडी परिहारसुद्धिसंजमस्स कालो वुत्तो। के वि आइरिया सोलसवस्सेहि, के वि बावीसवस्सेहि ऊणिया पुव्वकोडि त्ति भणंति। [धवल ७/१६७] अर्थ—३८ वर्षों से कम पूर्वकोटिप्रमाण परिहारशुद्धिसंयम का काल कहा है। कोई आचार्य १६ वर्षों से और कोई २२ वर्षों से कम पूर्वकोटि प्रमाण कहते हैं।

तत्सूक्ष्मसाम्परायचारित्रमिति। अथ यथाख्यातचारित्रं कथयति–यथा सहजशुद्धस्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्कषायमात्मस्वरूपं तथैवाख्यातं कथितं यथाख्यातचारित्रमिति।

१८६. इदानीं सामायिकादिचारित्रपञ्चकस्य गुणस्थानस्वामित्वं कथयति। प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वानिवृत्ति-संज्ञगुणस्थानचतुष्टये सामायिकचारित्रं भवति छेदोपस्थापनञ्च, परिहारविशुद्धिस्तु प्रमत्ताप्रमत्त-गुणस्थानद्वये, सूक्ष्मसांपरायचारित्रं पुनरेकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने, यथाख्यातचारित्रमुपशान्त-कषायक्षीणकषायसयोगिजिनायोगिजिनाभिधानगुणस्थानचतुष्टये भवतीति। अथ संयमप्रतिपक्षं कथयति–संयमासंयमसंज्ञं दार्शनिकाद्यैकादशभेदभिन्नं देशचारित्रमेकस्मिन्नेव पञ्चमगुणस्थाने ज्ञातव्यम्। असंयमस्तु मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिसंज्ञगुणस्थानचतुष्टये भवति। इति चारित्रव्याख्यानं समाप्तम्॥

१८७. एवं व्रतसमितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणां भावसंवरकारणभूतानां यद्-व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्रवसंवरणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवरकारणानि भवन्तीति ज्ञातव्यम्।

१८८. अत्राह सोमनामराजश्रेष्ठी। भगवन्नेतेषु व्रतादिसंवरकारणेषु मध्ये संवरानुप्रेक्षैव सारभूता, सा

है। अब यथाख्यात चारित्र कहते हैं—जैसा निष्कंप सहज शुद्ध-स्वभाव से कषाय रहित आत्मा का स्वरूप है, वैसा ही आख्यात अर्थात् कहा गया, सो यथाख्यात चारित्र है।

१८६. अब गुणस्थानों में सामायिक आदि पाँच प्रकार के चारित्र का कथन करते हैं—प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक चार गुणस्थानों में सामायिक-छेदोपस्थापन ये दो चारित्र होते हैं। परिहारविशुद्धि चारित्र—प्रमत्त, अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों में होता है। सूक्ष्म-सांपराय चारित्र—एक सूक्ष्मसांपराय दसवें गुणस्थान में ही होता है। यथाख्यात चारित्र-उपशांतकषाय, क्षीण कषाय, सयोगिजिन और अयोगिजिन इन चार गुणस्थानों में होता है। अब संयम के प्रतिपक्षी (संयमासंयम और असंयम) का कथन करते हैं—दार्शनिक आदि ग्यारह प्रतिमारूप संयमासंयम नाम वाला देश चारित्र, एक पंचम गुणस्थान में ही जानना चाहिए। असंयम-मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरत-सम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानों में होता है। इस प्रकार चारित्र का व्याख्यान समाप्त हुआ।

१८७. इस प्रकार भावसंवर के कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र, इन सबका जो व्याख्यान किया, उसमें निश्चय रत्नत्रय के साधक व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग के निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं, वे पापास्रव के संवर में कारण जानने चाहिए। जो व्यवहार रत्नत्रय से साध्य शुद्धोपयोगरूप निश्चय रत्नत्रय के प्रतिपादक वाक्य हैं, वे पुण्य-पाप इन दोनों आस्रवों के संवर के कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

१८८. यहाँ सोम नामक राजसेठ कहता है कि हे भगवन्! इन व्रत, समिति आदिक संवर के

चैव संवरं करिष्यति, किं विशेषप्रपञ्चेनेति। भगवानाह—त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्थानां यतीनां तथैव पूर्यते तत्रासमर्थानां पुनर्बहुप्रकारेण संवरप्रतिपक्षभूतो मोहो विजृम्भते तेन कारणेन व्रतादिविस्तरं कथयन्त्याचार्याः।

१८९. ''**असिदिसदं किरियाणं अक्किरियाणं तु होइ चुलसीदी।**
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणइया हुंति बत्तीसं।१।[1]
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति।
अपरिणदुच्छिण्णेसु अ बंधठिदिकारणं णत्थि[2] **।२।''॥ ३५॥**

एवं संवरतत्त्वव्याख्याने सूत्रद्वयेन तृतीयं स्थलं गतम्॥

१९०. अथ सम्यग्दृष्टिजीवस्य संवरपूर्वकं निर्जरातत्त्वं कथयति—

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा॥३६॥

अपने सुख-दुख फल को देकर जिन भावों से विधि झड़ना।
यथाकाल या तप-गरमी से भाव-निर्जरा उर धरना॥
पुद्गल कर्मों का वह झड़ना द्रव्य-निर्जरा यहाँ कही।
भाव-निर्जरा द्रव्य-निर्जरा सुनो! निर्जरा द्विधा रही॥३६॥

कारणों में संवरानुप्रेक्षा ही सारभूत है, वही संवर कर देगी फिर विशेष प्रपंच से क्या प्रयोजन? भगवान् (नेमिचन्द्र) उत्तर देते हैं—मन, वचन, काय इन तीनों की गुप्तिस्वरूप निर्विकल्प ध्यान में स्थित मुनि के तो उस संवर अनुप्रेक्षा से ही संवर हो जाता है; किन्तु उसमें असमर्थ जीवों के अनेक प्रकार से संवर का प्रतिपक्षभूत मोह उत्पन्न होता है, इस कारण आचार्य व्रत आदि का कथन करते हैं।

१८९. क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानियों के ६७ और वैनयिकों के ३२, ऐसे कुल मिलाकर तीन सौ तिरेसठ भेद पाखंडियों के हैं ॥१॥[3] योग से प्रकृति और प्रदेश तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है और जिसके कषाय का उदय नहीं है तथा कषायों का क्षय हो गया है, ऐसे उपशांत कषाय व क्षीण कषाय और सयोगकेवली हैं उनमें तत्काल (एक समय वाला) बन्ध स्थिति का कारण नहीं है ॥२॥[4] ॥३५॥

इस प्रकार संवर तत्त्व के व्याख्यान में दो सूत्रों द्वारा तृतीय स्थल समाप्त हुआ।

१९०. अब सम्यग्दृष्टि जीव के संवर-पूर्वक निर्जरा तत्त्व को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जह कालेण) कर्मों की स्थिति पूर्ण होने से **(भुत्तरसं)** जिसका फल भोगा जा चुका है ऐसा **(कम्मपुग्गलं)** कर्मरूप पुद्गल **(जेण भावेण)** जिस आत्म परिणाम से **(सडदि)**

---

१. पाठान्तराणि सन्तिः, २. बंधो ठिदिकारणं इति पाठान्तरम्।

३. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ८७६, ४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० २५७

१९१. वृत्ति—णेया इत्यादिव्याख्यानं क्रियते—**णेया** ज्ञातव्या। का ? **णिज्जरा** भावनिर्जरा। सा का? निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारानुभूतिसञ्जातसहजानन्दस्वभावसुखामृतरसास्वादरूपो भाव इति अध्याहार:। **जेण भावेण** येन भावेन जीवपरिणामेन। किं भवति **सडदि** विशीर्यते पतति गलति विनश्यति। किं कर्तृ **कम्मपुग्गलं** कर्मारिविध्वंसकस्वकीयशुद्धात्मनो विलक्षणं कर्मपुद्गलद्रव्यं। कथंभूतं **भुत्तरसं** स्वोदयकालं प्राप्य सांसारिकसुखदु:खरूपेण भुक्तरसं दत्तफलं। केन कारणभूतेन गलति **जह कालेण** स्वकालपच्यमानाम्रफलवत्सविपाकनिर्जरापेक्षया, अभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिपरिणामस्य बहिरङ्ग-सहकारिकारणभूतेन काललब्धिसंज्ञेन यथाकालेन, न केवलं यथाकालेन **तवेण य** अकालपच्य-मानानामाम्रादिफलवदविपाकनिर्जरापेक्षया अभ्यन्तरेण समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षणेन बहिरङ्गेणान्त-स्तत्त्वसंवित्तिसाधकसंभूतेनानशनादिद्वादशविधेन तपसा चेति। **तस्सडणं** कर्मणो गलनं यच्च सा

झड़ता/छूटता है, वही परिणाम सविपाक भावनिर्जरा है **(य)** और **(तवेण)** तपस्या के द्वारा **(जेण भावेण)** जिस आत्म परिणाम से **(कम्मपुग्गलं)** कर्मरूप पुद्गल **(सडदि)** झड़ता/छूटता है, वही परिणाम अविपाक भावनिर्जरा है तथा **(जहकालेण)** कर्मों की स्थिति पूर्ण होने से **(य)** अथवा **(तवेण)** तपस्या के द्वारा जो **(कम्मपुग्गलं)** ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मरूप पुद्गल **(सडदि)** झड़ता/छूटता है वह सविपाक-द्रव्यनिर्जरा और अविपाक-द्रव्यनिर्जरा है **(इदि णिज्जरा दुविहा)** इस प्रकार निर्जरा दो प्रकार की **(णेया)** जाननी चाहिए।

गाथार्थ—आत्मा के जिस भाव से यथासमय (उदय काल में) अथवा तप द्वारा फल देकर कर्म नष्ट होता है, वह भाव (परिणाम) भावनिर्जरा है और कर्म पुद्गलों का झड़ना, गलना द्रव्य निर्जरा है। भावनिर्जरा व द्रव्यनिर्जरा की अपेक्षा निर्जरा दो प्रकार की है ॥३६॥

१९१. वृत्त्यर्थ—णेया इत्यादि सूत्र का व्याख्यान करते हैं। **णेया** जानना चाहिए। किसको? **णिज्जरा** भाव निर्जरा को। वह क्या है? निर्विकार परम चैतन्य चित्-चमत्कार के अनुभव से उत्पन्न सहज-आनन्द-स्वभाव सुखामृत के आस्वाद रूप, वह भाव निर्जरा है। यहाँ 'भाव' शब्द का अध्याहार (विवक्षा से ग्रहण) किया गया है। **जेण भावेण** जीव के जिस परिणाम से क्या होता है? **सडदि** जीर्ण होता है, गिरता है, गलता है अथवा नष्ट होता है। कौन? **कम्मपुग्गलं** कर्म-शत्रुओं का नाश करने वाले निज शुद्ध-आत्मा से विलक्षण कर्मरूपी पुद्गल द्रव्य। कैसा होकर? **भुत्तरसं** अपने उदयकाल में जीव को सांसारिक सुख तथा दु:ख रूप रस देकर। किस कारण गलता है? **जहकालेण** अपने समय पर पकने वाले आम के फल के समान सविपाक निर्जरा की अपेक्षा, अन्तरंग में निज-शुद्ध-आत्म-अनुभव रूप परिणाम के बहिरंग सहकारी कारणभूत काललब्धि रूप यथासमय गलते हैं, मात्र यथाकाल से ही नहीं गलते किन्तु **तवेण** य बिना समय पके हुए आम आदि फलों के सदृश, अविपाक निर्जरा की अपेक्षा, समस्त परद्रव्यों में इच्छा के रोकने रूप अभ्यंतर तप से और आत्म-तत्त्व के अनुभव को साधने वाले उपवास आदि बारह प्रकार के बहिरंग तप से भी गलते

द्रव्यनिर्जरा। ननु पूर्वं यदुक्तं **सडदि** तेनैव द्रव्यनिर्जरा लब्धा पुनरपि **सडनं** किमर्थं भणितम्? तत्रोत्तरं-तेन सडदिशब्देन निर्मलात्मानुभूतिग्रहणभावनिर्जराभिधानपरिणामस्य सामर्थ्यमुक्तं न च द्रव्यनिर्जरेति। **इदि** इति द्रव्यभावरूपेण निर्जरा द्विविधा भवति॥

१९२. अत्राह शिष्यः–सविपाकनिर्जरा नरकादिगतिष्वज्ञानिनामपि दृश्यते संज्ञानिनामेवेति नियमो नास्ति। तत्रोत्तरं–अत्रैव मोक्षकारणं या संवरपूर्विका निर्जरा सैव ग्राह्या। या पुनरज्ञानिनां निर्जरा सा गजस्नानवन्निष्फला। यतः स्तोकं कर्म निर्जरयति बहुतरं बध्नाति तेन कारणेन सा न ग्राह्या। या तु सरागसद्दृष्टीनां निर्जरा सा यद्यप्यशुभकर्मविनाशं करोति तथापि संसारस्थितिं स्तोकां कुरुते। तद्भवे तीर्थकरप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यबन्धकारणं भवति पारम्पर्येण मुक्तिकारणं चेति। वीतरागसद्दृष्टीनां पुनः पुण्यपापद्वयविनाशे तद्भवेऽपि मुक्तिकारणमिति। उक्तं च श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः–

''जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसदसहस्स-कोडिहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमित्तेण।१।''

हैं। **तस्सडणं** उस कर्म का गलना द्रव्य निर्जरा है। **शंका**–आपने जो पहले सडदि ऐसा कहा है उसी से द्रव्य निर्जरा प्राप्त हो गई, फिर **सडणं** इस शब्द का दुबारा कथन क्यों किया? **समाधान**–पहले जो **सडदि** शब्द कहा गया है, उससे निर्मल आत्मा के अनुभव को ग्रहण करने रूप भाव निर्जरा नामक परिणाम का सामर्थ्य कहा गया है, द्रव्य निर्जरा का कथन नहीं किया गया। **इदि दुविहा** इस प्रकार द्रव्य और भाव स्वरूप से निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिए।

१९२. यहाँ शिष्य पूछता है कि जो सविपाक निर्जरा है, वह तो नरक आदि गतियों में अज्ञानियों के भी होती हुई देखी जाती है। इसलिए सम्यग्ज्ञानियों के सविपाक निर्जरा होती है, यह नियम नहीं है। इसका उत्तर यह है–यहाँ (मोक्ष प्रकरण में) जो संवर-पूर्वक निर्जरा है उसी को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वही मोक्ष का कारण है और जो अज्ञानियों के निर्जरा होती है वह तो गजस्नान (हाथी के स्नान) के समान निष्फल है, क्योंकि अज्ञानी जीव थोड़े कर्मों की तो निर्जरा करता है और बहुत से कर्मों को बाँधता है। इस कारण अज्ञानियों की निर्जरा का यहाँ ग्रहण नहीं है। सराग सम्यग्दृष्टियों के जो निर्जरा है, वह यद्यपि अशुभ कर्मों का नाश करती है (शुभ कर्मों का नाश नहीं करती) फिर भी संसार की स्थिति को थोड़ा करती है अर्थात् जीव के संसार-भ्रमण को घटाती है। उसी भव में तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य बन्ध का कारण हो जाती है और परम्परा से मोक्ष का कारण है। वीतराग सम्यग्दृष्टियों के पुण्य तथा पाप दोनों का नाश होने पर उसी भव में वह निर्जरा मोक्ष का कारण होती है। सो ही श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने कहा है–अज्ञानी जिन कर्मों का एक लाख करोड़ वर्षों में नाश करता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी जीव मन-वचन-काय की गुप्ति द्वारा एक उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देता है ॥१॥

१९३. कश्चिदाह–सद्दृष्टीनां वीतरागविशेषणं किमर्थं ''रागादयो हेया मदीया न भवन्ति'' इति भेदविज्ञाने जाते सति रागानुभवेऽपि ज्ञानमात्रेण मोक्षो भवतीति। तत्र परिहारः। अन्धकारे पुरुषद्वयम्, एकः प्रदीपहस्तस्तिष्ठति, अन्यः पुनरेकः प्रदीपरहितस्तिष्ठति। स च कूपे पतनं सर्पादिकं वा न जानाति तस्य विनाशे दोषो नास्ति। यस्तु प्रदीपहस्तस्तस्य कूपपतनादिविनाशे प्रदीपफलं नास्ति। यस्तु कूपपतनादिकं त्यजति तस्य प्रदीपफलमस्ति। तथा कोऽपि रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेदविज्ञानं न जानाति स कर्मणा बध्यते तावत्, अन्यः कोऽपि रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावतांशेन रागादिकमनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति। यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम्। तथा चोक्तं–

''चक्खुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादि-दोसपरिहारो।
चक्खू होदि णिरत्थं दट्ठूण बिले पडंतस्स।१।''॥३६॥

एवं निर्जराव्याख्याने सूत्रेणैकेन चतुर्थस्थलं गतम् ॥

१९४. अथ मोक्षतत्त्वमावेदयति–

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो ॥३७॥

---

१९३. यहाँ कोई शंका करता है कि सम्यग्दृष्टियों के 'वीतराग' विशेषण किस लिए लगाया है, क्योंकि राग आदि भाव हेय हैं, ये मेरे नहीं हैं ऐसा भेदविज्ञान होने पर, उसके राग का अनुभव होते हुए भी ज्ञानमात्र से ही मोक्ष हो जाता है? **समाधान–**अन्धकार में दो मनुष्य हैं, एक के हाथ में दीपक है और दूसरा बिना दीपक के है। उस दीपक रहित पुरुष को कुँए तथा सर्प आदि का ज्ञान नहीं होता, इसलिए कुँए आदि में गिरकर नाश होने में उसका दोष नहीं किन्तु हाथ में दीपक वाले मनुष्य का कुँए में गिरने आदि से नाश होने पर, दीपक का कोई फल नहीं हुआ। जो कूपपतन आदि से बचता है उसके दीपक का फल है। इसी प्रकार जो कोई मनुष्य राग आदि हेय हैं, मेरे नहीं हैं इस भेदविज्ञान को नहीं जानता, वह तो कर्मों से बंधता ही है। दूसरा कोई मनुष्य भेदविज्ञान के होने पर भी जितने अंशों में रागादिक का अनुभव करता है, उतने अंशों से वह भेदविज्ञानी भी बंधता ही है; उसके रागादि के भेदविज्ञान का भी फल नहीं है। जो भेदविज्ञान होने पर राग आदि का त्याग करता है उसके भेदविज्ञान का फल है, ऐसा जानना चाहिए। सो ही कहा है–

मार्ग में सर्प आदि से बचना, नेत्रों से देखने का यह फल है; देखकर भी सर्प के बिल में पड़ने वाले के नेत्र निरर्थक हैं ॥३६॥ इस प्रकार निर्जरा तत्त्व के व्याख्यान में एक सूत्र द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ।

१९४. अब मोक्षतत्त्व का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(हु) निश्चय से **(अप्पणो)** आत्मा का **(जो परिणामो)** जो परिणाम **(सव्वस्स**

सब कर्मों के क्षय में कारण आतम का परिणाम रहा।
भाव-मोक्ष वह यही बताता जिनवर मत अभिराम रहा॥
आत्म -प्रदेशों से अति-न्यारा तन का, विधि का हो जाना।
'द्रव्य-मोक्ष' है, मोक्षतत्त्व भी द्रव्य-भावमय सोपाना॥३७॥

१९५. वृत्ति—यद्यपि सामान्येन निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मन आत्यन्तिक-स्वाभाविकाचिन्त्याद्भुतानुपमसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणास्पदमवस्थान्तरं मोक्षो भण्यते तथापि विशेषेण भावद्रव्यरूपेण द्विधा भवतीति वार्त्तिकम्। तद्यथा—**णेयो स भावमुक्खो** णेयो ज्ञातव्यः स भावमोक्षः। स कः? **अप्पणो हु परिणामो** निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसाररूपो **हु** स्फुटमात्मनः परिणामः। कथंभूतः? **सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू** सर्वस्य द्रव्यभावरूपमोहनीयादिघातिचतुष्टयकर्मणो यः क्षयहेतुरिति। द्रव्यमोक्षं कथयति। **दव्वविमुक्खो** अयोगिचरमसमये द्रव्यविमोक्षो भवति। कोऽसौ

कम्मणो) समस्त कर्मों के **(खयहेदू)** क्षय का कारण है **(स)** वह **(भावमुक्खो)** भावमोक्ष है **(य)** और **(कम्मपुहभावो)** ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का पृथक् हो जाना **(दव्वविमोक्खो)** द्रव्यमोक्ष **(णेयो)** जानना चाहिए।

गाथार्थ—सब कर्मों के नाश का कारण जो आत्मा का परिणाम है, उसको भावमोक्ष जानना चाहिए। कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् होना, द्रव्यमोक्ष है॥३७॥

१९५. वृत्त्यर्थ—यद्यपि सामान्य रूप से सम्पूर्णतया कर्ममल-कलंक-रहित, शरीर रहित आत्मा के आत्यन्तिक-स्वाभाविक-अचिन्त्य-अद्भुत तथा अनुपम सकल विमल केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों का स्थान रूप जो अवस्थान्तर है, वही मोक्ष कहा जाता है; फिर भी भाव और द्रव्य के भेद से, वह मोक्ष दो प्रकार का होता है, यह वार्तिक पाठ है। सो इस प्रकार है—**णेयो स भावमुक्खो** वह भावमोक्ष जानना चाहिए। वह कौन? **अप्पणो हु परिणामो** निश्चय रत्नत्रय रूप कारण समयसाररूप आत्म-परिणाम। वह आत्मा का परिणाम कैसा है? **सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू** सब द्रव्यभावरूप मोहनीय आदि चार घातियाकर्मों के नाश का जो कारण है।[1] द्रव्यमोक्ष को कहते हैं—**दव्वविमुक्खो**

---

१. **परमात्मप्रकाश** २/१९४-९५ में लिखा है कि—अर्हत्पदमिति भावमोक्ष इति जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरिति एकोऽर्थः [पृ० २९९ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला]

पण्डित दौलतरामजी कृत अनुवाद—अरहन्तपद कहो या भावमोक्ष कहो अथवा जीवन्मोक्ष कहो या केवलज्ञान की उत्पत्ति कहो, इन चारों शब्दों का अर्थ एक ही है।

पंचास्तिकाय गा० १५१-५२ पृ० २१८ [श्रीमद् रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला] में लिखा है— ''केवलज्ञानानन्तचतुष्टयस्वरूप भावमोक्षं प्राप्नोति।'' **अर्थ**—...केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टयस्वरूपं भावमोक्ष प्राप्त करता है।

इन सब प्रकरणों से स्पष्ट है कि तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही [पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा] भावमोक्ष की उपलब्धि है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा इसके पूर्व के समय में [यानि क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ के चरम समय में] भाव मोक्ष जानना चाहिए।

कम्मपुहभावो टङ्कोत्कीर्णशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मन आयुरादिशेषाघातिकर्मणामपि य आत्यन्तिक-पृथग्भावो विश्लेषो विघटनमिति॥

१९६. तस्य मुक्तात्मनः सुखं कथ्यते। ''**आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं। वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निष्प्रतिद्वन्द्वभावम्। अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपमममितं शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्।१।**''

१९७. कश्चिदाह-इन्द्रियसुखमेव सुखं मुक्तात्मनामिन्द्रियशरीराभावे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुखं कथं घटत इति? तत्रोत्तरं दीयते—सांसारिकसुखं तावत् स्त्रीसेवनादिपञ्चेन्द्रियविषयप्रभवमेव, यत्पुनः पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितानां निर्व्याकुलचित्तानां पुरुषाणां सुखं तदतीन्द्रियसुखमत्रैव दृश्यते। पञ्चेन्द्रियमनोजनितविकल्पजालरहितानां निर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां रागादिरहितत्वेन स्वसंवेद्यमात्मसुखं तद्विशेषेणातीन्द्रियम्। यच्च भावकर्मद्रव्यकर्मरहितानां सर्वप्रदेशाह्लादैकपारमार्थिक-परमानन्दपरिणतानां मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुखं तदत्यन्तविशेषेण ज्ञातव्यम्।

१९८. अत्राह शिष्यः—संसारिणां निरन्तरं कर्मबन्धोऽस्ति, तथैवोदयोऽप्यस्ति, शुद्धात्मभावना-प्रस्तावो नास्ति, कथं मोक्षो भवतीति? तत्र प्रत्युत्तरं। यथा शत्रोः क्षीणावस्थां दृष्ट्वा कोऽपि धीमान्

अयोगी गुणस्थान के अन्त समय में द्रव्यमोक्ष होता है। वह द्रव्यमोक्ष कैसा है? **कम्मपुहभावो** टंकोत्कीर्ण शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव स्वरूप परमात्मा से, आयु आदि शेष चार अघातिया कर्मों का भी सर्वथा पृथक् होना, भिन्न होना या विघटना, सो द्रव्यमोक्ष है।

१९६. उस मुक्तात्मा के सुख का वर्णन करते हैं—आत्मा उपादान कारण से सिद्ध, स्वयं अतिशययुक्त, बाधा से शून्य, विशाल, वृद्धि-ह्रास से रहित, विषयों से रहित, प्रतिद्वन्द्व (प्रतिपक्षता) से रहित, अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष, उपमा रहित, अपार, नित्य, सर्वदा उत्कृष्ट तथा अनन्त सारभूत परमसुख उन सिद्धों के होता है ॥१॥

१९७. **शंका**—कोई कहता है कि जो सुख इन्द्रियों से उत्पन्न होता है, वही सुख है; सिद्ध जीवों के इन्द्रियों तथा शरीर का अभाव है, इसलिए पूर्वोक्त अतीन्द्रिय सुख सिद्धों के कैसे हो सकता है? इसका **समाधान** देते हैं—सांसारिक सुख तो स्त्री-सेवन आदि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से ही उत्पन्न होता है किन्तु पाँचों इन्द्रियों के विषयों के व्यापार से रहित तथा निर्व्याकुल चित्त वाले पुरुषों को जो सुख है, वह अतीन्द्रिय सुख है, वह इस लोक में भी देखा जाता है। पाँचों इन्द्रियों तथा मन से उत्पन्न होने वाले विकल्पों से रहित तथा निर्विकल्प ध्यान में स्थित परम योगियों के राग आदि के अभाव से जो स्वसंवेद्य (अपने अनुभव में आने वाला) आत्मिक सुख है वह विशेष रूप से अतीन्द्रिय सुख है। भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित आत्मा के समस्त प्रदेशों में आह्लाद रूप पारमार्थिक परम सुख में परिणत मुक्त जीवों के जो अतीन्द्रिय सुख है, वह अत्यन्त विशेष रूप से अतीन्द्रिय है।

१९८. यहाँ शिष्य कहता है—संसारी जीवों के निरन्तर कर्मों का बन्ध होता है, इसी प्रकार कर्मों का उदय भी सदा होता रहता है, शुद्ध आत्म-ध्यान का प्रसंग ही नहीं तब मोक्ष कैसे होता है? इसका

पर्यालोचयत्ययं मम हनने प्रस्तावस्ततः पौरुषं कृत्वा शत्रुं हन्ति तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति हीयमानस्थित्यनुभागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्वं क्षीणत्वं भवति तदा धीमान् भव्य आगमभाषया

''खयउवसमिय-विसोही देसणपाउग्गकरणलद्धी य।
चत्तारिवि सामण्णा करणं सम्मत्तचारित्ते।१।''

इति गाथाकथितलब्धिपञ्चकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मल-भावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति। यत्पुनरन्तः कोटाकोटीप्रमितकर्मस्थितिरूपेण तथैव लतादारुस्थानीयानुभागरूपेण च कर्मलघुत्वे जातेऽपि सत्ययं जीव आगमभाषया अधःप्रवृत्तिकरणा-पूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञामध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणतिरूपां कर्महननबुद्धिं क्वापि काले न करिष्यतीति तदभव्यत्वगुणस्यैव लक्षणं ज्ञातव्यमिति।

१९९. अन्यदपि दृष्टान्तनवकं मोक्षविषये ज्ञातव्यम्–

''रयणदीवदिणयरदहिउ, दुद्धउ घीव पहाणु।
सुण्णुरुप्पफलिहउ अगणि, णव दिट्ठंता जाणि।१।''

उत्तर देते हैं—जैसे कोई बुद्धिमान् शत्रु की निर्बल अवस्था देखकर विचार करता है कि – ''यह मेरे मारने का अवसर है'', इसलिए पुरुषार्थ करके शत्रु को मारता है। इसी प्रकार कर्मों की भी सदा एक रूप अवस्था नहीं रहती, स्थिति और अनुभाग की न्यूनता होने पर जब कर्म लघु अर्थात् क्षीण होते हैं, तब बुद्धिमान भव्य जीव, आगम भाषा से क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ हैं, इनमें चार तो सामान्य हैं (सभी जीवों को हो सकती हैं) करण लब्धि सम्यक्त्व होने के समय होती है। १।

इस गाथा में कही हुई पाँच लब्धियों से और अध्यात्म भाषा में निज शुद्ध-आत्मा के सम्मुख परिणाम नामक निर्मल भावना विशेष रूप खड्ग से पौरुष करके, कर्म शत्रु को नष्ट करता है। अन्तःकोटाकोटि-प्रमाण कर्मस्थिति रूप तथा लता व काष्ठ के स्थानापन्न अनुभाग रूप से कर्मभार हल्का हो जाने पर भी यदि यह जीव आगम भाषा से अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक और अध्यात्म भाषा से स्वशुद्ध-आत्मसन्मुख परिणामरूप ऐसी कर्मनाशक बुद्धि को किसी भी समय नहीं करेगा, तो यह अभव्यत्व गुण का ही लक्षण जानना चाहिए।[1]

१९९. अन्य भी नौ दृष्टान्त मोक्ष के विषय में जानने योग्य हैं—रत्न, दीपक, सूर्य, दूध, दही, घी, पाषाण, सोना, चाँदी, स्फटिकमणि और अग्नि। १।(१. रत्न—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपी रत्नत्रयमयी होने से आत्मा रत्न के समान है। २. दीपक–स्व-पर-प्रकाशक होने से आत्मा दीपक के समान है। ३. सूर्य–केवलज्ञानमयी तेज से प्रकाशमान होने से आत्मा सूर्य के समान है। ४. दूध-दही-घी—सार वस्तु होने से परमात्मारूपी आत्मा घी के समान है। संसारी आत्मा में परमात्मा शक्ति रूप से रहता

---

१. तथा अभव्य समान भव्यत्व गुण का भी यही लक्षण जानना चाहिए।

२००. नन्वनादिकाले मोक्षं गच्छतां जीवानां जगच्छून्यं भविष्यतीति? तत्र परिहारः—यथा भाविकालसमयानां क्रमेण गच्छतां यद्यपि भाविकालसमयराशेः स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति। तथा मुक्तिं गच्छतां जीवानां यद्यपि जीवराशेः स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसानं नास्ति। इति चेत्तर्हि पूर्वकाले बहवोऽपि जीवा मोक्षं गता इदानीं जगतः शून्यत्वं किं न दृश्यते। किञ्चाभव्यानामभव्यसमानभव्यानां च मोक्षो नास्ति कथं शून्यत्वं भविष्यतीति ॥३७॥ एवं संक्षेपेण मोक्षतत्त्वव्याख्यानेनैकसूत्रेण पञ्चमं स्थलं गतम्।

२०१. अत ऊर्ध्वं षष्ठस्थले गाथापूर्वार्धेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्वरूपमुत्तरार्धेन च पुण्यपापप्रकृतिसंख्यां कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च॥३८॥

है, जैसे दूध व दही में घी रहता है अतः संसारी आत्मा की अपेक्षा आत्मा दूध या दही के समान है। ५. पाषाण—टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव होने से आत्मा पाषाण के समान है। ६. सुवर्ण—कर्मरूपी कालिमा से रहित होने से आत्मा सुवर्ण के समान है।७. चाँदी—स्वच्छ होने से आत्मा चाँदी के समान है। ८. स्फटिक—स्फटिक स्वभाव से निर्मल होने पर भी, हरी पीली काली डांक के निमित्त से हरी पीली काली रूप परिणम जाती है और डांक के अभाव में शुद्ध निर्मल हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा, स्वभाव से निर्मल होने पर भी, कर्मोदय के निमित्त से राग-द्वेष-मोह रूप परिणमती है और कर्म के अभाव में शुद्ध निर्मल हो जाती है, अतः आत्मा स्फटिक के समान है। ९. अग्नि—जैसे अग्नि ईंधन को जलाती है, इसी प्रकार आत्मा कर्म रूपी ईंधन को जलाती है, अतः आत्मा अग्नि के समान है।)

२००. **शंका**—अनादिकाल से जीव मोक्ष जा रहे हैं, अतः यह जगत् कभी जीवों से बिल्कुल शून्य हो जायेगा? परिहार—जैसे भविष्यत् काल सम्बन्धी समयों के क्रम से जाने पर यद्यपि भविष्यत्काल के समयों की राशि में कमी होती है फिर भी उसका अन्त नहीं होगा। इसीप्रकार जीवों के मुक्ति में जाने से यद्यपि जगत् में जीव-राशि की न्यूनता होती है, तो भी उस जीवराशि का अन्त नहीं होगा। यदि जीवों के मोक्ष जाने से शून्यता मानते हो तो पूर्वकाल में बहुत जीव मोक्ष गये हैं, तब भी इस समय जगत् में जीवों की शून्यता क्यों नहीं दिखाई पड़ती अर्थात् शून्यता नहीं हुई। और भी—अभव्य जीवों तथा अभव्यों के समान दूरान्दूर भव्य जीवों का मोक्ष नहीं है। फिर जगत् की शून्यता कैसे होगी[१]॥३७॥ इस प्रकार संक्षेप से मोक्षतत्त्व के व्याख्यान रूप एक सूत्र से पंचम स्थल समाप्त हुआ।

२०१. अब इसके आगे छठे स्थल में ''गाथा के पूर्वार्ध से पुण्य पाप रूप दो पदार्थों को और उत्तरार्ध से पुण्य प्रकृति तथा पाप प्रकृतियों की संख्या कहता हूँ'' इस अभिप्राय को मन में रखकर,

---

१. जगत् कभी शून्य नहीं हो सकता इसके लिए विस्तृत कारणप्ररूपणा बृहज्जिनोपदेश पृ० ८४ से ८७ पर लिखी है, अतः वहाँ देखनी चाहिए।

शुभ-भावों से सहित हुआ सो जीव पुण्य हो आप रहा।
अशुभ-भाव से घिरा हुआ ही जीव आप हो पाप रहा॥
सुर-नर-पशु की आयु-तीन ये उच्चगोत्र औ सुख साता।
नाम-कर्म सैंतीस पुण्य हैं, शेष पाप हैं दुखदाता॥३८॥

२०२. वृत्ति—पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा चिदानन्दैकसहजशुद्धस्वभावत्वेन पुण्यपाप-बन्धमोक्षादिपर्यायरूपविकल्परहिता अपि सन्तानागतानादिकर्मबन्धपर्यायेण पुण्यं पापं च भवन्ति खलु स्फुटं जीवाः। कथंभूताः सन्तः **सुहअसुहभावजुत्ता**

''उद्वममिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम्।
भावनमस्काररतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि।१।
पञ्चमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम्।
दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपः सिद्धिविधौ कुरूद्योगम्।२।''

इत्यार्याद्वयकथितलक्षणेन शुभोपयोगभावेन परिणामेन तद्विलक्षणेनाशुभोपयोगपरिणामेन च युक्ताः परिणताः। इदानीं पुण्यपापभेदान् कथयति। **सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं** सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं

भगवान् इस सूत्र का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय से **(सुहअसुहभावजुत्ता)** शुभ व अशुभ भाव से युक्त **(जीवा)** जीव **(पुण्णं पावं)** पुण्य और पापरूप **(हवंति)** होते हैं **(सादं)** सातावेदनीय **(सुहाउ णामं गोदं)** शुभायु, शुभनाम तथा उच्चगोत्र ये सब कर्म प्रकृतियाँ **(पुण्णं)** पुण्यरूप हैं **(च)** और **(पराणि पावं)** अन्य शेष सब कर्म प्रकृतियाँ पापरूप हैं।

गाथार्थ—शुभ तथा अशुभ परिणामों से युक्त जीव, पुण्य-पाप रूप होते हैं। सातावेदनीय, शुभायु, शुभनाम तथा उच्चगोत्र, ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं। शेष सब पाप प्रकृतियाँ हैं ॥३८॥

२०२. वृत्त्यर्थ—पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा चिदानन्द एक-सहज-शुद्ध-स्वभाव से यह जीव, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि पर्यायरूप विकल्पों से रहित है, तो भी परम्परा—अनादि कर्मबन्ध पर्याय से पुण्य-पाप रूप होते हैं। कैसे होते हुए जीव पुण्य-पाप को धारण करते हैं? **सुहअसुहभावजुत्ता** मिथ्यात्वरूपी विष का वमन करो, सम्यग्दर्शन की भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति करो और भाव नमस्कार में तत्पर होकर सदा ज्ञान में लगे रहो ॥१॥ पाँच महाव्रतों का पालन करो, क्रोध आदि चार कषायों का पूर्णरूप से निग्रह करो, प्रबल इन्द्रियों को विजय करो तथा बाह्य—अभ्यन्तर तप को सिद्ध करने में उद्योग करो ॥२॥

इस प्रकार दोनों आर्याछन्दों में कहे हुए लक्षण सहित शुभ उपयोग रूप परिणाम से तथा उसके विपरीत अशुभ उपयोग रूप परिणाम से युक्त जीव, पुण्य-पाप को धारण करते हैं अथवा स्वयं पुण्य-पाप रूप हो जाते हैं। अब पुण्य तथा पाप के भेद कहते हैं। **सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्णं** साता

भवति **पराणि पावं च** तस्मादपराणि कर्माणि पापं चेति। तद्यथा—सद्वेद्यमेकं, तिर्यग्मनुष्यदेवायुस्त्रयं, सुभगयशःकीर्त्तितीर्थकरत्वादिनामप्रकृतीनां सप्तत्रिंशत्, तथोच्चैर्गोत्रमिति समुदायेन द्विचत्वारिंशत्संख्याः पुण्यप्रकृतयो विज्ञेयाः। शेषा द्व्यशीतिपापमिति।

२०३.तत्र "**दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणि-र्मार्गप्रभावना प्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य**" इत्युक्तलक्षणषोडशभावनोत्पन्नतीर्थकर-नामकर्मैव विशिष्टं पुण्यम्। षोडशभावनासु मध्ये परमागमभाषया

"**मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।**
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ।१।"

इति श्लोककथितपञ्चविंशतिमलरहिता तथाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपा सम्यक्त्व-भावनैव मुख्येति विज्ञेयम्।

२०४. "सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्।" कथं पुण्यं करोतीति? तत्र युक्तिमाह। यथा

वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च-गोत्र ये कर्म तो पुण्य रूप हैं। **पराणि पावं च** इनसे भिन्न शेष पाप कर्म हैं। इस प्रकार—सातावेदनीय एक, तिर्यञ्च-मनुष्य-देव ये तीन आयु, सुभग-यशःकीर्ति-तीर्थंकर आदि नामकर्म की सैंतीस[1] और उच्च गोत्र ऐसे समुदाय से ४२ पुण्य प्रकृतियाँ जाननी चाहिए। शेष ८२ पाप प्रकृतियाँ हैं।

२०३. इनमें १. दर्शनविशुद्धि, २. विनयसम्पन्नता, ३. शील और व्रतों का अतिचार रहित आचरण, ४. निरन्तर ज्ञान उपयोग, ५. संवेग, ६. शक्ति अनुसार त्याग, ७. शक्ति अनुसार तप, ८. साधुसमाधि, ९. वैयावृत्य करना, १०. अर्हन्तभक्ति, ११. आचार्यभक्ति, १२. बहुश्रुतभक्ति, १३. प्रवचनभक्ति, १४. आवश्यकों में हानि न करना, १५. मार्गप्रभावना और १६. प्रवचनवात्सल्य। ये तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के कारण हैं, इन सोलह भावनाओं से उत्पन्न तीर्थंकर नामकर्म विशिष्ट पुण्य है। इन सोलह भावनाओं में, परमागम भाषा से तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंका आदि दोष ये पच्चीस सम्यग्दर्शन के दोष हैं ॥१॥ इस श्लोक में कहे हुए पच्चीस दोषों से रहित तथा अध्यात्म भाषा से निज शुद्ध-आत्मा में उपादेयरूप रुचि, ऐसी सम्यक्त्व की भावना ही मुख्य है, ऐसा जानना चाहिए।

२०४. **शंका—**सम्यग्दृष्टि जीव के तो पुण्य तथा पाप ये दोनों हेय हैं, फिर वह पुण्य कैसे करता

---

१. वे ३७ ये हैं—मनुष्यगतिद्विक, देवगतिद्विक, पाँच शरीर, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्रसंस्थान, ३ अंगोपांग, शुभ विहायोगति, वज्रवृषभनाराचसंहनन, प्रशस्त वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, त्रसचतुष्क, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, निर्माण, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर। (गोम्मटसार जीवकाण्ड ४२-४४; सर्वार्थसिद्धि ८/२५-२६)

कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थे दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेय-रूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थः सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवञ्चनार्थं च दानपूजादिना गुण-स्तवनादिना वा परमभक्तिं करोति तेन भोगाकाङ्क्षादिनिदानरहितपरिणामेन कुटुम्बिनां पलालमिव अनीहित-वृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलोकान्तिकादिविभूतिं प्राप्य विमानपरिवारादि-संपदं जीर्णतृणमिव गणयन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति इति चेत्–तदिदं समवसरणं, त एते वीतरागसर्वज्ञाः, त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते त इदानीं प्रत्यक्षेण दृष्टा इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मनोऽविरतावस्थामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्टभेदज्ञानवासना-बलेन मोहं न करोति ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपापरहितनिजपरमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति। मिथ्यादृष्टिस्तु तीव्रनिदानबन्धपुण्येन भोगं प्राप्य पश्चादर्द्धचक्रवर्त्तिरावणादिवन्नरकं गच्छतीति। एवमुक्तलक्षण-पुण्यपापपदार्थद्वयेन सह पूर्वोक्तानि सप्ततत्त्वान्येव नव पदार्था भवन्तीति ज्ञातव्यम्।

है? युक्ति सहित **समाधान**—जैसे कोई मनुष्य अन्य देश में विद्यमान किसी मनोहर स्त्री के पास से आये हुए मनुष्यों का, उस स्त्री की प्राप्ति के लिए दान-सम्मान आदि करता है; ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी निज शुद्ध-आत्मा को ही भाता है; परन्तु जब चारित्रमोह के उदय से उस निज-शुद्धात्म-भावना भाने में असमर्थ होता है, तब दोषरहित परमात्मस्वरूप अर्हन्त-सिद्धों की तथा उनके आराधक आचार्य-उपाध्याय-साधु की परमात्मपद की प्राप्ति के लिए और विषय कषायों से बचने के लिए, पूजा-दान आदि से अथवा गुणों की स्तुति आदि से परम भक्ति करता है। उनसे और भोगों की वांछा आदि रूप निदान रहित परिणामों से तथा निःस्पृहवृत्ति से विशिष्ट पुण्य का आस्रव करता है, जैसे किसान चावलों के लिए खेती करता है, तो भी बिना इच्छा बहुत-सा पलाल (भूसा) मिल ही जाता है। उस पुण्य से स्वर्ग में इन्द्र, लौकांतिक देव आदि की विभूति प्राप्त करके विमान तथा परिवार आदि संपदा को जीर्ण तृण के समान गिनता हुआ पञ्च महाविदेहों में जाकर देखता है। **प्रश्न**—क्या देखता है? **उत्तर**—वह यह समवसरण है, वे ये वीतराग सर्वज्ञ भगवान् हैं, वे ये भेद-अभेद रत्नत्रय के आराधक गणधरदेव आदि हैं; जो पहले सुने थे, वे आज प्रत्यक्ष देखे, ऐसा मानकर धर्म-बुद्धि को विशेष दृढ़ करके चौथे गुणस्थान के योग्य आत्मभावना को न छोड़ता हुआ, भोग भोगता हुआ भी धर्मध्यान से काल को पूर्ण कर, स्वर्ग से आकर, तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त होता है, तो भी पूर्व जन्म में भावित विशिष्ट-भेदज्ञान की वासना के बल से मोह नहीं करता, अतः जिनदीक्षा धारणकर पुण्य-पाप से रहित निज परमात्मध्यान के द्वारा मोक्ष जाता है। मिथ्यादृष्टि तो, तीव्र निदानबंध वाले पुण्य से भोग प्राप्त करने के पश्चात् अर्ध-चक्रवर्ती रावण आदि के समान नरक को जाता है एवं उक्त लक्षण वाले पुण्य-पाप रूप दो पदार्थ सहित पूर्वोक्त सात तत्त्व ही नौ पदार्थ हो जाते हैं। ऐसा जानना चाहिए ॥३८॥

२०५. इति श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रन्थे ''आसवबंधण'' इत्याद्येका सूत्रगाथा तदनन्तरं गाथादशकेन स्थलषट्कं चेति समुदायेनैकादशसूत्रैः सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा द्वितीयोन्तराधिकारः समाप्तः॥२॥

---

२०५. इस प्रकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव-विरचित द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में 'आसवबंधण' आदि एक सूत्रगाथा, तदनन्तर १० गाथाओं द्वारा ६ स्थल, इस तरह समुदाय रूप से ११ गाथाओं द्वारा सात तत्त्व, नौ पदार्थों का प्रतिपादन करने वाला दूसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

❑ ❑ ❑

तृतीयोऽधिकारः

२०६. अत ऊर्ध्वं विंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गं कथयति। तत्रादौ **सम्मद्दंसण** इत्याद्यष्ट-गाथाभिर्निश्चयमोक्षमार्गव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकमुख्यत्वेन प्रथमोऽन्तराधिकारस्ततः परम् **दुविहं पि मोक्खहेउं** इति प्रभृतिद्वादशसूत्रैर्ध्यानध्यातृध्येयध्यानफलकथनमुख्यत्वेन द्वितीयोऽन्तराधिकारः, इति तृतीयाधिकारे समुदायेन पातनिका।

२०७. अथ प्रथमतः सूत्रपूर्वार्धेन व्यवहारमोक्षमार्गमुत्तरार्धेन च निश्चयमोक्षमार्गं निरूपयति-

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा॥३९॥

सच्चादर्शन तत्त्वज्ञान भी सच्चा, सच्चा चरण तथा।
'मोक्षमार्ग-व्यवहार' यही है प्रथम यही है शरण-कथा ॥
परन्तु 'निश्चय-मोक्षमार्ग' तो निज आतम ही कहलाता।
क्योंकि आतमा इन तीनों से तन्मय होकर वह भाता ॥३९॥

२०८. वृत्ति-सम्मद्दंसणणाणं चरणं मुक्खस्स कारणं जाणे ववहारा सम्यग्दर्शनज्ञान-

---

२०६. अब आगे बीस गाथाओं तक मोक्ष-मार्ग का कथन करते हैं। उसके प्रारम्भ में **सम्मद्दंसणणाणं** इत्यादि आठ गाथाओं द्वारा प्रधानता से निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का प्रतिपादक प्रथम अन्तराधिकार है। उसके अनन्तर **दुविहं पि मुक्खहेउं** आदि बारह गाथाओं से ध्यान, ध्याता, ध्येय तथा ध्यान के फल को मुख्यता से कहने वाला द्वितीय अन्तराधिकार है। इस प्रकार इस तृतीय अधिकार की समुदाय से भूमिका है।

२०७. अब प्रथम ही सूत्र के पूर्वार्ध से व्यवहार मोक्ष-मार्ग का और उत्तरार्ध से निश्चय मोक्ष-मार्ग का कथन करते हैं—

अन्वयार्थ-(ववहारा) व्यवहारनय से **(सम्मद्दंसण-णाणं चरणं)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को तथा **(णिच्छयदो)** निश्चयनय से **(तत्तियमइओ)** इन तीनों स्वरूप वाले **(णिओ अप्पा)** निज आत्मा को ही **(मोक्खस्स कारणं)** मोक्ष का कारण **(जाणे)** जानो।

गाथार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनों के समुदाय) को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमयी निज आत्मा को निश्चयनय से मोक्ष का कारण जानो ॥३९॥

२०८. वृत्त्यर्थ-सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा हे शिष्य! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनों के समुदाय) को व्यवहारनय से मोक्ष का

चारित्रत्रयं मोक्षस्य कारणं हे शिष्य! जानीहि व्यवहारनयात्। **णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा** निश्चयतस्तत्त्रितयमयो निजात्मेति। तथाहि–वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनव-पदार्थसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानविकल्पो व्यवहारमोक्षमार्गः। निजनिरञ्जनशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुचरणैकाग्र्यपरिणतरूपो निश्चयमोक्षमार्गः। अथवा धातुपाषाणेऽग्निवत्साधको व्यवहार-मोक्षमार्गः, सुवर्णस्थानीयनिर्विकारस्वोपलब्धिसाध्यरूपो निश्चयमोक्षमार्गः। एवं संक्षेपेण व्यवहारनिश्चय-मोक्षमार्गलक्षणं ज्ञातव्यमिति ॥३९॥

२०९. अथाभेदेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि स्वशुद्धात्मैव तेन कारणेन निश्चयेनात्मैव निश्चयमोक्षमार्ग इत्याख्याति। अथवा पूर्वोक्तमेव निश्चयमोक्षमार्गं प्रकारान्तरेण दृढयति–

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा॥४०॥

ज्ञानादिक ये तीन रतन तो आत्मा में ही झिल-मिलते।
शेष सभी द्रव्यों में झांको कभी किसी को ना मिलते॥
इसीलिए इन रत्नों में नित तन्मय हो प्रतिभासित है।
माना निश्चय मोक्षसौख्य का, कारण आतम भावित है॥४०॥

कारण जानो। **णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीनमयी निज आत्मा ही निश्चयनय से मोक्ष का कारण है तथा श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान और व्रत आदि रूप आचरण, इन विकल्पमयी व्यवहार मोक्षमार्ग है। निज निरंजन शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण में एकाग्रपरिणति रूप निश्चय मोक्षमार्ग है। अथवा स्वशुद्धात्म-भावना का साधक व बाह्य पदार्थ के आश्रित व्यवहार मोक्षमार्ग है। मात्र स्वानुभव से उत्पन्न व रागादि विकल्पों से रहित सुख अनुभवन रूप निश्चय मोक्षमार्ग है। अथवा धातु-पाषाण से सुवर्ण प्राप्ति में अग्नि के समान जो साधक है, वह तो व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा सुवर्ण समान निर्विकार निज-आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति रूप साध्य, वह निश्चय मोक्षमार्ग है। इस प्रकार संक्षेप से व्यवहार तथा निश्चय मोक्षमार्ग जानना चाहिए ॥३९॥

२०९. अब अभेद से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप, निज शुद्ध-आत्मा ही है कारण, इस निश्चय से आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है, इस प्रकार कथन करते हैं। अथवा पूर्वोक्त निश्चय मोक्षमार्ग को ही अन्य प्रकार से दृढ़ करते हैं–

अन्वयार्थ–(रयणत्तयं) रत्नत्रयरूप धर्म **(अप्पाणं मुइत्तु)** आत्मा को छोड़कर **(अण्ण-दवियम्हि)** अन्य द्रव्य में **(ण वट्टइ)** नहीं रहता **(तम्हा)** इस कारण से **(तत्तियमइयो आदा)** इन तीनों मय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र सहित आत्मा ही **(हु)** निश्चय से

२१०. **वृत्ति—रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि** रत्नत्रयं न वर्त्तते स्वकीय-शुद्धात्मानं मुक्त्वा अन्याचेतने द्रव्ये। **तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा** तस्मात्तत्त्रितय-मय आत्मैव निश्चयेन मोक्षस्य कारणं भवतीति जानीहि। अथ विस्तारः—रागादिविकल्पोपाधि-रहितचिच्चमत्कारभावनोत्पन्नमधुररसास्वादसुखोऽहमिति निश्चयरूपं सम्यग्दर्शनं तस्यैव सुखस्य समस्त-विभावेभ्यः स्वसंवेदनज्ञानेन पृथक् परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तथैव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृतिसमस्ताप-ध्यानरूपमनोरथजनितसंकल्पविकल्पजालत्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य सन्तुष्टस्य तृप्तस्यैकाकारपरम-समरसीभावेन द्रवीभूतचित्तस्य पुनः पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम्। इत्युक्तलक्षणं निश्चय-रत्नत्रयं शुद्धात्मानं विहायान्यत्र घटपटादिबहिर्द्रव्ये न वर्त्तते यतस्ततः कारणादभेदनयेनानेकद्रव्यात्मकैक-प्रपानकवत्तदेव सम्यग्दर्शनं, तदेव सम्यग्ज्ञानं, तदेव सम्यक्चारित्रं, तदेव स्वात्मतत्त्वमित्युक्तलक्षणं निज-शुद्धात्मानमेव मुक्तिकारणं जानीहि ॥४०॥

२११. एवं प्रथमस्थले सूत्रद्वयेन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्वरूपं संक्षेपेण व्याख्याय तदनन्तरं द्वितीयस्थले

(मोक्खस्स कारणं) मोक्ष का कारण **(होदि)** होती है।

गाथार्थ—आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण रत्नत्रयमयी आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण है ॥४०॥

२१०. वृत्त्यर्थ—रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि निज शुद्ध-आत्मा को छोड़कर अन्य अचेतन द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता है। **तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा** इस कारण इस रत्नत्रयमय आत्मा को ही निश्चय से मोक्ष का कारण जानो। इसका विस्तृत वर्णन है—राग आदि विकल्प रहित, चित्‌चमत्कार भावना से उत्पन्न, मधुर रस के आस्वादरूप सुख का धारक 'मैं हूँ' इस प्रकार निश्चय रुचि सम्यग्दर्शन है और स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा उसी सुख का राग आदि समस्त विभावों से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है। इसी प्रकार देखे, सुने तथा अनुभव किये हुए जो भोग आकांक्षा आदि समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथ से उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्प जाल के त्याग द्वारा, उसी सुख में रत-सन्तुष्ट-तृप्त तथा एकाकार रूप परम समता भाव से द्रवीभूत (भीगे) चित्त का पुनः पुनः स्थिर करना सम्यक्‌चारित्र है। इस प्रकार कहे हुए लक्षण वाले जो रत्नत्रय हैं, वे शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य घट, पट आदि बाह्य द्रव्यों में नहीं रहते, इस कारण अभेद से अनेक द्रव्यमयी एक पेय (बादाम, सौंफ, मिश्री, मिर्च आदि रूप ठंडाई) के समान, वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, वह आत्मा ही सम्यक्‌चारित्र है तथा वही निज आत्मतत्त्व है। इस प्रकार कहे हुए लक्षण वाले निज शुद्ध-आत्मा को ही मुक्ति का कारण जानो ॥४०॥

२११. इस प्रकार प्रथम स्थल में दो गाथाओं द्वारा संक्षेप से निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप व्याख्यान करके अब आचार्य दूसरे स्थल में छह गाथाओं तक सम्यग्दर्शन,

गाथाषट्कपर्यन्तं सम्यक्त्वादित्रयं क्रमेण विवृणोति। तत्रादौ सम्यक्त्वमाह—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४१॥

जीवाजीवादिक तत्त्वों पर करना जो श्रद्धान सही।
'सम-दर्शन' है वह आतम का स्वरूप माना जान सही ॥
जिसके होने पर क्या कहना संशय - विभ्रम भगते हैं।
समीचीन तो ज्ञान बने वह प्राण-प्राण झट जगते हैं ॥४१॥

२१२.वृत्ति—जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धजीवादितत्त्वविषये चलमलिनावगाढरहितत्वेन श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः सम्यग्दर्शनम्। **रूवमप्पणो तं तु** तच्चाभेदनयेन रूपं स्वरूपं तु। पुनः कस्य? आत्मन आत्मपरिणाम इत्यर्थः। तस्य सामर्थ्यं माहात्म्यं दर्शयति। **दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि** यस्मिन् सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग् भवति स्फुटं। कथम्भूतं सम्यग्भवति? **दुरभिणिवेसविमुक्कं** चलितप्रतिपत्तिगच्छत्तृणस्पर्शशुक्तिकाशकल-

---

सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का क्रम से वर्णन करते हैं। उनमें प्रथम ही सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवादीसद्दहणं) जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना **(सम्मत्तं)** सम्यक्त्व है **(तं)** वह **(अप्पणो रूवं)** आत्मा का स्वभाव है **(तु)** और **(जम्हि)** जिस सम्यग्दर्शन के **(सदि)** होने पर **(णाणं)** ज्ञान **(खु)** निश्चय से **(दुरभिणिवेसविमुक्कं)** विपरीत अभिप्राय अर्थात् संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित होता हुआ **(सम्मं होदि)** सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

गाथार्थ—जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना, सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है तथा इस सम्यक्त्व के होने पर (संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय इन तीनों) दुरभिनिवेशों से रहित सम्यग्ज्ञान होता है॥४१॥

२१२. वृत्त्यर्थ—जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शुद्ध जीव आदि तत्त्वों में, चल-मलिन-अगाढ़ रहित श्रद्धान, रुचि, निश्चय अथवा "जो जिनेन्द्र ने कहा वही है, जिस प्रकार से जिनेन्द्र ने कहा है उसी प्रकार है" ऐसी निश्चय रूप बुद्धि सम्यग्दर्शन है; **रूवमप्पणो तं तु** वह सम्यग्दर्शन अभेद नय से स्वरूप है; किसका स्वरूप है? आत्मा का, आत्मा का परिणाम है। उस सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य अथवा माहात्म्य को दिखाते हैं—**दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि** जिस सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान सम्यक् हो जाता है। सम्यक् किस प्रकार होता है? **दुरभिणिवेसविमुक्कं** (यह पुरुष है या काठ का ठूठ है, ऐसे दो कोटि रूप) चलायमान संशयज्ञान, गमन करते हुए तृण आदिक के स्पर्श होने पर, यह निश्चय न होना कि किसका स्पर्श हुआ है, ऐसा

रजतविज्ञानसदृशैः संशयविभ्रमविमोहैर्मुक्तं रहितमित्यर्थः।

२१३. इतो विस्तरः—सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग्भवतीति यदुक्तं तस्य विवरणं क्रियते। तथाहि—गौतमाग्निभूतिवायुभूतिनामानो विप्राः पञ्चपञ्चशतब्राह्मणोपाध्याया वेदचतुष्टयं, ज्योतिष्क-व्याकरणादिषडङ्गानि, मनुस्मृत्याद्यष्टादशस्मृतिशास्त्रीणि तथा भारताद्यष्टादशपुराणानि मीमांसान्याय-विस्तर इत्यादि-लौकिकसर्वशास्त्राणि यद्यपि जानन्ति तथापि तेषां हि ज्ञानं सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानमेव। यदा पुनः प्रसिद्धकथान्यायेन श्रीवीरवर्द्धमानस्वामितीर्थकरपरमदेवसमवसरणे मानस्तम्भावलोकन-मात्रादेवागमभाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयसंज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्वं विलयं गतं तदा तदेव मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानं जातम्। ततश्च ''जयति भगवान्'' इत्यादि नमस्कारं कृत्वा जिनदीक्षां गृहीत्वा कचलोचानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तर्द्धिसम्पन्नास्त्रयोऽपि गणधरदेवाः संजाताः। गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशाङ्गश्रुतरचनां कृतवान्। पश्चान्निश्चयरत्नत्रय-भावनाबलेन त्रयोऽपि मोक्षं गताः। शेषाः पञ्चदशशतप्रमितब्राह्मणा जिनदीक्षां गृहीत्वा यथासम्भवं स्वर्गं मोक्षं च गताः। अभव्यसेनः पुनरेकादशाङ्गधारकोऽपि सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानी सञ्जात इति। एवं

विभ्रम (अनध्यवसाय) ज्ञान तथा सीप के टुकड़े में चाँदी का ज्ञान, ऐसा विमोह (विपर्यय) ज्ञान, इन तीनों दोषों से (दूषित ज्ञानों से) रहित हो जाने से वह ज्ञान सम्यक् हो जाता है।

२१३. विस्तार से वर्णन—सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है, यह जो कहा गया है, उसका विवरण कहते हैं—पाँच सौ-पाँच सौ ब्राह्मणों के पढ़ाने वाले गौतम, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन ब्राह्मण विद्वान् चारों वेद-ज्योतिष्क, व्याकरण आदि छहों अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृति ग्रन्थ, महाभारत आदि अठारह पुराण तथा मीमांसा न्यायविस्तर आदि समस्त लौकिक शास्त्रों के ज्ञाता थे तो भी उनका ज्ञान, सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञान ही था, परन्तु जब वे प्रसिद्ध कथा के अनुसार श्री महावीर स्वामी तीर्थंकर परमदेव के समवसरण में मानस्तम्भ के देखने मात्र से ही आगम-भाषा में दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उपशम और क्षय से और अध्यात्म भाषा में निज शुद्ध-आत्मा के सम्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियों के विशेष से उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया, तब उनका वही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया। सम्यग्ज्ञान होते ही 'जयति भगवान्' इत्यादि रूप से भगवान् को नमस्कार करके, श्री जिनदीक्षा धारण करके केशलोंच के अनन्तर ही मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञान तथा सात ऋद्धि के धारक होकर तीनों ही गणधर हो गये। गौतमस्वामी ने भव्यजीवों के उपकार के लिए द्वादशांगश्रुत की रचना की, फिर वे तीनों ही निश्चयरत्नत्रय की भावना के बल से मोक्ष को प्राप्त हुए। वे पन्द्रह सौ ब्राह्मण शिष्य मुनि-दीक्षा लेकर यथासम्भव स्वर्ग या मोक्ष में गये। ग्यारह अंगों का पाठी होकर भी अभव्यसेन मुनि सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञानी ही रहा। इस प्रकार सम्यक्त्व के माहात्म्य से मिथ्याज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम (समता, कषायों की मन्दता)

सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञानतपश्चरणव्रतोपशमध्यानादिकं मिथ्यारूपमपि सम्यग्भवति। तदभावे विषयुक्त-दुग्धमिव सर्वं वृथेति ज्ञातव्यम्।

२१४. तच्च सम्यक्त्वं पञ्चविंशतिमलरहितं भवति। तद्यथा—देवतामूढलोकमूढसमयमूढभेदेन मूढत्रयं भवति। तत्र क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितमनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं वीतरागसर्वज्ञदेवतास्वरूपमजानन् ख्याति-पूजालाभरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिविभूतिनिमित्तं रागद्वेषोपहतार्त्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादि-मिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवतामूढत्वं भण्यते।

२१५. न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छन्ति। कथमिति चेत्? रावणेन रामस्वामिलक्ष्मीधरविनाशार्थं बहुरूपिणी विद्या साधिता, कौरवैस्तु पाण्डवनिर्मूलनार्थं कात्यायनी विद्या साधिता, कंसेन च नारायणविनाशार्थं बह्व्योऽपि विद्याः समाराधितास्ताभिः कृतं न किमपि रामस्वामिपाण्डवनारायणानाम्। तैस्तु यद्यपि मिथ्यादेवता नानुकूलितास्तथापि निर्मलसम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वकृतपुण्येन सर्वं निर्विघ्नं जातमिति।

२१६. अथ लोकमूढत्वं कथयति। गङ्गादिनदीतीर्थस्नानसमुद्रस्नानप्रातःस्नानजलप्रवेशमरणाग्नि-प्रवेशमरणगोग्रहणादिमरणभूम्यग्निवटवृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति तल्लोकमूढत्वं

ध्यान आदि वे सब सम्यक् हो जाते हैं। विष मिले हुए दुग्ध के समान सम्यक्त्व के बिना ज्ञान, तपश्चरणादि सब वृथा हैं, ऐसा जानना चाहिए।

२१४. वह सम्यक्त्व पच्चीस दोषों से रहित होता है। उन पच्चीस दोषों में देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता तथा समयमूढ़ता ये तीन मूढ़ता हैं। क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष रहित, अनन्तज्ञान आदि अनन्तगुण सहित वीतराग सर्वज्ञदेव के स्वरूप को न जानता हुआ जो व्यक्ति ख्याति-पूजा-लाभ रूप-लावण्य-सौभाग्य-पुत्र-स्त्री-राज्य आदि सम्पदा की प्राप्ति के लिए, रागद्वेष युक्त तथा आर्त-रौद्र ध्यानरूप परिणामों वाले क्षेत्रपाल, चंडिका आदि मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना करता है; उस आराधना को देवमूढ़ता कहते हैं।

२१५. वे देव कुछ भी फल नहीं देते। **प्रश्न**—फल कैसे नहीं देते? **उत्तर**—रामचन्द्र और लक्ष्मण के विनाश के लिए रावण ने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की; कौरवों ने पाण्डवों का सत्तानाश करने के लिए कात्यायनी विद्या सिद्ध की तथा कंस ने कृष्ण नारायण के नाश के लिए बहुत सी विद्याओं की आराधना की; परन्तु उन विद्याओं द्वारा रामचन्द्र, पाण्डव और कृष्ण नारायण का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। रामचन्द्र आदि ने मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना नहीं की, तो भी निर्मल सम्यग्दर्शन से उपार्जित पूर्व भव के पुण्य द्वारा उनके सब विघ्न दूर हो गये।

२१६. अब लोक-मूढ़ता कहते हैं—''गंगा आदि नदीरूप तीर्थों में स्नान, समुद्र में स्नान, प्रातःकाल में स्नान, जल में प्रवेश करके मरना, अग्नि में जलकर मरना, गाय की पूँछ आदि को ग्रहण करके मरना, पृथ्वी, अग्नि और बड़ वृक्ष आदि की पूजा करना, ये सब पुण्य के कारण हैं।'' इस प्रकार

विज्ञेयम्। अन्यदपि लौकिकपारमार्थिकहेयोपादेयस्वपरज्ञानरहितानामज्ञानिजनानां प्रवाहेन यद्धर्मानुष्ठानं तदपि लोकमूढत्वं विज्ञेयमिति।

२१७. अथ समयमूढत्वमाह। अज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं ज्योतिष्कमन्त्रवादादिकं दृष्ट्वा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसमयं विहाय कुदेवागमलिङ्गिनां भयाशास्नेहलोभैर्धर्मार्थं प्रणामविनयपूजापुरस्कारादि-करणं समयमूढत्वमिति। एवमुक्त लक्षणं मूढत्रयं सरागसम्यग्दृष्ट्यवस्थायां परिहरणीयमिति। त्रिगुप्तावस्थालक्षणवीतरागसम्यक्त्वप्रस्तावे पुनर्निजनिरंजननिर्दोषपरमात्मैव देव इति निश्चयबुद्धिर्देवता-मूढरहितत्वं विज्ञेयम्। तथैव च मिथ्यात्वरागादिमूढभावत्यागेन स्वशुद्धात्मन्येवावस्थानं लोकमूढरहितत्वं विज्ञेयम्। तथैव च समस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परूपपरभावत्यागेन निर्विकारतात्त्विकपरमानन्दैक-लक्षणपरमसमरसीभावेन तस्मिन्नेव सम्यग्रूपेणायनं गमनं परिणमनं समयमूढरहितत्वं बोद्धव्यम्। इति मूढत्रयं व्याख्यातम्।

२१८. अथ मदाष्टस्वरूपं कथ्यते। विज्ञानैश्वर्यज्ञानतपःकुलबलजातिरूपसंज्ञं मदाष्टकं सराग-

---

जो कहते हैं उसको लोकमूढ़ता जानना चाहिए। लौकिक-पारमार्थिक, हेय-उपादेय व स्व-पर ज्ञानरहित अज्ञानी जनों की कुल परिपाटी से आया हुआ और अन्य भी जो धर्म आचरण है उसको भी लोकमूढ़ता जानना चाहिए।

२१७. अब समयमूढ़ता (शास्त्रमूढ़ता या धर्ममूढ़ता) कहते हैं—अज्ञानी लोगों को चित्त-चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करने वाले ज्योतिष, मन्त्रवाद आदि को देखकर, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए धर्म को छोड़कर, मिथ्यादेवों को, मिथ्याआगम को और खोटा तप करने वाले कुलिंगियों को भय-वांछा-स्नेह और लोभ से धर्म के लिए प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना, सो समयमूढ़ता है। इन उक्त तीन मूढ़ताओं को सरागसम्यग्दृष्टि अवस्था में त्यागना चाहिए। मन-वचन-काय-गुप्ति रूप अवस्था वाले वीतराग सम्यक्त्व के प्रकरण में अपना निरंजन तथा निर्दोष परमात्मा ही देव है ऐसी निश्चय बुद्धि ही देवमूढ़ता का अभाव जानना चाहिए तथा मिथ्यात्व राग आदि रूप मूढ़भावों का त्याग करने से जो निज शुद्ध-आत्मा में स्थिति है, वही लोकमूढ़ता से रहितता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प रूप परभावों के त्याग से तथा निर्विकार-वास्तविक-परमानन्दमय परम-समता-भाव से निज शुद्ध-आत्मा में ही जो सम्यक् प्रकार से अयन, गमन अथवा परिणमन है, उसको समयमूढ़ता का त्याग समझना चाहिए। इस प्रकार तीन मूढ़ता का व्याख्यान हुआ।

२१८. अब आठ मदों का स्वरूप कहते हैं—१. विज्ञान (कला), २. ऐश्वर्य (धन सम्पत्ति), ३. ज्ञान, ४. तप, ५. कुल, ६. बल, ७. जाति और ८. रूप, इन आठों सम्बन्धी मदों का त्याग सरागसम्यग्दृष्टियों को करना चाहिए। मान कषाय से उत्पन्न होने वाले मद मात्सर्य (ईर्ष्या) आदि समस्त विकल्प-समूह, उनके त्याग द्वारा, ममकार-अहंकार से रहित निज शुद्ध-आत्मा में भावना ही

सम्यग्दृष्टिभिस्त्याज्यमिति। वीतरागसम्यग्दृष्टीनां पुनर्मानकषायादुत्पन्नमदमात्सर्यादिसमस्तविकल्प-जालपरिहारेण ममकाराहङ्काररहिते शुद्धात्मनि भावनैव मदाष्टकत्याग इति। ममकाराहङ्कारलक्षणं कथयति। कर्मजनितदेहपुत्रकलत्रादौ ममेदमिति ममकारस्तत्रैवाभेदेन गौरस्थूलादिदेहोऽहं राजाहमित्यहङ्कार-लक्षणमिति।

२१९. अथानायतनषट्कं कथयति। मिथ्यादेवो, मिथ्यादेवाराधका, मिथ्यातपो, मिथ्यातपस्वी, मिथ्यागमो, मिथ्यागमधराः पुरुषाश्चेत्युक्तलक्षणमनायतनषट्कं सरागसम्यग्दृष्टीनां त्याज्यं भवतीति। वीतरागसम्यग्दृष्टीनां पुनः समस्तदोषायतनभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायरूपानायतनानां परिहारेण केवलज्ञानाद्यनन्तगुणायतनभूते स्वशुद्धात्मनि निवास एवानायतनसेवापरिहार इति। अनायतनशब्दस्यार्थः कथ्यते। सम्यक्त्वादिगुणानामायतनं गृहमावास आश्रय आधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते तद्विपक्षभूतमनायतनमिति।

२२०. अतः परं शङ्काद्यष्टमलत्यागं कथयति। निःशङ्काद्यष्टगुणप्रतिपालनमेव शङ्काद्यष्टमलत्यागो भण्यते। तद्यथा—रागादिदोषा अज्ञानं वाऽसत्यवचनकारणं तदुभयमपि वीतरागसर्वज्ञानां नास्ति ततः कारणात्तत्प्रणीते हेयोपादेयतत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भव्यैः शङ्का संशयः सन्देहो न कर्त्तव्यः। तत्र शङ्कादिदोषपरिहारविषये पुनरञ्जनचौरकथा प्रसिद्धा। तत्रैव विभीषणकथा। तथाहि—सीताहरणप्रघट्टके

वीतराग सम्यग्दृष्टियों के आठ मदों का त्याग है। ममकार तथा अहंकार का लक्षण कहते हैं—कर्मजनित देह, पुत्र-स्त्री आदि में ''यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र है'' इस प्रकार की जो बुद्धि है वह ममकार है और उन शरीर आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर जो ''मैं गोरा हूँ, मोटा हूँ, राजा हूँ'' इस प्रकार मानना सो अहंकार का लक्षण है।

२१९. अब छह अनायतनों का कथन करते हैं—१. मिथ्यादेव, २. मिथ्यादेवों के सेवक, ३. मिथ्यातप, ४. मिथ्यातपस्वी, ५. मिथ्याशास्त्र और ६. मिथ्याशास्त्रों के धारक इस प्रकार के छह अनायतन सरागसम्यग्दृष्टियों को त्याग करने चाहिए। वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों के तो सम्पूर्ण दोषों के स्थानभूत मिथ्यात्व-विषय-कषायरूप आयतनों के त्यागपूर्वक, केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के स्थानभूत निज शुद्ध-आत्मा में निवास ही, अनायतनों की सेवा का त्याग है। अनायतन शब्द के अर्थ को कहते हैं—सम्यक्त्व आदि गुणों का आयतन घर-आवास-आश्रय (आधार) करने का निमित्त, उसको 'आयतन' कहते हैं और उससे विपरीत 'अनायतन' है।

२२०. अब इसके अनन्तर शंका आदि आठ दोषों के त्याग का कथन करते हैं—निःशंक आदि आठ गुणों का जो पालन करना है, वही शंकादि आठ दोषों का त्याग कहलाता है। वह इस प्रकार है—राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों असत्य बोलने में कारण हैं और ये दोनों ही वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव में नहीं हैं; इस कारण श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा निरूपित हेयोपादेयतत्त्व में (यह त्याज्य है, यह ग्राह्य है, मोक्ष में और मोक्षमार्ग में भव्यजीवों को शंका, संशय या संदेह नहीं करना चाहिए। यहाँ शंका दोष के त्याग के विषय में अंजनचोर की कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है, विभीषण की कथा भी इस प्रकरण

रावणस्य रामलक्ष्मणाभ्यां सह संग्रामप्रस्तावे विभीषणेन विचारितं रामस्तावदष्टमबलदेवो लक्ष्मणश्चाष्टमो वासुदेवो रावणश्चाष्टमः प्रतिवासुदेव इति। तस्य च प्रतिवासुदेवस्य वासुदेवहस्तेन मरणमिति जैनागमे पठतिमास्ते तन्मिथ्या न भवतीति निःशङ्को भूत्वा त्रैलोक्यकण्टकं रावणं स्वकीयज्येष्ठभ्रातरं त्यक्त्वा त्रिंशदक्षौहिणीप्रमितचतुरङ्गबलेन सह स रामस्वामिपार्श्वे गत इति। तथैव देवकीवसुदेवद्वयं निःशङ्कं ज्ञातव्यम्। तथाहि—यदा देवकीबालकस्य मारणनिमित्तं कंसेन प्रार्थना कृता तदा ताभ्यां पर्यालोचितं मदीयः पुत्रो नवमो वासुदेवो भविष्यति तस्य हस्तेन जरासिन्धुनाम्नो नवमप्रतिवासुदेवस्य कंसस्यापि मरणं भविष्यतीति जैनागमे भणितं तिष्ठतीति, तथैवातिमुक्तभट्टारकैरपि कथितमिति निश्चित्य कंसाय स्वकीयं बालकं दत्तम्। तथा शेषभव्यैरपि जिनागमे शङ्का न कर्त्तव्येति। इदं व्यवहारेण सम्यक्त्वस्य व्याख्यानम्। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिःशङ्कागुणस्य सहकारित्वेनेहपरलोकात्राणागुप्तिमरणव्याधिवेदना-कस्मिकाभिधानभयसप्तकं मुक्त्वा घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चय-रत्नत्रयभावनैव निःशङ्कगुणो ज्ञातव्य इति।

२२१. अथ निष्काङ्क्षितगुणं कथयति। इहलोकपरलोकाशारूपभोगाकाङ्क्षानिदानत्यागेन केवल-ज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपमोक्षार्थं ज्ञानपूजातपश्चरणाद्यनुष्ठानकरणं निष्काङ्क्षा गुणो भण्यते। तथानन्तमती-

---

में प्रसिद्ध है तथा-सीता हरण के प्रसंग में जब रावण का राम-लक्ष्मण के साथ युद्ध करने का अवसर आया, तब विभीषण ने विचार किया कि रामचन्द्र तो आठवें बलदेव हैं और लक्ष्मण आठवें नारायण हैं तथा रावण आठवाँ प्रतिनारायण है। प्रतिनारायण का मरण नारायण के हाथ से होता है, ऐसा जैन शास्त्रों में कहा गया है, वह मिथ्या नहीं हो सकता, इस प्रकार निःशंक होकर अपने बड़े भाई तीन लोक के कंटक 'रावण' को छोड़कर, अपनी तीस अक्षौहिणी चतुरंग (हाथी, घोड़ा, रथ, पयादे) सेना सहित रामचन्द्र के समीप चला गया। इसी प्रकार देवकी तथा वसुदेव भी निःशंक जानने चाहिए। जब कंस ने देवकी के बालक को मारने के लिए प्रार्थना की, तब देवकी और वसुदेव ने विचार किया कि हमारा पुत्र नवमा नारायण होगा और उसके हाथ से जरासिंधु नामक नवमें प्रतिनारायण का और कंस का भी मरण होगा; यह जैनागम में कहा है और श्री भट्टारक अतिमुक्त स्वामी ने भी ऐसा ही कहा है, इस प्रकार निश्चय करके कंस को अपना बालक देना स्वीकार किया। इसी प्रकार अन्य भव्य जीवों को भी जैन-आगम में शंका नहीं करनी चाहिए। यह व्यवहारनय से निःशंकित अंग का व्याख्यान किया। निश्चयनय से उस व्यवहार निःशंक गुण की सहायता से, १. इहलोक का भय, २. परलोक का भय, ३. अरक्षा का भय, ४. अगुप्ति (रक्षा स्थान के अभाव का) भय, ५. मरण भय, ६. व्याधि-वेदना भय, ७. आकस्मिक भय। इन सात भयों को छोड़कर घोर उपसर्ग तथा परीषहों के आ जाने पर भी, शुद्ध उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना को ही निःशंकित गुण जानना चाहिए ॥१॥

२२१. अब निष्कांक्षित गुण का कथन करते हैं—इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी आशारूप भोगाकांक्षानिदान के त्याग द्वारा केवलज्ञान आदि अनन्तगुणों की प्रकटतारूप मोक्ष के लिए दान-पूजा-तपश्चरण आदि करना, निष्कांक्षित गुण कहलाता है। इस गुण में अनन्तमती की कथा प्रसिद्ध

कन्याकथा प्रसिद्धा। द्वितीया च सीतामहादेवीकथा। सा कथ्यते। सीता यदा लोकापवादपरिहारार्थं दिव्ये शुद्धा जाता तदा रामस्वामिना दत्तं पट्टमहादेवीविभूतिपदं त्यक्त्वा सकलभूषणानगारकेवलिपादमूले कृतान्तवक्रादिराजभिस्तथा बहुराज्ञीभिश्च सह जिनदीक्षां गृहीत्वा शशिप्रभाधार्मिकासमुदायेन सह ग्रामपुरखेटकादिविहारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनया द्विषष्टिवर्षाणि जिनसमयप्रभावनां कृत्वा पश्चादवसाने त्रयस्त्रिंशद्दिवसपर्यन्तं निर्विकारपरमात्मभावनासहितं संन्यासं कृत्वाऽच्युताभिधानषोडशस्वर्गे प्रतीन्द्रतां याता। ततश्च निर्मलसम्यक्त्वफलं दृष्ट्वां धर्मानुरागेण नरके रावणलक्ष्मणयोः संबोधनं कृत्वेदानीं स्वर्गे तिष्ठति। अग्रे स्वर्गादागत्य सकलचक्रवर्ती भविष्यति। तौ च रावणलक्ष्मीधरौ तस्य पुत्रौ भविष्यतः। ततश्च तीर्थंकरपादमूले पूर्वभवान्तरं दृष्ट्वा पुत्रद्वयेन सह परिवारेण च सह जिनदीक्षां गृहीत्वा भेदाभेद-रत्नत्रयभावनया पञ्चानुत्तरविमाने त्रयोऽप्यहमिन्द्रा भविष्यन्ति। तस्मादागत्य रावणस्तीर्थकरो भविष्यति, सीता च गणधर इति, लक्ष्मीधरो धातकीखण्डद्वीपे तीर्थकरो भविष्यति। इति व्यवहारनिष्कांक्षितागुणो विज्ञातव्यः। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिष्काङ्क्षागुणस्य सहकारित्वेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रिय-भोगत्यागेन निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपारमार्थिकस्वात्मोत्थसुखामृतरसे चित्तसन्तोषः स एव निष्काङ्क्षा गुण इति ॥२॥

है। दूसरी सीता देवी की कथा है। उसे कहते हैं—लोक की निन्दा को दूर करने के लिए सीता अग्निकुण्ड में प्रवेश होकर जब निर्दोष सिद्ध हुई, तब श्री रामचन्द्र द्वारा दिये गए पट्ट महारानी पद को छोड़कर, केवलज्ञानी श्री सकलभूषण मुनि के पादमूल में, कृतान्तवक्र आदि राजाओं तथा बहुत सी रानियों के साथ, जिनदीक्षा ग्रहण करके शशिप्रभा आदि आर्यिकाओं के समूह सहित ग्राम, पुर, खेटक आदि में विहार द्वारा भेदाभेदरूप रत्नत्रय की भावना से बासठ वर्ष तक जिनमत की प्रभावना करके, अन्त समय में तैंतीस दिन तक निर्विकार परमात्मा के ध्यानपूर्वक समाधि-मरण करके अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई। वहाँ निर्मल सम्यग्दर्शन के फल को देखकर धर्म के अनुराग से नरक में जाकर सीता ने रावण और लक्ष्मण को सम्बोधा। सीता अब स्वर्ग में है। आगे सीता का जीव स्वर्ग से आकर सकल चक्रवर्ती होगा और वे दोनों रावण तथा लक्ष्मण के जीव उसके पुत्र होंगे। पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल में अपने पूर्वभवों को देखकर, परिवार सहित दोनों पुत्र तथा सीता के जीव जिनदीक्षा ग्रहण करके, भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से, वे तीनों पंच-अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र होंगे। वहाँ से आकर रावण तीर्थंकर होगा और सीता का जीव गणधर होगा। लक्ष्मण धातकीखण्ड द्वीप में तीर्थंकर होंगे। इस प्रकार व्यवहार निष्कांक्षितगुण का स्वरूप जानना चाहिए। उसी व्यवहार निष्कांक्षा गुण की सहायता से देखे-सुने-अनुभव किये हुए पाँचों इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगों के त्याग से तथा निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न हुए पारमार्थिक व निज-आत्मिक सुखरूपी अमृत रस में चित्त का संतोष होना, वही निश्चय से निष्कांक्षागुण है ॥२॥

२२२. अथ निर्विचिकित्सागुणं कथयति। भेदाभेदरत्नत्रयाराधकभव्यजीवानां दुर्गन्धबीभत्सादिकं दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या कारुण्यभावेन वा यथायोग्यं विचिकित्सापरिहरणं द्रव्यनिर्विचिकित्सागुणो भण्यते। यत्पुनर्जैनसमये सर्वं समीचीनं परं किन्तु [१]वस्त्राप्रावरणं जलस्नानादिकं च न कुर्वन्ति तदेव दूषणमित्यादि-कुत्सितभावस्य विशिष्टविवेकबलेन परिहरणं सा भावनिर्विचिकित्सा भण्यते। अस्य व्यवहार-निर्विचिकित्सागुणस्य विषय उद्दायनमहाराजकथा रुक्मिणीमहादेवीकथा चागमप्रसिद्धा ज्ञातव्येति। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्परूपकल्लोलमालात्यागेन निर्मलात्मानुभूतिलक्षणे निजशुद्धात्मनि व्यवस्थानं निर्विचिकित्सागुण इति ॥३॥

२२३. इतः परममूढदृष्टिगुणं कथयति। वीतरागसर्वज्ञप्रणीतागमार्थाद्बहिर्भूतैः कुदृष्टिभिर्यत्प्रणीतं धातुवादखन्यवादहरमेखलक्षुद्रविद्याव्यन्तरविकुर्वणादिकमज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं दृष्ट्वा श्रुत्वा च योऽसौ मूढभावेन धर्मबुद्ध्या तत्र रुचिं भक्तिं न कुरुते स एव व्यवहारोऽमूढदृष्टिरुच्यते। तत्र चोत्तरमथुरायां उदुरुलिभट्टारकरेवतीश्राविकाचन्द्रप्रभनामविद्याधरब्रह्मचारिसंबंधिनी कथा प्रसिद्धेति। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारामूढदृष्टिगुणस्य प्रसादेनान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वनिश्चये जाते सति समस्तमिथ्यात्वरागादिशुभाशुभ-सङ्कल्पविकल्पेष्टात्मबुद्धिमुपादेयबुद्धिहितबुद्धिममत्वभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिरूपेण विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे

---

२२२. अब निर्विचिकित्सा गुण कहते हैं। भेद-अभेदरूप रत्नत्रय के आराधक भव्य जीवों की दुर्गन्ध तथा बुरी आकृति आदि देखकर धर्मबुद्धि से अथवा करुणाभाव से यथायोग्य विचिकित्सा (ग्लानि) को दूर करना द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण है। जैन मत में सब अच्छी-अच्छी बातें हैं, परन्तु वस्त्र के आवरण से रहितता अर्थात् नग्नपना और जलस्नान आदि का न करना यही दूषण है, इत्यादि बुरे भावों को विशेष ज्ञान के बल से दूर करना वह भाव-निर्विचिकित्सा कहलाती है। इस व्यवहार निर्विचिकित्सा गुण को पालने के विषय में उद्दायन राजा तथा रुक्मिणी (कृष्ण की पटरानी) की कथा शास्त्र में प्रसिद्ध जाननी चाहिए। इसी व्यवहार निर्विचिकित्सा गुण के बल से समस्त राग-द्वेष आदि विकल्परूप तरंगों का त्याग करके, निर्मल आत्मानुभव रूप निजशुद्ध-आत्मा में जो स्थिति है वही निश्चय निर्विचिकित्सा गुण है ॥३॥

२२३. अब अमूढ़दृष्टि गुण कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञदेव-कथित शास्त्र से बहिर्भूत कुदृष्टियों के द्वारा बनाये हुए तथा अज्ञानियों के चित्त में विस्मय उत्पन्न करने वाले रसायनशास्त्र, खन्यवाद (खानिविद्या), हरमेखल, क्षुद्रविद्या, व्यन्तर विकुर्वणादि शास्त्रों को देखकर तथा सुनकर, जो कोई मूढ़भाव द्वारा धर्म-बुद्धि से उनमें प्रतीति तथा भक्ति नहीं करता, उसी को व्यवहार से 'अमूढ़दृष्टि' कहते हैं। इस विषय में, उत्तर मथुरा में उदुरुलि भट्टारक तथा रेवती श्राविका और चन्द्रप्रभ नामक विद्याधर ब्रह्मचारी सम्बन्धी कथायें शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इसी व्यवहार अमूढ़दृष्टि गुण के प्रसाद से आत्म-तत्त्व और शरीरादिक बहिर्तत्त्व का निश्चय हो जाने पर सम्पूर्ण मिथ्यात्व-राग आदि तथा शुभ-

---

१. वस्त्रप्रावरणं इत्यपि पाठः

निजात्मनि यन्निश्चलावस्थानं तदेवामूढदृष्टित्वमिति। सङ्कल्पविकल्पलक्षणं कथ्यते। पुत्रकलत्रादौ बहिर्द्रव्ये ममेदमिति कल्पना सङ्कल्पः, अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहमिति हर्षविषादकारणं विकल्प इति। अथवा वस्तुवृत्त्या सङ्कल्प इति कोऽर्थो विकल्प इति तस्यैव पर्यायः ॥४॥

२२४. अथोपगूहनगुणं कथयति। भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपो मोक्षमार्गः स्वभावेन शुद्ध एव तावत्, तत्राज्ञानिजननिमित्तेन तथैवाशक्तजननिमित्तेन च धर्मस्य पैशून्यं दूषणमपवादो दुष्प्रभावना यदा भवति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्याऽर्थेन धर्मोपदेशेन वा यद्धर्मार्थं दोषस्य झम्पनं निवारणं क्रियते तद्व्यवहार-नयेनोपगूहनं भण्यते। तत्र मायाब्रह्मचारिणा पार्श्वभट्टारकप्रतिमालग्नरत्नहरणे कृते सत्युपगूहनविषये जिनदत्तश्रेष्ठिकथा प्रसिद्धेति। अथवा रुद्रजनन्या ज्येष्ठासंज्ञाया लोकापवादे जाते सति यद्दोषझम्पनं कृतं तत्र चेलिनीमहादेवीकथेति। तथैव निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारोपगूहनगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरंजन-निर्दोषपरमात्मनः प्रच्छादका ये मिथ्यात्वरागादिदोषास्तेषां तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यक् श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानरूपं यद्ध्यानं तेन प्रच्छादनं विनाशनं गोपनं झम्पनं तदेवोपगूहनमिति ॥५॥

२२५. अथ स्थितीकरणं कथयति। भेदाभेदरत्नत्रयधारकस्य चातुर्वर्ण्यसङ्घस्य मध्ये यदा कोऽपि

अशुभ संकल्प-विकल्पों से इष्टबुद्धि-आत्मबुद्धि-उपादेयबुद्धि-हितबुद्धि और ममत्वभाव को छोड़कर, मन-वचन-काय-गुप्ति के द्वारा विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावमयी निज आत्मा में निश्चल ठहरना, निश्चय अमूढ़दृष्टि गुण है। संकल्प-विकल्प के लक्षण कहते हैं—पुत्र, स्त्री आदि बाह्य पदार्थों में 'ये मेरे हैं' ऐसी कल्पना, संकल्प है। अंतरंग में ''मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ'' इस प्रकार हर्ष-विषाद करना, विकल्प है। अथवा संकल्प का वास्तव में क्या अर्थ है? वह विकल्प ही है अर्थात् संकल्प, विकल्प की ही पर्याय है ॥४॥

२२४. अब उपगूहन गुण का कथन करते हैं। भेद-अभेद रत्नत्रय की भावनारूप मोक्षमार्ग स्वभाव से ही शुद्ध है तथापि उसमें जब कभी अज्ञानी मनुष्य के निमित्त से अथवा धर्म-पालन में असमर्थ पुरुषों के निमित्त से जो धर्म की चुगली, निन्दा, दूषण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्र के अनुकूल, शक्ति के अनुसार, धन से अथवा धर्मोपदेश से, धर्म के लिए जो उसके दोषों का ढकना तथा दूर करना है, उसको व्यवहारनय से उपगूहन गुण कहते हैं। इस विषय में कथा है—एक कपटी ब्रह्मचारी ने पार्श्वनाथस्वामी की प्रतिमा में लगे हुए रत्न को चुराया। तब जिनदत्त सेठ ने जो उपगूहन किया, वह कथा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। अथवा रुद्र की ज्येष्ठा नामक माता की लोकनिन्दा होने पर, उसके दोष ढकने में चेलिनी महारानी की कथा शास्त्रप्रसिद्ध है। इस प्रकार व्यवहार उपगूहन गुण की सहायता से अपने निरंजन निर्दोष परमात्मा को आच्छादन करने वाले मिथ्यात्व-राग आदि दोषों को, उसी परमात्मा में सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप ध्यान के द्वारा ढकना, नाश करना, छिपाना तथा झम्पना वही निश्चय से उपगूहन है ॥५॥

२२५. अब स्थितिकरण गुण कहते हैं। भेद-अभेद रत्नत्रय के धारक (मुनि, आर्यिका, श्रावक,

दर्शनचारित्रमोहोदयेन दर्शनं ज्ञानं चारित्रं वा परित्यक्तुं वाञ्छति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्या धर्मश्रवणेन वा अर्थेन वा सामर्थ्येन वा केनाप्युपायेन यद्धर्मे स्थिरत्वं क्रियते तद्व्यवहारेण स्थितीकरणमिति। तत्र च पुष्पडालतपोधनस्य स्थिरीकरणप्रस्तावे वारिषेणकुमारकथागमप्रसिद्धेति। निश्चयेन पुनस्तेनैव व्यवहारेण स्थितीकरणगुणेन धर्मदृढत्वे जाते सति दर्शनचारित्रमोहोदयजनितसमस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पजाल-त्यागेन निजपरमात्मस्वभावभावनोत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन तल्लयतन्मयपरमसमरसी-भावेन चित्तस्थितीकरणमेव स्थितीकरणमिति ॥६॥

२२६. अथ वात्सल्याभिधानं सप्तमाङ्गं प्रतिपादयति। बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयाधारे चतुर्विधसङ्घे वत्से धेनुवत् पञ्चेन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रसुवर्णादिस्नेहवद्वा यदकृत्रिमस्नेहकरणं तद्व्यवहारेण वात्सल्यं भण्यते। तत्र च हस्तिनागपुराधिपतिपद्मराजसंबन्धिना बलिनामदुष्टमन्त्रिणा निश्चयव्यवहार-रत्नत्रयाराधकाकम्पनाचार्यप्रभृतिसप्तशतयतीनामुपसर्गे क्रियमाणे सति विष्णुकुमारनाम्ना निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गाराधक परमयतिना विकुर्वणर्द्धिप्रभावेण वामनरूपं कृत्वा बलिमंत्रिपार्श्वे पादत्रयप्रमाण-भूमिप्रार्थनं कृत्वा पश्चादेकः पादो मेरुमस्तके दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरपर्वते तृतीयपादस्यावकाशो नास्तीति वचनच्छलेन मुनिवात्सल्यनिमित्तं बलिमंत्री बद्ध इत्येका तावदागमप्रसिद्धा कथा। द्वितीया च

श्राविका) चार प्रकार के संघ में से यदि कोई दर्शनमोहनीय के उदय से दर्शन-ज्ञान को या चारित्रमोहनीय के उदय से चारित्र को छोड़ने की इच्छा करे तो यथाशक्ति शास्त्रानुकूल धर्मोपदेश से, धन से या सामर्थ्य से या अन्य किसी उपाय से उसको धर्म में स्थिर कर देना, वह व्यवहार से स्थितिकरण है। पुष्पडाल मुनि को धर्म में स्थिर करने के प्रसंग में वारिषेण की कथा आगम-प्रसिद्ध है। उसी व्यवहार स्थितिकरण गुण से धर्म में दृढ़ता होने पर दर्शन-चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न समस्त मिथ्यात्व-राग आदि विकल्पों के त्याग द्वारा निज-परमात्म-स्वभाव भाव की भावना से उत्पन्न परम-आनन्द सुखामृत के आस्वादरूप परमात्मा में लीन अथवा परमात्मस्वरूप में समरसी भाव से चित्त का स्थिर करना, निश्चय से स्थितिकरण है ॥६॥

२२६. अब वात्सल्य नामक सप्तम अंग का प्रतिपादन करते हैं। गाय-बछड़े की प्रीति के सदृश अथवा पाँचों इन्द्रियों के विषयों के निमित्तभूत पुत्र, स्त्री, सुवर्ण आदि में स्नेह की भाँति, बाह्य-आभ्यंतर रत्नत्रय के धारक चारों प्रकार के संघ में स्वाभाविक स्नेह करना, वह व्यवहारनय से वात्सल्य कहा जाता है। हस्तिनागपुर के राजा पद्मराज के बलि नामक दुष्ट मन्त्री ने जब निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के आराधक श्री अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर उपसर्ग किया तब निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के आराधक विष्णुकुमार महामुनीश्वर ने विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामन रूप को धारण करके बलि नामक दुष्ट मंत्री के पास से तीन पग प्रमाण पृथ्वी की याचना की और जब बलि ने देना स्वीकार किया, तब एक पग तो मेरु के शिखर पर दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर दिया और तीसरे पाद को रखने के लिए स्थान नहीं रहा तब वचनछल से मुनियों के वात्सल्य निमित्त

दशपुरनगराधिपतेर्वज्रकर्णनाम्नः। उज्जयिनीनगराधिपतिना सिंहोदरमहाराजेन जैनोऽयं मम नमस्कारं न करोतीति मत्वा दशपुरनगरं परिवेष्ट्य घोरोपसर्गे क्रियमाणे भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियेण रामस्वामिना वज्रकर्णवात्सल्यनिमित्तं सिंहोदरो बद्ध इति रामायणमध्ये प्रसिद्धेयं वात्सल्यकथेति। निश्चयवात्सल्यं पुनस्तस्यैव व्यवहारवात्सल्यगुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्वरागादिसमस्त-शुभाशुभबहिर्भावेषु प्रीतिं त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमस्वास्थ्यसंवित्तिसञ्जातसदानन्दैक-लक्षणसुखामृतरसास्वादं प्रति प्रीतिकरणमेवेति सप्तमाङ्गं व्याख्यातम् ॥७॥

२२७. अथाष्टमाङ्गं नाम प्रभावनागुणं कथयति। श्रावकेन दानपूजादिना तपोधनेन च तपःश्रुतादिना जैनशासनप्रभावना कर्त्तव्येति व्यवहारेण प्रभावनागुणो ज्ञातव्यः। तत्र पुनरुत्तरमथुरायां जिनसमयप्रभावन-शीलाया उर्विल्लामहादेव्याः प्रभावननिमित्तमुपसर्गे जाते सति वज्रकुमारनाम्ना विद्याधरश्रमणेनाकाशे जैनरथभ्रमणेन प्रभावना कृतेत्येका आगमप्रसिद्धा कथा। द्वितीया तु जिनसमयप्रभावनाशीलवप्रामहादेवी-नामस्वकीयजनन्या निमित्तं स्वस्य धर्मानुरागेण च हरिषेणनामदशमचक्रवर्तिना तद्भवमोक्षगामिना जिन समयप्रभावनार्थमुत्तुङ्गतोरणजिनचैत्यालयमण्डितं सर्वभूमितलं कृतिमिति रामायणे प्रसिद्धेयं कथा। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारप्रभावनागुणस्य बलेन मिथ्यात्वविषयकषायप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामरूपपर-

---

बलि मन्त्री को बाँध लिया। इस विषय में यह एक आगम-प्रसिद्ध कथा है। दशपुर नगर के वज्रकर्ण नामक राजा की दूसरी कथा इस प्रकार है—उज्जयिनी के राजा सिंहोदर ने ''वज्रकर्ण जैन है और मुझको नमस्कार नहीं करता है'', ऐसा विचार करके, वज्रकर्ण से नमस्कार कराने के लिए दशपुर नगर को घेर कर घोर उपसर्ग किया। तब भेदाभेद रत्नत्रय भावना के प्रेमी श्री रामचन्द्र ने वज्रकर्ण से वात्सल्य के लिए सिंहोदर को बाँध लिया। यह वात्सल्य सम्बन्धी कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है। इसी व्यवहार-वात्सल्य गुण के सहकारीपने से धर्म में दृढ़ता हो जाने पर मिथ्यात्व, राग आदि समस्त शुभ-अशुभ बाह्य पदार्थों में प्रीति छोड़कर रागादि विकल्पों की उपाधि रहित परम स्वास्थ्य के अनुभव से उत्पन्न सदा आनन्दरूप सुखमय-अमृत के आस्वाद के प्रति प्रीति का करना ही निश्चय वात्सल्य है। इस प्रकार सप्तम वात्सल्य अंग का व्याख्यान हुआ ॥७॥

२२७. अब अष्टम प्रभावनागुण कहते हैं। श्रावक को तो दान पूजा आदि द्वारा और मुनि को तप, श्रुत आदि से जैनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए। यह व्यवहार से प्रभावना गुण जानना चाहिए। इस गुण के पालने में, उत्तर मथुरा में जिनमत की प्रभावना करने की अनुरागिणी उर्विला महादेवी को प्रभावना सम्बन्धी उपसर्ग होने पर, वज्रकुमार नामक विद्याधर श्रमण ने आकाश में जैन रथ को फिराकर प्रभावना की, यह एक आगम प्रसिद्ध कथा है। दूसरी कथा यह है—उसी भव से मोक्ष जाने वाले हरिषेण नामक दसवें चक्रवर्ती ने जिनमत को प्रभावनाशील अपनी माता वप्रा महादेवी के निमित्त और अपने धर्मानुराग से जिनमत की प्रभावना के लिए ऊँचे तोरण वाले जिनमन्दिरों से समस्त पृथ्वीतल को भूषित कर दिया। यह कथा रामायण (पद्मपुराण) में प्रसिद्ध है। इसी व्यवहार प्रभावना

समयानां प्रभावं हत्वा शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मनः प्रकाशन-मनुभवनमेव प्रभावनेति ॥८॥

२२८. एवमुक्तप्रकारेण मूढत्रयमदाष्टकषडानायतनशङ्काद्यष्टमलरहितं शुद्धजीवादितत्त्वार्थश्रद्धान-लक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं विज्ञेयम्। तथैव तेनैव व्यवहारसम्यक्त्वेन पारम्पर्येण साध्यं शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादनमेवोपदेयमिन्द्रिय-सुखादिकं च हेयमिति रुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यमिति। अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमिति चेत्? व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चय-सम्यक्त्वं साध्यत इति साध्यसाधकभावज्ञापनार्थमिति॥

२२९. इदानीं येषां जीवानां सम्यग्दर्शनग्रहणात्पूर्वमायुर्बन्धो नास्ति तेषां व्रताभावेऽपि नरनारकादि-कुत्सितस्थानेषु जन्म न भवतीति कथयति।

''सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यग्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुल-विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः। १।''

गुण के बल से मिथ्यात्व-विषय-कषाय आदि सम्पूर्ण विभाव परिणामरूप पर समय के प्रभाव को नष्ट करके शुद्धोपयोग लक्षण वाले स्वसंवेदन ज्ञान से, निर्मल ज्ञानदर्शनरूप स्वभाव-वाली निज शुद्ध-आत्मा का जो प्रकाशन अथवा अनुभवन, वह निश्चय प्रभावना है ॥८॥

२२८. इस प्रकार तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि रूप आठ दोषों से रहित तथा शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थों के श्रद्धानरूप सराग-सम्यक्त्व नामक व्यवहार-सम्यक् जानना चाहिए। इसी प्रकार उसी व्यवहार-सम्यक्त्व द्वारा परम्परा से साधने योग्य, शुद्ध-उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद रूप सुखामृत रस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुख आदिक हेय हैं, ऐसी रुचिरूप तथा वीतराग चारित्र का अविनाभावी वीतराग-सम्यक्त्व नामक निश्चय-सम्यक्त्व जानना चाहिए। **प्रश्न**—यहाँ इस व्यवहारसम्यक्त्व के व्याख्यान में निश्चय-सम्यक्त्व का वर्णन क्यों किया गया? **उत्तर**—व्यवहारसम्यक्त्व से निश्चयसम्यक्त्व साधा (सिद्ध किया) जाता है, (व्यवहारसम्यक्त्व साधक और निश्चयसम्यक्त्व साध्य) इस साध्यसाधक भाव को बतलाने के लिए किया गया है।

२२९. अब जिन जीवों के सम्यग्दर्शन ग्रहण होने से पहले आयु का बन्ध नहीं हुआ है, व्रत के अभाव में भी निन्दनीय नर नारक आदि खोटे स्थानों में उनका जन्म नहीं होता, ऐसा कथन करते हैं। जिनके शुद्ध सम्यग्दर्शन है किन्तु अव्रती हैं वे भी नरकगति, तिर्यंचगति, नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अंगहीन-शरीर, अल्प-आयु और दरिद्रीपने को प्राप्त नहीं होते।[१]

---

१. निकायत्रियते पूर्वे श्वभ्रभूमिषु षट्स्वधः। वनितासु समस्तासु सम्यग्दृष्टिर्न जायते ॥२९८॥

इतः परं मनुष्यगतिसमुत्पन्नसम्यग्दृष्टेः प्रभावं कथयति।

"ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
उत्तमकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः।१।"

अथ देवगतौ पुनः प्रकीर्णकदेववाहनदेवकिल्विषदेवनीचदेवत्रयं विहायान्येषु महर्द्धिकदेवेषूत्पद्यते सम्यग्दृष्टिः। इदानीं सम्यक्त्वग्रहणात्पूर्वं देवायुष्कं विहाय ये बद्धायुष्कास्तान् प्रति सम्यक्त्वमाहात्म्यं कथयति।

"हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे। १।"

तमेवार्थं प्रकारान्तरेण कथयति

"ज्योतिर्भावनभौमेषु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु।
तिर्यक्षु नृसुरस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते।१।"

अथौपशमिकवेदकक्षायिकाभिधानसम्यक्त्वत्रयमध्ये कस्यां गतौ कस्य सम्यक्त्वस्य सम्भवोऽस्तीति कथयति—

"सौधर्मादिष्वसंख्याब्दायुष्कतिर्यक्षु नृष्वपि।
रत्नप्रभावनौ च स्यात्सम्यक्त्वत्रयमङ्गिनाम्।१।"

इसके आगे मनुष्य गति में उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि जीवों का वर्णन करते हैं—जो दर्शन से पवित्र हैं वे उत्साह, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और विभव से सहित उत्तम कुल वाले, विपुल धनशाली तथा मनुष्य शिरोमणि होते हैं। [1]प्रकीर्णकदेव, वाहनदेव,[2]किल्विषदेव तथा व्यन्तर-भवनवासी-ज्योतिषी तीन नीच देवों के अतिरिक्त महाऋद्धि धारक देवों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं।[3] जिन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण से पूर्व देव आयु को छोड़कर अन्य आयु बाँध ली है, अब उनके प्रति सम्यक्त्व का माहात्म्य कहते हैं—नीचे के ६ नरकों में ज्योतिषी-व्यन्तर-भवनवासी देवों में, सब स्त्रियों में और लब्ध्यपर्याप्तकों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता। नरक अपर्याप्तकों में सासादन सम्यग्दृष्टि नहीं होते।

इसी आशय को अन्य प्रकार से कहते हैं—ज्योतिषी, भवनवासी और व्यन्तर देवों में, नीचे की ६ नरक-पृथिवियों में, तिर्यञ्चों (कर्मभूमि तिर्यञ्च, भोगभूमि तिर्यञ्चनियों में, मनुष्यनियों में तथा देवांगनाओं में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते ॥१॥

औपशमिक, वेदक और क्षायिक नामक तीन सम्यक्त्वों में से किस गति में कौन-सा सम्यक्त्व

---

१. नृभोगभूमितिर्यक्षु सौधर्मादिषु नारकिषु। आद्यानां श्वभ्रभूमौ च सम्यक्त्वत्रयमिष्यते ॥३००॥ पंचसंग्रह (अमितगति) प्रथम परिच्छेद।

२. रत्नकरण्डक श्रावकाचार ३५, २. रत्नकरण्डक श्रावकाचार ३६ ३. अर्थात् आभियोग्य देव।

३. धवल १/३२९, पंचसंग्रह प्राकृत १/१९३, गोम्मटसार जीवकाण्ड १३८, १२९ आदि भी द्रष्टव्य हैं।

कर्मभूमिजपुरुषे च त्रयं सम्भवति बद्धायुष्के लब्धायुष्केऽपि। किन्त्वौपशमिकमपर्याप्तावस्थायां महर्द्धिकदेवेष्वेव।

"शेषेषु देवतिर्यक्षु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु।
द्वौ वेदकोपशमकौ स्यातां पर्याप्तदेहिनाम्।१।"

इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावयविनः प्रथमावयवभूतस्य सम्यक्त्वस्य व्याख्यानेन गाथा गता॥४१॥

२३०. अथ रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गद्वितीयावयवरूपस्य सम्यग्ज्ञानस्य स्वरूपं प्रतिपादयति–

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु॥४२॥

विमोह-विभ्रम जहाँ नहीं है संशय से जो दूर रहा।
निज को निज ही, पर को पर ही जान रहा, ना भूल रहा॥
समीचीन बस 'ज्ञान' वही है बहुविध हो साकार रहा।
मन-वच-तन से गुणीजनों का जिसके प्रति सत्कार रहा॥४२॥

हो सकता है, सो कहते हैं—सौधर्म आदि स्वर्गों में, असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्चों में एवं मनुष्यों में और रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में (उपशम, वेदक, क्षायिक) तीनों सम्यक्त्व होते हैं॥२॥

जिसने आयु बाँध ली है या नहीं बाँधी ऐसे कर्मभूमि-मनुष्यों के तीनों सम्यक्त्व होते हैं। परन्तु अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व महर्द्धिक देवों में ही होता है।[1] शेष देवों व तिर्यञ्चों में और नीचे की छह नरकभूमियों में पर्याप्त जीवों के वेदक और उपशम ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं॥३॥ इस प्रकार निश्चय-व्यवहार रूप रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग अवयवी का प्रथम अवयवभूत सम्यग्दर्शन का व्याख्यान करने वाली गाथा समाप्त हुई॥४१॥

२३०. अब रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग के द्वितीय अवयव रूप सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(संसयविमोहविब्भम-विवज्जियं) संशय—अनेक कोटि को स्पर्श करने वाला संदेहात्मक ज्ञान, विपर्यय—वस्तु धर्म के विपरीत परिचय कराने वाला ज्ञान और अनध्यवसाय—पदार्थ के विषय में कुछ भी निर्णय नहीं होने रूप ज्ञान, इन तीन दोषों से रहित **(अप्पपरसरूवस्स)** अपने आत्मा के तथा पर पदार्थों के स्वरूप का **(गहणं)** ग्रहण करना **(सम्मण्णाणं)** सम्यग्ज्ञान है यह ज्ञान **(सायारं)** साकार/सविकल्प **(च)** और **(अणेयभेयं)** अनेक भेद वाला है।

---

१. शेष त्रिदशतिर्यक्षु षट्स्वद्यः श्वभ्रभूमिषु। पर्याप्तेषु इयं सेयं क्षायिकेण विनांगिषु॥ ३०१॥ पंचसंग्रह (अमितगति) प्रथम परिच्छेद

२३१. वृत्ति—संसयविमोहविब्भमविवज्जियं संशयः शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं भविष्यति परसमयप्रणीतं वेति? संशयः। तत्र दृष्टान्तः—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। विमोहः परस्परसापेक्षनयद्वयेन द्रव्यगुणपर्यायादिपरिज्ञानाभावो विमोहः। तत्र दृष्टान्तः—गच्छत्तृणस्पर्शवद्दिग्मोह-वद्वा। विभ्रमोऽनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यक्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहणं विभ्रमः। तत्र दृष्टान्तः—शुक्तिकायां रजतविज्ञानवत्। **विवज्जियं** इत्युक्तलक्षणसंशयविमोहविभ्रमैर्वर्जितं **अप्पपरस-रूवस्स गहणं** सहजशुद्ध-केवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वात्मरूपस्य ग्रहणं परिच्छेदनं परिच्छित्तिस्तथा परद्रव्यस्य च भावकर्मद्रव्य-कर्मनोकर्मरूपस्य जीवसम्बन्धिनस्तथैव पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपस्य परकीयजीवरूपस्य च परिच्छेदनं यत्तत् **सम्मण्णाणं** सम्यग्ज्ञानं भवति। तच्च कथंभूतं? **सायारं** घटोऽयं पटोऽयमित्यादिग्रहणव्यापाररूपेण साकारं सविकल्पं व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः। पुनश्च किं विशिष्टं? **अणेयभेयं तु** अनेकभेदं तु पुनरिति।

२३२. तस्य भेदाः कथ्यन्ते। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन पञ्चधा। अथवा श्रुतज्ञानाऽ-पेक्षया द्वादशाङ्गमङ्गमङ्गबाह्यं चेति द्विभेदम्। द्वादशाङ्गानां नामानि कथ्यन्ते। आचारं, सूत्रकृतं, स्थानं,

---

गाथार्थ—आत्मा का और परपदार्थों के स्वरूप का संशय, विमोह और विभ्रम रहित जानना, सम्यग्ज्ञान है। वह साकार और अनेक भेदों वाला है ॥४२॥

२३१. वृत्त्यर्थ—संसयविमोहविब्भमविवज्जियं संशय—शुद्ध आत्मतत्त्व आदि का प्रतिपादक शास्त्र ज्ञान, क्या वीतराग-सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ सत्य है या अन्य-मतियों द्वारा कहा हुआ सत्य है, यह संशय है। इसका दृष्टान्त है—स्थाणु (ठूँठ) है या मनुष्य। विमोह—परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक इन दो नयों के अनुसार द्रव्य-गुण-पर्याय आदि का नहीं जानना, विमोह है। इसका दृष्टान्त-गमन करते हुए पुरुष के पैर में तृण आदि का स्पर्श होने पर स्पष्ट ज्ञात नहीं होता क्या लगा, अथवा जंगल में दिशा का भूल जाना। विभ्रम—अनेकान्तात्मक वस्तु को ''यह नित्य ही है, यह अनित्य ही है'' ऐसे एकान्त रूप जानना, विभ्रम है। इसका दृष्टान्त-सीप में चाँदी और चाँदी में सीप का ज्ञान है। **विवज्जियं** इन पूर्वोक्त लक्षणों वाले संशय, विमोह और विभ्रम से रहित, **अप्पपरसरूवस्स गहणं** सहज शुद्ध केवलज्ञान-दर्शन स्वभाव निज आत्मस्वरूप का जानना और परद्रव्य का अर्थात् जीव सम्बन्धी भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म का एवं पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों का और परजीव के स्वरूप का जानना, सो **सम्मण्णाणं** सम्यग्ज्ञान है। वह कैसा है? **सायारं** यह घट है, यह वस्त्र है इत्यादि जानने रूप व्यापार से साकार, विकल्प सहित, व्यवसायात्मक तथा निश्चय रूप ऐसा 'साकार' का अर्थ है। और फिर कैसा है? **अणेयभेयं तु** अनेक भेदों वाला है।

२३२. उस सम्यग्ज्ञान के भेद कहे जाते हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन भेदों से वह सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का है। अथवा श्रुतज्ञान की अपेक्षा द्वादशांग और अंगबाह्य से दो प्रकार का है। उनमें द्वादश (१२) अंगों के नाम कहते हैं—१.आचारांग, २. सूत्रकृतांग,

समवायनामधेयं, व्याख्याप्रज्ञप्तिः, ज्ञातृकथा, उपासकाध्ययनं, अन्तकृतदशं, अनुत्तरोपपादिकदशं, प्रश्नव्याकरणं, विपाकसूत्रं, दृष्टिवादश्चेति। दृष्टिवादस्य च परिकर्मसूत्रप्रथमानुयोगपूर्वगतचूलिकाभेदेन पञ्चभेदाः कथ्यन्ते। तत्र चन्द्रसूर्यजम्बूद्वीपसागरव्याख्याप्रज्ञप्तिभेदेन परिकर्म पञ्चविधं भवति। सूत्रमेकभेदमेव। प्रथमानुयोगोऽप्येकभेदः। पूर्वगतं पुनरुत्पादपूर्वं, अग्रायणीयं, वीर्यानुप्रवादं, अस्तिनास्ति-प्रवादं, ज्ञानप्रवादं, सत्यप्रवादं, आत्मप्रवादं, कर्मप्रवादं, प्रत्याख्यानं, विद्यानुवादं, कल्याणनामधेयं, प्राणानुवादं, क्रियाविशालं, लोकसंज्ञं, पूर्वं चेति चतुर्दशभेदम्। जलगतस्थलगताकाशगतहरमेखलादि-मायास्वरूपशाकिन्यादिरूपपरावर्त्तनभेदेन चूलिका पञ्चविधा चेति संक्षेपेण द्वादशाङ्गव्याख्यानम्। अङ्गबाह्यं पुनः सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवं, वन्दना, प्रतिक्रमणं, वैनयिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिकम्, उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहारः, कल्पाकल्पं, महाकल्पं, पुण्डरीकं, महापुण्डरीकं, अशीतिकं चेति चतुर्दश-प्रकीर्णकसंज्ञं बोद्धव्यमिति।

२३३. अथवा, वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थङ्करभरतादिद्वादशचक्रवर्त्तिविजयादिनवबलदेवत्रिपृष्ठादिनव-वासुदेवसुग्रीवादिनवप्रतिवासुदेवसम्बन्धित्रिषष्ठिपुरुषपुराणभेदभिन्नः प्रथमानुयोगो भण्यते। उपासकाध्ययनादौ

३.स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग, ६. ज्ञातृकथांग, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तकृद्दशांग, ९. अनुत्तरोपपादिकदशांग, १०. प्रश्नव्याकरणांग, ११. विपाकसूत्रांग और १२. दृष्टिवादांग, ये द्वादश अंगों के नाम हैं। अब दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत तथा ५. चूलिका; ये पाँच भेद हैं। उनका वर्णन करते हैं—उनमें १. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्यप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, इस तरह परिकर्म पाँच प्रकार का है। सूत्र एक ही प्रकार का है। प्रथमानुयोग भी एक ही प्रकार का है। पूर्वगत—१. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीयपूर्व, ३. वीर्यानुप्रवादपूर्व, ४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ५. ज्ञानप्रवादपूर्व, ६. सत्यप्रवादपूर्व, ७. आत्मप्रवादपूर्व, ८. कर्मप्रवादपूर्व, ९. प्रत्याख्यानपूर्व, १०. विद्यानुवादपूर्व, ११. कल्याणपूर्व, १२. प्राणानुवादपूर्व, १३.क्रियाविशालपूर्व, १४. लोकबिन्दुसारपूर्व, इन भेदों से चौदह प्रकार का है। १. जलगत चूलिका, २. स्थलगत चूलिका, ३. आकाशगत चूलिका, ४. हरमेखला आदि मायास्वरूप चूलिका और ५. शाकिन्यादिरूप परावर्तन चूलिका, इन भेदों से चूलिका पंच प्रकार की है। इस प्रकार संक्षेप से द्वादशांग का व्याख्यान है और जो अंगबाह्य श्रुतज्ञान है वह १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वंदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवैकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्पाकल्प, ११. महाकल्प, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. अशीतिक, इन प्रकीर्णकरूप भेदों से चौदह प्रकार का जानना चाहिए।

२३३. अथवा श्री ऋषभनाथ आदि चौबीस तीर्थंकरों, भरत आदि बारह चक्रवर्ती, विजय आदि नौ बलदेव, त्रिपृष्ठ आदि नौ नारायण और सुग्रीव आदि नौ प्रतिनारायण सम्बन्धी तिरेसठ

श्रावकधर्मम्, आचाराराधनादौ यतिधर्मं च यत्र मुख्यत्वेन कथयति स चरणानुयोगो भण्यते। त्रिलोकसारे जिनान्तरलोकविभागादिग्रन्थव्याख्यानं करणानुयोगो विज्ञेयः। प्राभृततत्त्वार्थसिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्ध-जीवादिषड्द्रव्यादीनां मुख्यवृत्त्या व्याख्यानं क्रियते स द्रव्यानुयोगो भण्यते। इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टय-रूपेण चतुर्विधं श्रुतज्ञानं ज्ञातव्यम्। अनुयोगोऽधिकारः परिच्छेदः प्रकरणमित्याद्येकोऽर्थः। अथवा षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु 'मध्ये' निश्चयनयेन स्वकीयशुद्धात्मद्रव्यं, स्वशुद्धजीवास्तिकायो, निजशुद्धात्मतत्त्वं, निजशुद्धात्मपदार्थ उपादेयः। शेषं च हेयमिति संक्षेपेण हेयोपादेयभेदेन द्विधा व्यवहार-ज्ञानमिति।

२३४. इदानीं तेनैव विकल्परूपव्यवहारज्ञानेन साध्यं निश्चयज्ञानं कथ्यते। तथाहि-रागात् परकलत्रादिवाञ्छारूपं, द्वेषात् परवधबन्धच्छेदादिवाञ्छारूपं च मदीयापध्यानं कोऽपि न जानातीति मत्वा स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसनिर्मलजलेन चित्तशुद्धिमकुर्वाणः सन्नयं जीवो बहिरङ्गबकवेषेण यल्लोकरञ्जनां करोति तन्मायाशल्यं भण्यते। निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यं भण्यते। निर्विकारपरमचैतन्यभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूप-

---

शलाका पुरुषों का पुराण भिन्न-भिन्न प्रथमानुयोग कहलाता है। उपासकाध्ययन आदि में श्रावक का धर्म और आचार आराधना आदि में मुनि का धर्म मुख्यता से कहा गया है, वह दूसरा चरणानुयोग कहा जाता है। त्रिलोकसार में जिनान्तर (तीर्थंकरों का अन्तरकाल) व लोकविभाग आदि का व्याख्यान है, ऐसे ग्रन्थ करणानुयोग जानना चाहिए। प्राभृत (पाहुड) और तत्त्वार्थ सिद्धान्त आदि में मुख्यता से शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि छह द्रव्यों आदि का वर्णन किया गया है, वह द्रव्यानुयोग कहलाता है। इस प्रकार उक्त लक्षण वाले चार अनुयोग रूप चार प्रकार का श्रुतज्ञान जानना चाहिए। अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद और प्रकरण इत्यादि शब्दों का एक ही अर्थ है। अथवा छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों में निश्चयनय से मात्र अपना शुद्ध आत्मद्रव्य, अपना शुद्ध जीव अस्तिकाय, निज-शुद्ध-आत्मतत्त्व तथा निज शुद्ध आत्म पदार्थ उपादेय है। शेष हेय हैं। इस प्रकार संक्षेप से हेय-उपादेय भेद वाला व्यवहार-ज्ञान दो प्रकार का है।

२३४. अब विकल्परूप व्यवहारज्ञान से साध्य निश्चयज्ञान का कथन करते हैं। जैसे कि—राग के उदय से परस्त्री आदि की वांछारूप और द्वेष से अन्य जीवों के मारने, बाँधने अथवा छेदने आदि की वांछारूप मेरा दुर्ध्यान है, उसको कोई भी नहीं जानता है; ऐसा मानकर, निज शुद्ध आत्मभावना से उत्पन्न, निरन्तर आनन्दरूप एक लक्षण वाला सुख-अमृतरसरूप निर्मल जल से अपने चित्त की शुद्धि को न करता हुआ, यह जीव बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर, लोक को प्रसन्न करता है, वह माया-शल्य कहलाती है। ''अपना निरंजन दोष रहित परमात्मा ही उपादेय है'', ऐसी रुचि रूप सम्यक्त्व से विलक्षण, मिथ्या-शल्य कहलाती है। निर्विकार-परम-चैतन्य-भावना से उत्पन्न एक

सुखामृतरसास्वाद लभमानाऽयं जीवो दृष्टश्रुतानुभूतभोगेषु यन्नियतं निरन्तरं चित्तं ददाति तन्निदानशल्यमभिधीयते। इत्युक्तलक्षणशल्यत्रयविभावपरिणामप्रभृतिसमस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन परमस्वास्थ्यसंवित्तिसमुत्पन्नतात्त्विकपरमानन्दैकलक्षणसुखामृततृप्तेन स्वेनात्मना स्वस्य सम्यग्निर्विकल्परूपेण वेदनं परिज्ञानमनुभवनमिति निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानं भण्यते ॥

२३५. अत्राह शिष्यः। इत्युक्तप्रकारेण प्राभृतग्रन्थे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते, तन्न घटते। कस्मादिति चेत्? तदुच्यते। सत्तावलोकरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते, तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पकं भण्यते। परं किन्तु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति। जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येव न। किन्तु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति। तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति। तत्र परिहारः। कथंचित् सविकल्पकं निर्विकल्पकं च। तथाहि—यथा विषयानन्दरूपं स्वसंवेदनं रागसंवित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। तथा स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि

परम-आनन्द-स्वरूप सुखामृत-रस के स्वाद को प्राप्त न करता हुआ, यह जीव, देखे-सुने और अनुभव में आये हुए भोगों में जो निरन्तर चित्त को देता है, वह निदान-शल्य है। इस प्रकार उक्त लक्षण वाले माया, मिथ्या और निदान-शल्य रूप विभाव परिणाम आदि समस्त शुभ-अशुभ, संकल्प-विकल्प से रहित, परम निज-स्वभाव के अनुभव से उत्पन्न यथार्थ परमानन्द एक लक्षण स्वरूप सुखामृत के रसास्वादन से तृप्त ऐसी अपनी आत्मा द्वारा जो निजस्वरूप का संवेदन, जानना व अनुभव करना है, वही निर्विकल्प-स्वसंवेदनज्ञान-निश्चयज्ञान कहा जाता है।

२३५. यहाँ शिष्य की शंका—उक्त प्रकार से प्राभृत (पाहुड) शास्त्र में जो विकल्प-रहित स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है, वह घटित नहीं होता। (यदि कहो) क्यों नहीं घटित होता, तो कहता हूँ—जैनमत में सत्तावलोकनरूप चक्षु आदि दर्शन, जैसे निर्विकल्प कहा जाता है; वैसे ही बौद्धमत में ''ज्ञान निर्विकल्प कहलाता है किन्तु निर्विकल्प होते हुए भी विकल्प को उत्पन्न करने वाला कहा गया है।'' जैनमत में तो ज्ञान विकल्प को उत्पन्न करने वाला ही नहीं है किन्तु स्वरूप (स्वभाव) से ही विकल्प-सहित है और इसी प्रकार स्व-पर-प्रकाशक है। शंका का परिहार—जैन सिद्धान्त में ज्ञान को कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प माना गया है। सो ही दिखाते हैं—जैसे विषयों में आनन्दरूप जो स्वसंवेदन है, वह राग के जानने रूप विकल्प-स्वरूप होने से सविकल्प है, तो भी शेष अनिच्छित ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं। इसीप्रकार निज-शुद्ध-आत्मा के अनुभवरूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान, आत्मसंवेदन के आकाररूप एक विकल्पमयी होने से यद्यपि सविकल्प है, तथापि उस ज्ञान में बाह्य विषयों के अनिच्छित (नहीं चाहे हुए) विकल्पों का, सद्भाव होने पर भी, उनकी मुख्यता नहीं है, इस कारण उस स्वसंवेदन ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते हैं। यहाँ अपूर्व स्वसंवित्ति के आकाररूप अन्तरंग में मुख्य प्रतिभास के होने पर भी, क्योंकि बाह्य विषय सम्बन्धी अनिच्छित

बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। यत एवेहापूर्वस्वसंवित्त्याकारान्तर्मुखप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मा विकल्पा अपि सन्ति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धम्। इदं तु सविकल्पकनिर्विकल्पकस्य तथैव स्वपरप्रकाशकस्य ज्ञानस्य च व्याख्यानं यद्यागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति। स चाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृत इति।

एवं रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावयविनो द्वितीयावयवभूतस्य ज्ञानस्य व्याख्यानेन गाथा गता ॥४२॥

२३६. अथ निर्विकल्पसत्ताग्राहकं दर्शनं कथयति–

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥४३॥

दृश्य रही कुछ अदृश्य भी हैं लघु कुछ, गुरु कुछ 'वस्तु' रही।
इसी तरह बस तरह-तरह की स्वभाववाली अस्तु सही॥
'दर्शन' तो सामान्य मात्र को विषय बनाता अपना है।
विषय भेद तो 'ज्ञान' कराता जिनमत का यह जपना है॥४३॥

२३७. वृत्ति–जं सामण्णं गहणं भावाणं यत् सामान्येन सत्तावलोकनेन ग्रहणं परिच्छेदनं भावानां पदार्थानां; किं कृत्वा **णेव कट्टुमायारं** नैव कृत्वा। कं ? आकारं विकल्पं; तदपि किं कृत्वा?

सूक्ष्म विकल्प भी हैं; अतः ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक भी सिद्ध हो जाता है। यदि इस सविकल्प-निर्विकल्प तथा स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान का व्याख्यान आगमशास्त्र-अध्यात्मशास्त्र-तर्कशास्त्र के अनुसार विशेषरूप से किया जाता तो महान् विस्तार हो जाता किन्तु यह द्रव्यसंग्रह अध्यात्मशास्त्र है, इस कारण ज्ञान का विशेष व्याख्यान यहाँ नहीं किया गया।

इस प्रकार रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गरूप अवयवी के दूसरे अवयवरूप ज्ञान के व्याख्यान द्वारा गाथा समाप्त हुई ॥४२॥

२३६. अब विकल्प रहित सत्ता को ग्रहण करने वाले दर्शन का कथन करते हैं–

अन्वयार्थ–(अट्ठे) पदार्थों के विषय में **(आयारं)** आकार/विकल्प/भेद को **(णेव कट्टुं)** न करके **(जं)** जो **(अविसेसिदूण)** काला-नीला, छोटा-बड़ा, घट-पट आदि विशेषताओं से रहित **(भावाणं)** पदार्थों का **(सामण्णं)** सामान्य **(गहणं)** ग्रहण करना **(समए)** शास्त्र में **(दंसणं)** दर्शन **(इदि)** इस प्रकार **(भण्णए)** कहा गया है।

गाथार्थ–पदार्थों में विशेषता (भेद) न करके और विकल्प न करके पदार्थों का सामान्य से जो (सत्तावलोकनरूप) ग्रहण करना है, वह परमागम में दर्शन कहा गया है ॥४३॥

२३७. वृत्त्यर्थ–जं सामण्णं गहणं भावाणं जो सामान्य से अर्थात् सत्तावलोकन से ग्रहण करना; किसका ग्रहण करना ? पदार्थों का ग्रहण करना। क्या करके? **णेव कट्टुमायारं** नहीं करके,

अविसेसि-दूण अट्ठे अविशेष्याविभेद्यार्थान्; केन रूपेण? शुक्लोऽयं, कृष्णोऽयं, दीर्घोऽयं, ह्रस्वोऽयं, घटोऽयं, पटोऽयमित्यादि। **दंसणमिदि भण्णए समए** तत्सत्तावलोकं दर्शनमिति भण्यते समये परमागमे। नेदमेव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं वक्तव्यम्। कस्मादिति चेत्–तत्र श्रद्धानं विकल्परूपमिदं तु निर्विकल्पं यतः। अयमत्र भावः–यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति; तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनं भण्यते। पश्चाच्छुक्लादिविकल्पे जाते ज्ञानमिति ॥४३॥

२३८. अथ छद्मस्थानां ज्ञानं सत्तावलोकनदर्शनपूर्वकं भवति, मुक्तात्मनां युगपदिति प्रतिपादयति–

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।[1]
जुगवं जम्हा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दो वि॥४४॥

पूर्ण-ज्ञान वह जिन्हें प्राप्त ना उन्हें प्रथम तो दर्शन हो।
बाद ज्ञान उपयोग नहीं दो एक-साथ, कब दर्शन हो?
पूर्ण - ज्ञान से पूर्ण - सुशोभित केवलज्ञानी बने हुए।
एक साथ उपयोग धरे दो अन्तर्यामी बने हुए ॥४४॥

किसको नहीं करके? आकार अथवा विकल्प को नहीं करके। वह भी क्या करके? **अविसेसिदूण अट्ठे** पदार्थों को विशेषित या भेद न करके। किस रूप से? यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह बड़ा है, यह छोटा, यह घट है और यह पट है, इत्यादि रूप से भेद न करके। **दंसणमिदि भण्णए समए** वह परमागम में सत्तावलोकनरूप दर्शन कहा जाता है। इस दर्शन को तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण वाला सम्यग्दर्शन नहीं कहना चाहिए। क्यों नहीं कहना चाहिए? क्योंकि वह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) तो विकल्परूप है और यह दर्शन-उपयोग विकल्परहित है। तात्पर्य यह है कि जब कोई भी किसी पदार्थ को देखता है, वह देखने वाला जब तक विकल्प न करे तब तक तो सत्तामात्र ग्रहण को दर्शन कहते हैं। पश्चात् शुक्ल आदि का विकल्प हो जाने पर ज्ञान कहा जाता है ॥४३॥

२३८. छद्मस्थों के सत्तावलोकनरूप दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है और मुक्त जीवों के दर्शन और ज्ञान एक ही साथ होते हैं, अब ऐसा बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(छदुमत्थाणं) छद्मस्थ जीवों के **(दंसणपुव्वं णाणं)** दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है **(जम्हा)** क्योंकि छद्मस्थों के **(दुण्णि)** दोनों **(उवओगा)** उपयोग **(जुगवं)** एक साथ **(ण)** नहीं होते हैं **(तु)** किन्तु **(केवलिणाहे)** केवलीभगवान् में **(ते दो वि)** वे दोनों ही उपयोग **(जुगवं)** एक साथ होते हैं।

गाथार्थ—छद्मस्थ जीवों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है क्योंकि छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन ये दोनों

---

१. उपयोगौ का तैलं (तेल्लं) आदि की 'उवओग्गा' रूप बना फिर 'ग' का द्वित्व होकर द्वित्व पूर्व 'ओ' का ह्रस्व रूप 'उ' हो गया है।

२३९. वृत्ति—दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं सत्तावलोकनदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति छद्मस्थानां संसारिणां। कस्मात्? **ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जम्हा** ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं युगपन्न भवति यस्मात्, **केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि** केवलिनाथे तु युगपत्तौ ज्ञानदर्शनोपयोगौ द्वौ भवत इति।

२४०. अथ विस्तरः। चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वकीयस्वकीयक्षयोपशमानुसारेण तद्योग्यदेशस्थित-स्वरूपादिविषयाणां ग्रहणमेव सन्निपातः सम्बन्धः सन्निकर्षो भण्यते। न च नैयायिकमत-वच्चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वरूपादिस्वकीयविषयपार्श्वे गमनं इति सन्निकर्षो वक्तव्यः। स एव सम्बन्धो लक्षणं यस्य तल्लक्षणं यन्निर्विकल्पं सत्तावलोकनदर्शनं तत्पूर्वं शुक्लमिदमित्याद्यवग्रहादिविकल्परूप-मिन्द्रियानिन्द्रियजनितं मतिज्ञानं भवति। इत्युक्त—लक्षणमतिज्ञानपूर्वकं तु धूमादग्निविज्ञानवदर्थान्तर-ग्रहणरूपं लिङ्गजं, तथैव घटादिशब्दश्रवणरूपं शब्दजं चेति द्विविधं श्रुतज्ञानं भवति। अथावधिज्ञानं पुनरवधिदर्शनपूर्वकमिति। ईहामतिज्ञानपूर्वकं तु मनःपर्ययज्ञानं भवति।

२४१. अत्र श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानजनकं यदवग्रहेहादिरूपं मतिज्ञानं भणितम्, तदपि दर्शन-

---

उपयोग एक साथ नहीं होते। केवली भगवान् के ज्ञान और दर्शन ये दोनों ही उपयोग एक साथ होते हैं ॥४४॥

२३९. वृत्त्यर्थ—दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं छद्मस्थ—संसारी जीवों के सत्तावलोकन-रूप दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। क्यों? **ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जम्हा** क्योंकि छद्मस्थों के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दोनों एक साथ नहीं होते। **केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि** और केवली भगवान् के ज्ञान दर्शन दोनों उपयोग एक ही साथ होते हैं।

२४०. इसका विस्तार से कथन करते हैं—चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार अपने योग्य देश में विद्यमान रूप आदि अपने विषयों का ग्रहण करना ही सन्निपात, सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष कहा गया है। यहाँ नैयायिक मत के समान चक्षु आदि इन्द्रियों का जो अपने-अपने रूप आदि विषयों के पास जाना है, उसको 'सन्निकर्ष' न कहना चाहिए। इन्द्रिय पदार्थ का वह सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष जिसका लक्षण है; ऐसे लक्षण वाला निर्विकल्पक-सत्तावलोकन दर्शन है, उस दर्शनपूर्वक "यह सफेद है" इत्यादि अवग्रह आदि विकल्परूप तथा पाँचों इन्द्रियों व अनिन्द्रिय मन से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान है। उक्त लक्षण वाले मतिज्ञानपूर्वक, धुँए से अग्नि के ज्ञान के समान, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को ग्रहण करने रूप लिंगज (चिह्न से उत्पन्न होने वाला) तथा इसी प्रकार घट आदि शब्दों के सुनने रूप शब्दज (शब्द से उत्पन्न होने वाला), ऐसे दो प्रकार का श्रुतज्ञान होता है (श्रुतज्ञान दो तरह का है—लिंगज और शब्दज। उनमें से एक पदार्थ को जानकर उसके द्वारा दूसरे पदार्थ को जानना, वह लिंगज श्रुतज्ञान है। शब्दों को सुनने से जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह शब्दज श्रुतज्ञान है)। अवधिदर्शनपूर्वक अवधिज्ञान होता है। ईहामतिज्ञानपूर्वक मनःपर्ययज्ञान होता है।

२४१. यहाँ श्रुतज्ञान को और मनःपर्ययज्ञान को उत्पन्न करने वाला अवग्रह, ईहा आदिरूप

पूर्वकत्वादुपचारेण दर्शनं भण्यते, यतस्तेन कारणेन श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानद्वयमपि दर्शनपूर्वकं ज्ञातव्यमिति। एवं छद्मस्थानां सावरणक्षायोपशमिकज्ञानसहितत्वात् दर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति। केवलिनां तु भगवतां निर्विकारस्वसंवेदनसमुत्पन्ननिरावरणक्षायिकज्ञानसहितत्वान्निर्मेघादित्ये युगपदातपप्रकाशवद्दर्शनं ज्ञानं च युगपदेवेति विज्ञेयम्। छद्मस्था इति कोऽर्थः? छद्मशब्देन ज्ञानदर्शनावरणद्वयं भण्यते, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः। एवं तर्काभिप्रायेण सत्तावलोकनदर्शनं व्याख्यातम्।

२४२. अत ऊर्ध्वं सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते। तथाहि—उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत् प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। तदनन्तरं यद्बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तद्ज्ञानमिति वार्त्तिकम्। यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद्व्यावर्त्त्य यत् स्वरूपे प्रयत्नमवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद्बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तद् ज्ञानं भण्यते।

२४३. अत्राह शिष्यः—यद्यात्मग्राहकं दर्शनं, परग्राहकं ज्ञानं भण्यते; तर्हि यथा नैयायिकमते ज्ञानमात्मानं न जानाति; तथा जैनमतेऽपि ज्ञानमात्मानं न जानातीति दूषणं प्राप्नोति। अत्र परिहारः।

मतिज्ञान कहा है, वह मतिज्ञान भी दर्शनपूर्वक होता है, इसलिए वह मतिज्ञान भी उपचार से दर्शन कहलाता है। इस कारण श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान, इन दोनों को भी दर्शनपूर्वक जानना चाहिए। इस प्रकार छद्मस्थ जीवों के सावरण क्षायोपशमिक-ज्ञान होने से, दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। केवली भगवान् के निर्विकार स्वसंवेदन से उत्पन्न निरावरण क्षायिक ज्ञान होने से, बादल हट जाने पर सूर्य के युगपत् आतप और प्रकाश के समान, दर्शन और ज्ञान ये दोनों युगपत् होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। **प्रश्न—**'छद्मस्थ' शब्द का क्या अर्थ है? **उत्तर—**'छद्म' शब्द से ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दोनों कर्म कहे जाते हैं, उस 'छद्म' में जो रहते हैं वे छद्मस्थ हैं। इस प्रकार तर्क के अभिप्राय से सत्तावलोकन रूप दर्शन का व्याख्यान किया।

२४२. इसके आगे सिद्धान्त के अभिप्राय से कहते हैं। चूँकि आगे होने वाले ज्ञान की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न, उस रूप निज-आत्मा का जो परिच्छेदन अर्थात् अवलोकन, वह दर्शन कहलाता है। उसके अनन्तर बाह्य विषय में विकल्परूप से जो पदार्थ का ग्रहण है, वह ज्ञान है; यह वार्तिक है। जैसे कोई पुरुष पहले घट विषयक विकल्प करता हुआ स्थित है, पश्चात् उसका चित्त पट को जानने के लिए होता है तब वह पुरुष घट के विकल्प से हटकर स्वरूप में जो प्रयत्न-अवलोकन-परिच्छेदन करता है; उसको दर्शन कहते हैं। उसके अनन्तर 'यह पट है' ऐसा निश्चय अथवा बाह्य विषयरूप से पदार्थ के ग्रहणरूप जो विकल्प होता है उस विकल्प को ज्ञान कहते हैं।

२४३. प्रश्न—यहाँ शिष्य पूछता है, यदि अपने को ग्रहण करने वाला दर्शन और पर-पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान है; तो नैयायिकों के मत में जैसे ज्ञान अपने को नहीं जानता है वैसे ही जैनमत में भी ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है; ऐसा दूषण आता है? **उत्तर—**नैयायिक मत में ज्ञान और दर्शन

नैयायिकमते ज्ञानं पृथग्दर्शनं पृथगिति गुणद्वयं नास्ति; तेन कारणेन तेषामात्मपरिज्ञानाभावदूषणं प्राप्नोति। जैनमते पुनर्ज्ञानगुणेन परद्रव्यं जानाति, दर्शनगुणेनात्मानं च जानातीत्यात्मपरिज्ञानाभावदूषणं न प्राप्नोति।

२४४. कस्मादिति चेत्? यथैकोऽप्यग्निर्दहतीति दाहकः, पचतीति पाचको, विषयभेदेन द्विधा

अलग-अलग दो गुण नहीं हैं, इस कारण उन नैयायिकों के मत में ''आत्मा को जानने के अभावरूप'' दूषण आता है किन्तु जैनसिद्धान्त में, आत्मा ज्ञान गुण से पर पदार्थ को जानता है तथा दर्शन गुण से आत्मा स्व को जानता है[1] इस कारण जैनमत में ''आत्मा को न जानने का'' दूषण नहीं आता।

२४४. **प्रश्न—**यह दूषण क्यों नहीं आता? **उत्तर—**जैसे एक ही अग्नि जलाती है, अतः वह दाहक है और पकाती है इस कारण पाचक है; विषय के भेद से दाहक, पाचक रूप अग्नि दो प्रकार

---

१. सिद्धान्तभूषण ब्र॰ रतनचन्दजी मुख्तार ने भी लिखा है कि—''श्री वीरसेन स्वामी के अभिप्रायानुसार ज्ञान स्व पर प्रकाशक नहीं है किन्तु पर-प्रकाशक है और दर्शन स्व प्रकाशक है। इसका स्पष्ट उल्लेख धवल और जयधवल ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर पाया जाता है। उनमें से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

धवल पु॰ १-''अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान माना है, अतः इन दोनों के एक होने में विरोध आता है।'' (पृ॰ १४५)

यदि ऐसा कहा जाय कि अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन तथा अन्तर्बाह्य विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान है तो ऐसा मानने में दो आपत्तियाँ आती हैं। प्रथम तो छद्मस्थ के ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग के युगपत् होने का प्रसंग आ जायेगा, क्योंकि सामान्यविशेषात्मक वस्तु का क्रम के बिना ही ग्रहण होता है। दूसरे यह कि सामान्य को छोड़कर केवल विशेष अर्थ क्रिया करने में असमर्थ है और जो अर्थ—क्रिया करने में असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ता है, अतएव उसका ग्रहण करने वाला होने से ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। तथैव केवल विशेष भी ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि सामान्य रहित अवस्तुरूप केवल विशेष में कर्ता-कर्म-रूप व्यवहार नहीं बन सकता है। इस प्रकार केवल विशेष को ग्रहण करने वाले ज्ञान में प्रमाणता सिद्ध नहीं होने से केवल सामान्य को ग्रहण करने वाले दर्शन को भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं। प्रमाण के अभाव में प्रमेय (पदार्थ) और प्रमाता (आत्मा) आदि सभी का अभाव मानना पड़ेगा। परन्तु उनका अभाव है नहीं, क्योंकि उनका सद्भाव दृष्टिगोचर होता है। (पृ॰ १४६-१४७)

अतः सामान्य विशेषात्मक बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक आत्मरूप (निज आत्मा) को ग्रहण करने वाला दर्शन है, यह सिद्ध हो जाता है। जं सामण्णं-गहणं तं दंसणं इस परमागम वाक्य के साथ भी विरोध नहीं आता है, क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों में साधारणरूप से पाया जाता है। इसलिए उक्त परमागम-वचन में सामान्य संज्ञा को प्राप्त आत्मा का ही सामान्य-पद से ग्रहण किया गया है। (पृ॰१४७)

अंतरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है। बहिरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है। [पृ॰ ३८१ तथा संशोधित संस्करण (१९७३) के पृ॰ ३८३] इसी प्रकार धवल पु॰ ६, ७, ११, १३ तथा जयधवल पु॰ १ पृ॰ ३२५, ३२४, जयधवल पु॰ १ पृ॰ ३०८ आदि देखने चाहिए।

यह [उक्त सब] कथन सिद्धान्त ग्रंथों के अनुसार है किन्तु तर्क शास्त्र में अन्य मत वाले जीवों को समझाने की मुख्यता होने से, वहाँ ज्ञान को स्व पर प्रकाशक कहा गया है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टियों से ज्ञान को स्व-पर प्रकाशक तथा पर-प्रकाशक जानना चाहिए। [जैन गजट दिग. ०५.०८.१९६५ पृ॰ ९]

भिद्यते। तथैवाभेदनयेनैकमपि चैतन्यं भेदनयविवक्षायां यदात्मग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदा तस्य दर्शनमिति संज्ञा, पश्चात् यच्च परद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तस्य ज्ञानसंज्ञेति विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। किंच यदि सामान्यग्राहकं दर्शनं विशेषग्राहकं ज्ञानं भण्यते, तदा ज्ञानस्य प्रमाणत्वं न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत् ? वस्तुग्राहकं प्रमाणं; वस्तु च सामान्यविशेषात्मकं; ज्ञानेन पुनर्वस्त्वेकदेशो विशेष एव गृहीतो; न च वस्तु। सिद्धान्तेन पुनर्निश्चयेन गुणगुणिनोरभिन्नत्वात् संशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्संशयविमोहविभ्रमरहित-वस्तुज्ञानस्वरूपात्प्रमाणम्। स च प्रदीपवत् स्वपरगतं सामान्यं विशेषं च जानाति। तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति।

२४५. अथ मतं—यदि दर्शनं बहिर्विषये न प्रवर्त्तते तदान्धवत् सर्वजनानामन्धत्वं प्राप्नोतीति। नैवं वक्तव्यम्। बहिर्विषये दर्शनाभावेऽपि ज्ञानेन विशेषेण सर्वं परिच्छिनत्तीति। अयं तु विशेषः—दर्शनेनात्मनि गृहीते सत्यात्माविनाभूतं ज्ञानमपि गृहीतं भवति; ज्ञाने च गृहीते सति ज्ञानविषयभूतं बहिर्वस्त्वपि गृहीतं भवतीति। अथोक्तं भवता यद्यात्मग्राहकं दर्शनं भण्यते, तर्हि जं सामण्णं गहणं भावाणं तद्दर्शनमिति गाथार्थः कथं घटते? तत्रोत्तरं—सामान्यग्रहणमात्मग्रहणं तद्दर्शनं। कस्मादिति चेत्? आत्मा वस्तुपरिच्छित्तिं कुर्वन्निदं

की है। उसी प्रकार अभेदनय से चैतन्य एक ही है; भेदनय की विवक्षा में जब आत्मा को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, तब उसका नाम 'दर्शन' है, और फिर जब पर पदार्थ को ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, तब उस चैतन्य का नाम 'ज्ञान' है, इस प्रकार विषयभेद से चैतन्य दो प्रकार का होता है। विशेष बात यह है—यदि सामान्य के ग्रहण करने वाले को दर्शन और विशेष के ग्रहण करने वाले को ज्ञान कहा जावे तो ज्ञान को प्रमाणता नहीं आती। **शंका**—ज्ञान को प्रमाणता क्यों नहीं आती? **समाधान**—वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रमाण है। वस्तु सामान्य-विशेष स्वरूप है। ज्ञान ने वस्तु का एक देश जो विशेष, उस विशेष को ही ग्रहण किया, न कि सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण किया। सिद्धान्त से निश्चयनय की अपेक्षा गुण-गुणी अभिन्न हैं; अतः संशय-विमोह-विभ्रम से रहित जो वस्तु का ज्ञान है उस ज्ञानस्वरूप आत्मा ही प्रमाण है। जैसे प्रदीप स्वपर प्रकाशक है, उसी प्रकार आत्मा भी स्व और पर के सामान्य-विशेष को जानता है, इस कारण अभेद से आत्मा के ही प्रमाणता है।

२४५. शंका—यदि दर्शन बाह्य विषय को ग्रहण नहीं करता तो अंधे की तरह सब मनुष्यों के अन्धेपने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा? **समाधान**—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बाह्य विषय में दर्शनाभाव होने पर भी आत्मा ज्ञान द्वारा विशेष रूप से सब पदार्थों को जानता है। विशेष यह है—जब दर्शन से आत्मा का ग्रहण होता है, तब आत्मा में व्याप्त ज्ञान का भी दर्शन द्वारा ग्रहण हो जाता है; ज्ञान के ग्रहण हो जाने पर ज्ञान की विषयभूत बाह्य वस्तु का भी ग्रहण हो जाता है। **शंका**—जो आत्मा को ग्रहण करता है, यदि आप उसको दर्शन कहते हो, तो जो पदार्थों का सामान्य ग्रहण है वह दर्शन है यह गाथा-अर्थ आपके कथन में कैसे घटित होता है? **उत्तर**—वहाँ पर 'सामान्य-ग्रहण' शब्द का अर्थ ''आत्मा का ग्रहण करना'' है। **प्रश्न**—''सामान्य ही आत्मा है'', ऐसा अर्थ क्यों है? **उत्तर**—वस्तु

जानामीदं न जानामीति विशेषपक्षपातं न करोति; किन्तु सामान्येन वस्तु परिच्छिनत्ति, तेन कारणेन सामान्यशब्देनात्मा भण्यत इति गाथार्थः।

२४६. किं बहुना? यदि कोऽपि तर्कार्थं सिद्धान्तार्थं च ज्ञात्वैकान्तदुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थवृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटत इति। कथमिति चेत्? तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं, तत्र यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति–जैनागमे दर्शनं ज्ञानं चेति गुणद्वयं जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति? तदा तेषामात्मग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति। पश्चादाचार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं स्थूलव्याख्यानेन बहिर्विषये यत् सामान्यपरिच्छेदनं तस्य सत्तावलोकनदर्शनसंज्ञा स्थापिता, यच्च शुक्लमिदमित्यादिविशेषपरिच्छेदनं तस्य ज्ञानसंज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति। सिद्धान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यानं मुख्यवृत्त्या। तत्र सूक्ष्मव्याख्याने क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहकं दर्शनं व्याख्यातमित्यत्रापि दोषो नास्ति।

२४७. अत्राह शिष्यः–सत्तावलोकनदर्शनस्य ज्ञानेन सह भेदो ज्ञातस्तावदिदानीं यत्तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं वस्तुविचाररूपं सम्यग्ज्ञानं तयोर्विशेषो न ज्ञायते। कस्मादिति चेत्? सम्यग्दर्शने पदार्थ-निश्चयोऽस्ति, तथैव सम्यग्ज्ञाने च को विशेष इति? अत्र परिहारः–अर्थग्रहणपरिच्छित्तिरूपः क्षयोपशम-

---

का ज्ञान करता हुआ आत्मा, ''मैं इसको जानता हूँ, इसको नहीं जानता हूँ'', इस प्रकार का विशेष पक्षपात नहीं करता है; किंतु सामान्यरूप से पदार्थ को जानता है। इस कारण 'सामान्य' शब्द से 'आत्मा' कहा जाता है। यह गाथा का अर्थ है।

२४६. बहुत कहने से क्या? यदि कोई भी तर्क और सिद्धान्त के अर्थ को जानकर, एकान्त दुराग्रह को त्याग करके, नयों के विभाग से मध्यस्थता धारण करके; व्याख्यान करता है तब तो तर्क-अर्थ व सिद्धान्त-अर्थ ये दोनों ही सिद्ध होते हैं। **प्रश्न—**कैसे सिद्ध होते हैं? **उत्तर—**तर्क में मुख्यता से अन्य-मतों का व्याख्यान है। इसलिए उसमें यदि कोई अन्य-मतावलम्बी पूछें कि जैन-सिद्धान्त में जीव के दर्शन और ज्ञान, जो दो गुण कहे हैं; वे कैसे घटित होते हैं? तब इसके उत्तर में उन अन्य मतियों को कहा जाय कि, ''जो आत्मा को ग्रहण करने वाला है, वह दर्शन है'' तो वे अन्य मती इसको नहीं समझते। तब आचार्यों ने उनको प्रतीति कराने के लिए स्थूल व्याख्यान से बाह्य विषय में जो सामान्य का ग्रहण है उसका नाम दर्शन स्थापित किया; 'यह सफेद है' इत्यादि रूप से बाह्य विषय में जो विशेष का जानना है, उसका नाम ज्ञान स्थापित किया; अतः दोष नहीं है। सिद्धान्त में मुख्यता से निज समय का व्याख्यान है, इसलिए सिद्धान्त में सूक्ष्म व्याख्यान करने पर आचार्यों ने ''जो आत्मा का ग्राहक है'' उसको 'दर्शन' कहा है। अतः इसमें भी दोष नहीं।

२४७. यहाँ शिष्य **शंका** करता है कि सत्ता-अवलोकनरूप-दर्शन का ज्ञान के साथ भेद जाना किन्तु तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप-सम्यग्दर्शन और वस्तु-विचाररूप-सम्यग्ज्ञान इन दोनों में भेद नहीं जाना। यदि कहो कि कैसे नहीं जाना; तो पदार्थ का जो निश्चय, सम्यग्दर्शन में है वही सम्यग्ज्ञान में है। इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में क्या भेद है? **समाधान—**पदार्थ के ग्रहण में जानने रूप

विशेषो ज्ञानं भण्यते, तत्रैव भेदनयेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मादितत्त्वेष्विदमेवेत्थमेवेति निश्चय-सम्यक्त्वमिति। अविकल्परूपेणाभेदनयेन पुनर्यदेव सम्यग्ज्ञानं तदेव सम्यक्त्वमिति। कस्मादिति चेत्? अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरदेवे देवबुद्धिरधर्मे धर्मबुद्धिरित्यादिविपरीताभिनिवेशरहितस्य ज्ञानस्यैव सम्यग्विशेषण-वाच्योऽवस्थाविशेषः सम्यक्त्वं भण्यते यतः कारणात्।

२४८. यदि भेदो नास्ति तर्हि कथमावरणद्वयमिति चेत् ? तत्रोत्तरम्—येन कर्मणार्थपरिच्छित्तिरूपः क्षयोपशमः प्रच्छाद्यते तस्य ज्ञानावरणसंज्ञा, तस्यैव क्षयोपशमविशेषस्य यत् कर्म पूर्वोक्तलक्षणं विपरीताभि-निवेशमुत्पादयति तस्य मिथ्यात्वसंज्ञेति भेदनयेनावरणभेदः। निश्चयनयेन पुनरभेदविवक्षायां कर्मत्वं प्रत्यावरणद्वयमप्येकमेव विज्ञातव्यम्। एवं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवतीति व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥४४॥

२४९. अथ सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गतृतीयावयवभूतं स्वशुद्धात्मानुभूतिरूपशुद्धोपयोग-लक्षणवीतरागचारित्रस्य पारम्पर्येण साधकं सरागचारित्रं प्रतिपादयति—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अशुभ-भावमय पाप-वृत्ति को मन-वच-तन से जो तजना।
शुभ में प्रवृत्ति करना समुचित 'चारित' है मन रे भजना॥
यह 'चारित्र-व्यवहार' कहाता समिति-गुप्ति व्रत वाला है।
इस विध जिनशासन है गाता सुधा-सुपूरित प्याला है ॥४५॥

क्षयोपशम विशेष 'ज्ञान' कहलाता है। उस ज्ञान में ही, वीतराग सर्वज्ञ श्री जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों में ''यह ही तत्त्व है, ऐसा ही तत्त्व है,'' इस प्रकार का जो निश्चय है, भेदनय से वह सम्यक्त्व है। निर्विकल्परूप अभेदनय से तो जो सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यग्दर्शन है। **प्रश्न—**ऐसा क्यों है? **उत्तर—**अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि, अदेव (देव नहीं) में देव-बुद्धि और अधर्म में 'धर्म-बुद्धि' इत्यादि विपरीताभिनिवेश से रहित ज्ञान की ही, 'सम्यक्' विशेषण से कहे जाने वाली अवस्था-विशेष 'सम्यक्त्व' कहलाती है।

२४८. शंका—यदि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भेद नहीं है तो उन दोनों गुणों के घातक ज्ञानावरण और मिथ्यात्व दो कर्म कैसे कहे गये हैं? **समाधान—**जिस कर्म से पदार्थ के जानने रूप क्षयोपशम ढक जाता है; उसको ज्ञानावरण संज्ञा है और उस क्षयोपशम विशेष में जो कर्म, पूर्वोक्त लक्षण वाले विपरीत-अभिनिवेश को उत्पन्न करता है, उस कर्म की मिथ्यात्व संज्ञा है। इस प्रकार भेद नय से आवरण में भेद है। निश्चयनय से अभेद की विवक्षा में कर्मपने की अपेक्षा उन दो आवरणों को एक ही जानना चाहिए। इस प्रकार दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है; ऐसा व्याख्यान करने वाली गाथा समाप्त हुई ॥४४॥

२४९. इसके बाद सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान-पूर्वक होने वाले रत्नत्रय-स्वरूप मोक्षमार्ग के

२५०. वृत्ति—अस्यैव सरागचारित्रस्यैकदेशावयवभूतं देशचारित्रं तावत्कथ्यते। तद्यथा—मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षये सति, अध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामे वा सति शुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारवास्तवसुखामृतमुपादेयं कृत्वा संसारशरीरभोगेषु योऽसौ हेयबुद्धिः सम्यग्दर्शनशुद्धः स चतुर्थगुणस्थानवर्ती व्रतरहितो दार्शनिको भण्यते। यश्चाप्रत्याख्यानावरणसंज्ञि-द्वितीयकषायक्षयोपशमे जाते सति पृथिव्यादिपञ्चस्थावरवधे प्रवृत्तोऽपि यथाशक्त्या त्रसवधे निवृत्तः स पञ्चमगुणस्थानवर्त्ती श्रावको भण्यते।

तीसरे अवयवरूप और स्व-शुद्ध-आत्मा के अनुभवरूप-शुद्धोपयोग लक्षण वाले वीतराग चारित्र को परम्परा से साधने वाले, सराग-चारित्र का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ—(ववहारणया) व्यवहारनय से **(असुहादो विणिवित्ती)** अशुभ क्रियाओं से निवृत्तिरूप **(य)** और **(सुहे पवित्ति)** शुभ क्रियाओं में प्रवृत्तिरूप **(जिणभणियं)** जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ **(चारित्तं जाण)** चारित्र जानो **(दु)** और वह चारित्र **(वदसमिदिगुत्तिरूवं)** व्रत, समिति और गुप्तिरूप है।

गाथार्थ—अशुभ कार्य से निवृत्ति (दूर होना) और शुभ कार्य में प्रवृत्ति, उसको (व्यवहार) चारित्र जानो। श्री जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से उस चारित्र को ५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिस्वरूप कहा है ॥४५॥

२५०. वृत्त्यर्थ—इसी सराग-चारित्र के एक देश अवयवरूप देश चारित्र को कहते हैं। वह इस प्रकार है—मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर अथवा अध्यात्म भाषा के अनुसार, निज-शुद्ध-आत्मा के सम्मुख परिणाम होने पर, शुद्ध-आत्म-भावना से उत्पन्न निर्विकार यथार्थ सुखरूपी अमृत को उपादेय करके संसार, शरीर और भोगों में जो हेयबुद्धि है, वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध चतुर्थ गुणस्थान वाला व्रतरहित दार्शनिक है। जो अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषाय के क्षयोपशम होने पर, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच स्थावरों के वध में प्रवृत्त होते हुए भी, अपनी शक्ति अनुसार त्रसजीवों के वध से निवृत्त होता है।[1] (अर्थात् यथाशक्ति त्रसजीवों की हिंसा नहीं करता है), उसको पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक कहते हैं।

---

१. एकदेशसंयम में त्रस जीवों की आरम्भी, विरोधी तथा उद्यमी हिंसा और स्थावर जीवों का प्रयोजनानुसार घात, अल्प असत्य, सार्वजनिक जल तथा मिट्टी आदि की चोरी, स्वस्त्री या स्वपुरुष सेवन तथा सीमित परिग्रह से निवृत्ति नहीं होती। इसीलिए तो वह एक ही काल में विरताविरत कहलाता है। [तत्त्वार्थसार २/२२/३७ तथा सम्यक्त्व चिंतामणि, पृ० ७२, डॉ० पं० पन्नालालजी, साहित्याचार्य, सागर]

२५१. तस्यैकादशभेदाः कथ्यन्ते। तथाहि–सम्यक्त्वपूर्वकत्वेन मद्यमांसमधुत्यागोदुम्बरपञ्चक-परिहाररूपाष्टमूलगुणसहितः सन् संग्रामादिप्रवृत्तोऽपि पापर्द्ध्यादिभिर्निष्प्रयोजनजीवघातादौ निवृत्तः प्रथमो दार्शनिकश्रावको भण्यते। स एव सर्वथा त्रसवधे निवृत्तः सन् पञ्चाणुव्रतत्रयगुणव्रतशिक्षाव्रतचतुष्टयसहितो द्वितीयव्रतिकसंज्ञो भवति। स एव त्रिकालसामायिके प्रवृत्तः तृतीयः, प्रोषधोपवासे प्रवृत्तश्चतुर्थः, सचित्त-परिहारेण पञ्चमः, दिवा ब्रह्मचर्येण षष्ठः, सर्वथा ब्रह्मचर्येण सप्तमः, आरम्भादिसमस्तव्यापार-निवृत्तोऽष्टमः, वस्त्रप्रावरणं विहायान्यसर्वपरिग्रहनिवृत्तो नवमः, गृहव्यापारादिसर्वसावद्यानुमतनिवृत्तो दशमः, उद्दिष्टाहारनिवृत्त एकादशम इति। एतेष्वेकादशश्रावकेषु मध्ये प्रथमषट्कं तारतम्येन जघन्यम्, ततश्च त्रयं मध्यमम्, ततो द्वयमुत्तममिति संक्षेपेण दार्शनिकश्रावकाद्येकादशभेदाः ज्ञातव्याः।

२५२. अथैकदेशचारित्रव्याख्यानानन्तरं सकलचारित्रमुपदिशति। **असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं** अशुभान्निवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिश्चापि जानीहि चारित्रम्। तच्च कथम्भूतं– **वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं** व्रतसमितिगुप्तिरूपं व्यवहारनयाज्जिनैरुक्तमिति। तथाहि–प्रत्याख्यानावरणसंज्ञतृतीयकषायक्षयोपशमे सति

---

२५१. उस पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के ११ भेद कहते हैं। सम्यग्दर्शन-पूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों के त्यागरूप आठ मूलगुणों को पालता हुआ जो जीव युद्धादि में प्रवृत्त होने पर भी पाप को बढ़ाने वाले शिकार आदि के समान बिना प्रयोजन जीव घात नहीं करता, उसको प्रथम दार्शनिक श्रावक कहते हैं। वही दार्शनिक श्रावक जब त्रसजीव की हिंसा से सर्वथा रहित होकर पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का आचरण करता है तब 'व्रती' नामक दूसरा श्रावक होता है। वही जब त्रिकाल सामायिक में प्रवृत्त होता है तब तीसरी प्रतिमाधारी, प्रोषध-उपवास में प्रवृत्त होने पर चौथी प्रतिमाधारी, सचित्त के त्याग से पाँचवीं प्रतिमा, दिन में ब्रह्मचर्य धारण करने से छठी प्रतिमा, सर्वथा ब्रह्मचर्य को धारण करने से सप्तम प्रतिमा, आरम्भ आदि सम्पूर्ण व्यापार के त्याग से अष्टम प्रतिमा, पहनने-ओढ़ने के वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य सब परिग्रहों को त्यागने से नवमी प्रतिमा, घर-व्यापार आदि सम्बन्धी समस्त सावद्य (पापजनक) कार्यों में सम्मति (सलाह) देने के त्याग से दशमी प्रतिमा और उद्दिष्ट आहार के त्याग से ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक श्रावक होता है। इन ग्यारह प्रकार के श्रावकों में, पहली छह प्रतिमा वाले तरतमता से जघन्य श्रावक हैं; सातवीं, आठवीं और नवीं इन तीन प्रतिमा वाले मध्यम श्रावक हैं; दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाओं के धारक उत्तम श्रावक हैं। इस प्रकार संक्षेप से देशचारित्र के दार्शनिक आदि ग्यारह भेद जानने चाहिए।

२५२. अब इस एकदेशचारित्र के व्याख्यान के अनन्तर सकलचारित्र को कहते हैं– **असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं** हे शिष्य! अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ में जो प्रवृत्ति है, उसको चारित्र जानो। वह कैसा है? **वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं** व्रतसमितिगुप्तिरूप है, व्यवहारनय से श्री जिनेन्द्र ने ऐसा कहा है। वह इस प्रकार है–''प्रत्याख्यानावरण

''विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो।१।''

इति गाथाकथितलक्षणादशुभोपयोगान्निवृत्तिस्तद्विलक्षणे शुभोपयोगे प्रवृत्तिश्च हे शिष्य! चारित्रं जानीहि। तच्चाचाराराधनादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिरूपमप्यपहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति। तत्र योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण, यच्चाभ्यन्तरे रागादिपरिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयेनेति नयविभागो ज्ञातव्यः। एवं निश्चयचारित्रसाधकं व्यवहारचारित्रं व्याख्यातमिति ॥४५॥

२५३. अथ तेनैव व्यवहारचारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं निरूपयति–

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं ॥४६॥

बाहर की भी भीतर की भी क्रिया मात्र को बंद किया।
भव के कारण पूर्ण मिटाना यही मात्र सौगंध लिया॥
उस ज्ञानी का जीवन ही वह रहा परम शुचि चारित है।
जिनवाणी का यही बताना मुनीश्वरों से धारित है॥४६॥

नामक तीसरी कषाय के क्षयोपशम होने पर जिसका उपयोग विषय–कषायों में मग्न है, दुःश्रुति (विकथा), दुष्टचित्त और दुष्ट गोष्ठी (बुरी संगति), उग्र तथा उन्मार्ग (बुरे मार्ग) में तत्पर है, वह जीव अशुभ में स्थित है ॥१॥'' ''इस गाथा में कहे हुए अशुभोपयोग से छूटना और उक्त अशुभोपयोग से विलक्षण (उल्टा) शुभोपयोग में प्रवृत्त होना,'' हे शिष्य! उसको तुम चारित्र जानो। आचार–आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में कहे अनुसार वह चारित्र पाँच महाव्रत, पाँच समिति व तीन गुप्तिरूप है, तो भी अपहृतसंयम नामक शुभोपयोग लक्षण वाला सरागचारित्र होता है। उसमें भी बाह्य में जो पाँचों इन्द्रियों के विषय आदि का त्याग है, वह उपचरित–असद्भूत–व्यवहारनय से चारित्र है और अन्तरंग में जो राग आदि का त्याग है, वह अशुद्ध निश्चयनय से चारित्र है। इस तरह नय–विभाग जानना चाहिए। ऐसे निश्चयचारित्र को साधने वाले व्यवहारचारित्र का व्याख्यान किया ॥४५॥

२५३. अब उसी व्यवहारचारित्र से साध्य निश्चयचारित्र का निरूपण करते हैं—

अन्वयार्थ–(भवकारणप्पणासट्ठं) संसार के कारणों का नाश करने के लिए **(णाणिस्स)** ज्ञानीजीव के **(बहिरब्भंतर-किरिया-रोहो)** बाह्य तथा आभ्यंतर क्रियाओं का निरोध **(जं जिणुत्तं)** जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है **(तं परमं सम्मचारित्तं)** वह परम निश्चय सम्यक्चारित्र है।

गाथार्थ–संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए ज्ञानी जीव के जो बाह्य और अन्तरंग क्रियाओं का निरोध है; श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ वह उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र है ॥४६॥

२५४. वृत्ति—तं तत् **परमं** परमोपेक्षालक्षणं निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकशुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं **सम्मचारित्तं** सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम्। तत्कि—**बहिरब्भंतरकिरियारोहो** निष्क्रियनित्यनिरञ्जनविशुद्ध-ज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजात्मनः प्रतिपक्षभूतस्य बहिर्विषये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे शुभाशुभमनोविकल्परूपस्य च क्रियाव्यापारस्य योऽसौ निरोधस्त्यागः स च किमर्थं **भवकारणप्पणासट्ठं** पञ्चप्रकारभवातीतनिर्दोषपरमात्मनो विलक्षणस्य भवस्य संसारस्य व्यापारकारणभूतो योऽसौ शुभाशुभ-कर्मास्रवस्तस्य प्रणाशार्थं विनाशार्थमिति। इत्युभयक्रियानिरोधलक्षणचारित्रं कस्य भवति? **णाणिस्स** निश्चयरत्नत्रयात्मकाभेदज्ञानिनः। पुनरपि किं विशिष्टं? **जं जिणुत्तं** यज्जिनेन वीतरागसर्वज्ञेनोक्त-मिति ॥४६॥ एवं वीतरागसम्यक्त्वज्ञानाविनाभूतं निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गतृतीयावयवरूपं वीतरागचारित्रं व्याख्यातम्॥ इति द्वितीयस्थले गाथाषट्कं गतम्।

२५५. एवं मोक्षमार्गप्रतिपादकतृतीयाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसंक्षेपकथनेन सूत्रद्वयम्, तदनन्तरं तस्यैव मोक्षमार्गस्यावयवभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां विशेषविवरणरूपेण सूत्रषट्कं चेति स्थलद्वयसमुदायेनाष्टगाथाभिः प्रथमोऽन्तराधिकारः समाप्तः॥

---

२५४. वृत्त्यर्थ—तं वह **परमं** परम उपेक्षा लक्षण वाला (संसार, शरीर, असंयम आदि में अनादर) तथा निर्विकार स्वसंवेदनरूप शुद्धोपयोग का अविनाभूत उत्कृष्ट **सम्मचारित्तं** सम्यक्चारित्र जानना चाहिए। वह क्या? **बहिरब्भंतरकिरियारोहो** निष्क्रिय-नित्य-निरंजन-निर्मल ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले निज-आत्मा से प्रतिपक्षभूत (प्रतिकूल), बाह्य में वचन काय के शुभाशुभ व्यापाररूप, अन्तरंग में मन के शुभाशुभ विकल्परूप, ऐसी क्रियाओं के व्यापार का निरोध (त्याग) चारित्र है। वह चारित्र किसलिए है? **भवकारणप्पणासट्ठं** पाँच प्रकार के संसार से रहित निर्दोष परमात्मा से विलक्षण जो संसार, उस संसार के व्यापार का कारणभूत शुभ-अशुभ कर्म आस्रव, उस आस्रव के विनाश के लिए चारित्र है। ऐसा बाह्य, अन्तरंग क्रियाओं के त्यागरूप चारित्र किसके होता है? **णाणिस्स** निश्चय रत्नत्रय स्वरूप अभेदज्ञानी जीव के ऐसा चारित्र होता है। वह चारित्र फिर कैसा है ? **जं जिणुत्तं** वह चारित्र जिनेन्द्रदेव वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ है। इस प्रकार वीतराग सम्यक्त्व व ज्ञान का अविनाभूत तथा निश्चयरत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग का तीसरा अवयवरूप वीतरागचारित्र का व्याख्यान हुआ ॥४६॥ ऐसे दूसरे स्थल में छह गाथायें समाप्त हुईं।

२५५. इस प्रकार मोक्षमार्ग को प्रतिपादित करने वाले तीसरे अधिकार में निश्चय व्यवहार रूप मोक्षमार्ग के संक्षेप कथन से दो सूत्र और तदनन्तर उसी मोक्षमार्ग के अवयवरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विशेष व्याख्यान रूप से छह सूत्र हैं। इस प्रकार दो स्थलों के समुदायरूप आठ गाथाओं द्वारा प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

२५६. अतः परं ध्यानध्यातृध्येयध्यानफलकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयम्, ततः परं पञ्च-परमेष्ठिव्याख्यानरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चकम्, ततश्च तस्यैव ध्यानस्योपसंहाररूपविशेष-व्याख्यानेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टयमिति स्थलत्रयसमुदायेन द्वादशसूत्रेषु द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

२५७. तथाहि। निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसाधकध्यानाभ्यासं कुरुत यूयमित्युपदिशति–

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥४७॥

निश्चय औ व्यवहार भेद से द्विविध यहाँ शिव-पंथ रहा।
ध्यान काल में निश्चित उसको पाता है मुनि संत अहा॥
इसीलिए तुम दत्त-चित्त हो एक-मना हो विजित-मना।
सतत करो अभ्यास ध्यान का शीघ्र बनो फिर विगत-मना॥४७॥

२५८. वृत्ति–दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा द्विविधमपि मोक्षहेतुं ध्यानेन प्राप्नोति यस्मात् मुनिर्नियमात्। तद्यथा–निश्चयरत्नत्रयात्मकं निश्चयमोक्षहेतुं निश्चयमोक्षमार्गं तथैव व्यवहाररत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षहेतुं व्यवहारमोक्षमार्गं च यं साध्यसाधकभावेन कथितवान् पूर्वं

---

२५६. अब इसके आगे ध्यान, ध्याता (ध्यान करने वाला)। ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) और ध्यान का फल इनके वर्णन की मुख्यता से प्रथम स्थल में तीन गाथायें, तदनन्तर पंच-परमेष्ठियों के व्याख्यान रूप से दूसरे स्थल में पाँच गाथायें और इसके पश्चात् उसी ध्यान के उपसंहाररूप विशेष व्याख्यान द्वारा तीसरे स्थल में चार गाथायें, इस प्रकार तीन स्थलों के समुदाय से बारह गाथा सूत्रमयी दूसरे अन्तराधिकार की समुदायरूप भूमिका है।

२५७. अतः निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग को साधने वाले ध्यान का आप सब अभ्यास करो, ऐसा उपदेश देते हैं–

अन्वयार्थ–(जं) जिस कारण से **(मुणी)** आत्मज्ञानी मुनि **(दुविहं पि)** दोनों प्रकार के ही **(मोक्खहेउं)** मोक्ष के कारणों को **(झाणे)** ध्यान में **(णियमा)** नियम से **(पाउणदि)** प्राप्त कर लेता है **(तम्हा)** उस कारण से **(पयत्तचित्ता)** प्रयत्नचित्त होते हुए **(जूयं)** तुम सब **(झाणं)** ध्यान का **(समब्भसह)** अच्छे प्रकार से अभ्यास करो।

गाथार्थ–ध्यान करने से मुनि नियम से निश्चय और व्यवहाररूप मोक्षमार्ग को पाते हैं। इस कारण तुम चित्त को एकाग्र करके उस ध्यान का भले प्रकार अभ्यास करो॥४७॥

२५८. वृत्त्यर्थ–दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा क्योंकि मुनि नियम से ध्यान द्वारा दोनों प्रकार के मोक्ष-कारणों को प्राप्त होते हैं। जैसे कि निश्चय रत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्ष कारण अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग और इसीप्रकार व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप व्यवहार मोक्षहेतु अर्थात्

तद्विधमपि निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकपरमध्यानेन मुनिः प्राप्नोति यस्मात्कारणात् **तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह** तस्मात् प्रयत्नचित्ताः सन्तो हे भव्या! यूयं ध्यानं सम्यगभ्यसत। तथाहि—तस्मात्कारणाद् दृष्टश्रुतानुभूतनानामनोरथरूपसमस्तशुभाशुभरागादिविकल्पजालं त्यक्त्वा परमस्वास्थ्यसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवे स्थित्वा च ध्यानाभ्यासं कुरुत यूयमिति ॥४७॥

२५९. अथ ध्यातृपुरुषलक्षणं कथयति,-

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥४८॥

शुद्धातम के सहज - ध्यान में होना जब है तल्लीना।
चंचल मन को अविचल करना चाहो यदि निज-आधीना॥
मोह करो मत, राग करो मत, द्वेष करो मत, तुम तन में।
इष्ट रहे कुछ, अनिष्ट भी हैं पदार्थ मिलते त्रिभुवन में॥४८॥

२६०. वृत्ति—मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह समस्तमोहरागद्वेषजनितविकल्पजालरहितनिजपरमात्मतत्त्वभावनासमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसात्सकाशादुद्गता संजाता तत्रैव परमात्म-

---

व्यवहार मोक्षमार्ग, जिनको साध्य-साधक भाव से (निश्चय-साध्य और व्यवहार-साधक है) पहले कहा है, उन दोनों प्रकार के मोक्षमार्गों को, क्योंकि मुनि निर्विकार स्वसंवेदन स्वरूप परमध्यान द्वारा प्राप्त होते हैं, **तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह** इसी कारण एकाग्रचित्त होकर हे भव्यजनों! तुम भले प्रकार से ध्यान का अभ्यास करो अथवा इसी कारण देखे-सुने और अनुभव किये हुए अनेक मनोरथ रूप शुभाशुभ राग आदि विकल्प समूह का त्याग करके तथा परम-निज-स्वरूप में स्थित होने से उत्पन्न हुए सहजानन्दरूप एक-लक्षण वाले सुखरूपी अमृतरस के आस्वाद के अनुभव में स्थित होकर, तुम ध्यान का अभ्यास करो ॥४७॥

२५९. अब ध्यान करने वाले पुरुष का लक्षण कहते हैं—

अन्वयार्थ—(विचित्त-झाणप्पसिद्धीए) अनेक प्रकार के ध्यानों की सिद्धि के लिये **(जइ चित्तं)** यदि चित्त को **(थिरं इच्छहि)** स्थिर करना चाहते हो तो **(इट्ठणिट्ठअत्थेसु)** इष्ट, अनिष्ट पदार्थों में **(मुज्झह मा)** मोह मत करो **(रज्जह मा)** राग मत करो और **(दुस्सह मा)** द्वेष मत करो।

गाथार्थ—यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष और मोह मत करो ॥४८॥

२६०. वृत्त्यर्थ—मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह समस्त मोह, राग-द्वेष से उत्पन्न विकल्प समूह से रहित निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न हुई एक परमानन्दरूप सुखामृत रस से उत्पन्न हुई और उसी परमात्मा के सुख के आस्वाद में लीनरूप जो परम कला अर्थात् परमसंवित्ति (आत्मस्वरूप

सुखास्वादे लीना तन्मया या तु परमकला परमसंवित्तिस्तत्र स्थित्वा हे भव्या मोहरागद्वेषान्मा कुरुत। केषु विषयेषु? **इट्ठणिट्ठ-अट्ठेसु** स्रग्वनिताचन्दनताम्बूलादय इष्टेन्द्रियार्थाः, अहिविषकण्टकशत्रुव्याधिप्रभृतयः पुनरनिष्टेन्द्रियार्थास्तेषु। यदि किं? **थिरमिच्छहि जइ चित्तं** तत्रैव परमात्मानुभवे स्थिरं निश्चलं चित्तं यदीच्छत यूयं। किमर्थं? **विचित्तझाणप्पसिद्धीए** विचित्रं नानाप्रकारं यद्ध्यानं तत्प्रसिद्ध्यै निमित्तं, अथवा विगतं चित्तं चित्तोद्भवशुभाशुभविकल्पजालं यत्र तद्विचित्तं ध्यानं तदर्थमिति ॥

२६१. इदानीं तस्यैव ध्यानस्य तावदागमभाषया विचित्रभेदाः कथ्यन्ते। तथाहि—इष्टवियोगानिष्ट-संयोगव्याधिप्रतीकारभोगनिदानेषु वाञ्छारूपं चतुर्विधमार्त्तध्यानम्। तच्च तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादि-षट्गुणस्थानवर्तिजीवसम्भवम् यद्यपि मिथ्यादृष्टीनां तिर्यग्गतिकारणं भवति तथापि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां न भवति। कस्मादिति चेत् ? स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति विशिष्टभावनाबलेन तत्कारणभूत-संक्लेशाभावादिति।

२६२. अथ रौद्रध्यानं कथ्यते—हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयानन्दविषयसंरक्षणानन्दप्रभवं रौद्रं चतुर्विधम्।

का अनुभव), उसमें स्थित होकर, हे भव्य जीवो! मोह, राग-द्वेष को मत करो। किनमें मोह-राग-द्वेष मत करो? **इट्ठणिट्ठ अट्ठेसु** माला, स्त्री, चन्दन, ताम्बूल आदिरूप इंद्रियों के इष्ट विषयों में व सर्प, विष, कांटा, शत्रु तथा रोग आदि इन्द्रियों के अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष मत करो, **थिरमिच्छहि जइ चित्तं** यदि उसी परमात्मा के अनुभव में तुम निश्चल चित्त को चाहते हो। किसलिए स्थिर चित्त को चाहते हो? **विचित्तझाणप्पसिद्धीए** विचित्र अर्थात् अनेक तरह के ध्यान की सिद्धि के लिए। अथवा जहाँ पर चित्त से उत्पन्न होने वाला शुभ-अशुभ विकल्प समूह दूर हो गया है, सो 'विचित्र ध्यान' है, उस विचित्र ध्यान की सिद्धि के लिए।

२६१. अब प्रथम ही आगमभाषा के अनुसार उसी ध्यान के नानाप्रकार के भेदों का कथन करते हैं—वह इस प्रकार है इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग और रोग इन तीनों को दूर करने में तथा भोगों व भोगों के कारणों में वांछारूप चार प्रकार का आर्तध्यान है (१. इष्ट का वियोग, २. अनिष्ट का संयोग, ३. रोग, इनके होने पर इनके दूर करने की इच्छा करना और ४. भोग निदानों की वांछा करना)। वह आर्तध्यान तरतमता से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से प्रमत्तगुणस्थान तक के जीवों के होता है। वह आर्तध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवों के तिर्यञ्चगति के बन्ध का कारण होता है तथापि जिस जीव के सम्यक्त्व से पहले तिर्यञ्च आयु बन्ध चुकी, उसको छोड़कर अन्य सम्यग्दृष्टि के वह आर्तध्यान तिर्यञ्चगति का कारण नहीं है। **शंका**—क्यों नहीं है? **उत्तर**—''निज-शुद्ध-आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है'' ऐसी भावना के कारण सम्यग्दृष्टि जीवों के तिर्यञ्चगति का कारणरूप संक्लेश नहीं होता।

२६२. अब रौद्रध्यान को कहते हैं। १. रौद्रध्यान—हिंसानन्द (हिंसा करने में आनंद मानना), २. मृषानन्द (झूठ बोलने में आनन्द मानना), ३. स्तेयानन्द (चोरी करने में प्रसन्न होना), ४. विषयसंरक्षणानन्द

तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिपञ्चमगुणस्थानवर्त्तिजीवसम्भवम् तच्च मिथ्यादृष्टीनां नरकगतिकारणमपि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां तत्कारणं न भवति। तदपि कस्मादिति चेत्? निजशुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयं विशिष्टभेदज्ञानबलेन तत्कारणभूततीव्रसंक्लेशाभावादिति॥

२६३. अतः परमार्त्तरौद्रपरित्यागलक्षणमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयसंज्ञचतुर्भेदभिन्नं, तारतम्य-वृद्धिक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्ताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्तीजीवसंभवं,मुख्यवृत्त्या पुण्य-बन्धकारणमपि परम्परया मुक्तिकारणं चेति धर्मध्यानं कथ्यते। तथाहि—स्वयं मन्दबुद्धित्वेऽपि विशिष्टोपाध्यायाभावेऽपि शुद्धजीवादिपदार्थानां सूक्ष्मत्वेऽपि सति

"सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यन्न हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥१॥"

इति श्लोककथितक्रमेण पदार्थनिश्चयकरणमाज्ञाविचयध्यानं भण्यते। तथैव भेदाभेदरत्नत्रय-भावनाबलेनास्माकं परेषां वा कदा कर्मणामपायो विनाशो भविष्यतीति चिन्तनमपायविचयं ज्ञातव्यम्। शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्मविपाकरहितोऽप्ययं जीवः पश्चादनादिकर्मबन्धवशेन पापस्योदयेन नारकादि-

---

(परिग्रह की रक्षा में आनन्द मानना) के भेद से चार प्रकार का है। वह मिथ्यादृष्टि से पंचम गुणस्थान तक के जीवों के तरतमता से होता है। रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि जीवों के नरकगति का कारण है, तो भी जिस जीव ने सम्यक्त्व से पूर्व नरकायु बाँध ली है उसके अतिरिक्त अन्य सम्यग्दृष्टियों के वह रौद्रध्यान नरकगति का कारण नहीं होता। **प्रश्न**—ऐसा क्यों है? **उत्तर**— सम्यग्दृष्टियों के "निजशुद्ध-आत्म-तत्त्व ही उपादेय है" इस प्रकार के विशिष्ट भेदज्ञान के बल से नरकगति का कारणभूत तीव्र संक्लेश नहीं होता।

२६३. इसके आगे आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान के त्यागरूप, १. आज्ञाविचय, २. अपायविचय, ३. विपाकविचय और ४. संस्थानविचय इन चार भेद वाला तरतम वृद्धि के क्रम से असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त इन चार गुणस्थान वाले जीवों के होने वाला और प्रधानता से पुण्य-बन्ध का कारण होने पर भी परम्परा से मोक्ष का कारणभूत, ऐसा धर्मध्यान कहा जाता है। वह इस प्रकार है—स्वयं अल्पबुद्धि हो तथा विशेष ज्ञानी गुरु की प्राप्ति न हो तब शुद्ध जीव आदि पदार्थों की सूक्ष्मता होने पर, श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ जो सूक्ष्म तत्त्व है वह हेतुओं से खण्डित नहीं हो सकता, अतः जो सूक्ष्म तत्त्व है उसको जिनेन्द्रदेव की आज्ञानुसार ग्रहण करना चाहिए क्योंकि श्री जिनेन्द्र अन्यथावादी (झूठा उपदेश देने वाले) नहीं हैं ॥१॥

इस श्लोक के अनुसार पदार्थ का निश्चय करना, आज्ञाविचय प्रथम धर्मध्यान कहलाता है। उसी प्रकार भेद-अभेद-रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे अथवा अन्य जीवों के कर्मों का नाश कब होगा, इस प्रकार का चिंतन अपायविचय दूसरा धर्मध्यान जानना चाहिए। शुद्ध निश्चयनय से यह जीव शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से रहित है, फिर भी अनादि कर्म-बन्ध के कारण पाप के उदय

दु:खविपाकफलमनुभवति, पुण्योदयेन देवादिसुखविपाकमनुभवतीति विचारणं विपाकविचयं विज्ञेयम्। पूर्वोक्तलोकानुप्रेक्षाचिंतनं संस्थानविचयम्। इति चतुर्विधं धर्मध्यानं भवति।

२६४. अथ पृथक्त्ववितर्कवीचारं एकत्ववितर्कवीचारं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसंज्ञं व्युपरतक्रिया-निवृत्तिसंज्ञं चेति भेदेन चतुर्विधं शुक्लध्यानं कथयति। तद्यथा—पृथक्त्ववितर्कवीचारं तावत्कथ्यते। द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते, स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते, अनीहितवृत्त्यार्थान्तरपरिणमनं वचनाद्वचनान्तरपरिणमनं मनोवचनकाययोगेषु योगाद्योगान्तरपरिणमनं वीचारो भण्यते। अयमत्रार्थः—यद्यपि ध्याता पुरुषः स्वशुद्धात्मसंवेदनं विहाय बहिश्चिन्तां न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानं भण्यते। तच्चोपशमश्रेणिविवक्षायामपूर्वोपशमकानिवृत्त्युपशमक-सूक्ष्मसाम्परायोपशमकोपशान्तकषायपर्यन्तगुणस्थानचतुष्टये भवति। क्षपकश्रेण्यां पुनरपूर्वकरण-क्षपकानिवृत्तिकरणक्षपकसूक्ष्मसाम्परायक्षपकाभिधानगुणस्थानत्रये चेति प्रथमं शुक्लध्यानं व्याख्यातम्।

२६५. निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसंवित्तिपर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन्

से नारक आदि के दु:खरूप फल का अनुभव करता है और पुण्य के उदय से देव आदि के सुखरूप विपाक को भोगता है; इस प्रकार विचार करना सो विपाकविचय तीसरा धर्मध्यान जानना चाहिए। पहले कही हुई लोकानुप्रेक्षा का चिंतन करना, संस्थानविचय चौथा धर्मध्यान है। इस तरह चार प्रकार का धर्मध्यान होता है।

२६४. अब १.पृथक्त्ववितर्कवीचार, २.एकत्ववितर्क अवीचार, ३.सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ४. व्युपरतक्रियानिवृत्ति, ऐसे चार प्रकार के शुक्लध्यान को कहते हैं। 'पृथक्त्व-वितर्कवीचार' प्रथम शुक्लध्यान का कथन करते हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय के भिन्नपने को 'पृथक्त्व' कहते हैं। निज-शुद्ध-आत्मा के अनुभवरूप भावश्रुत को और निज-शुद्ध-आत्मा को कहने वाले अन्तरजल्परूप वचन को 'वितर्क' कहते हैं। इच्छा बिना ही एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक वचन से दूसरे वचन में, मन-वचन-काय इन तीनों योगों में से किसी एक योग से दूसरे योग में, जो परिणमन (पलटन) है, उसको वीचार कहते हैं। इसका यह अर्थ है—यद्यपि ध्यान करने वाला पुरुष निज-शुद्ध-आत्मसंवेदन को छोड़कर बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता, तथापि जितने अंशों से स्वरूप में स्थिरता नहीं है उतने अंशों से अनिच्छितवृत्ति से विकल्प उत्पन्न होते हैं, इस कारण इस ध्यान को पृथक्त्ववितर्कवीचार कहते हैं। यह प्रथम शुक्लध्यान उपशमश्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरण-उपशमक, अनिवृत्तिकरण-उपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक और उपशान्तकषाय, इन (८, ९,१०,११) चार गुणस्थानों में होता है। क्षपक-श्रेणी की विवक्षा में अपूर्वकरणक्षपक, अनिवृत्तिकरणक्षपक और सूक्ष्मसाम्परायक्षपक नामक (८, ९,१०) इन तीन गुणस्थानों में होता है। इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यान का व्याख्यान हुआ।

२६५. निज-शुद्ध-आत्मद्रव्य में या विकार रहित आत्मसुख-अनुभवरूप पर्याय में या

प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षणभावश्रुतबलेन स्थिरीभूय वीचारं गुणद्रव्यपर्याय-परावर्त्तनं करोति यत्तदेकत्ववितर्कवीचारसंज्ञं क्षीणकषायगुणस्थानसम्भवं द्वितीयं शुक्लध्यानं भण्यते। तेनैव केवल-ज्ञानोत्पत्तिरिति। अथ सूक्ष्मकायक्रियाव्यापाररूपं च तदप्रतिपाति च सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसंज्ञं तृतीयं शुक्लध्यानम्। तच्चोपचारेण सयोगिकेवलिजिने भवतीति। विशेषेणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद्व्युपरतक्रियं च तदनिवृत्ति चानिवर्त्तकं च तद्व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थं शुक्लध्यानं व्याख्यातम्।

२६६. अध्यात्मभाषया पुनः सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धिं कृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहमनन्तसुखोऽहमित्यादिभावनारूपमभ्यन्तरधर्मध्यान-मुच्यते। पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादितदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरङ्गधर्मध्यानं भवति। तथैव स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षणं शुक्लध्यानमिति। अथवा

''पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम्॥१॥''

इति श्लोककथितक्रमेण विचित्रध्यानं ज्ञातव्यमिति॥

उपाधिरहित स्वसंवेदन गुण में, इन तीनों में से जिस एक द्रव्य, गुण या पर्याय में (जो ध्यान) प्रवृत्त हो गया और उसी में वितर्क नामक निजात्मानुभवरूप भावश्रुत के बल से स्थिर होकर अवीचार अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय में परावर्तन नहीं करता, वह एकत्ववितर्क अवीचार नामक, क्षीणकषाय (१२वें) गुणस्थान में होने वाला, दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है। इस दूसरे शुक्लध्यान से ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। अब सूक्ष्म काय की क्रिया के व्यापाररूप और अप्रतिपाति (कभी न गिरे)ऐसा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरा शुक्लध्यान है। वह उपचार से सयोगिकेवलि-जिन (१३वें) गुणस्थान में होता है। विशेषरूप से उपरत अर्थात् दूर हो गई है क्रिया जिसमें वह व्युपरतक्रिय है; व्युपरतक्रिय हो और अनिवृत्ति अर्थात् निवृत्ति न हो (मुक्त न हुआ हो) वह व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामा चतुर्थ शुक्लध्यान है। वह उपचार से अयोगिकेवलिजिन के (१४ वें गुणस्थान में) होता है। आगम भाषा से नाना प्रकार के ध्यानों का संक्षेप से कथन हुआ।

२६६. अध्यात्म भाषा से, सहज-शुद्ध-परम-चैतन्यशाली तथा परिपूर्ण आनन्द का धारी भगवान् निज-आत्मा में उपादेयबुद्धि (निज-शुद्ध आत्मा ही ग्राह्य है) करके, फिर ''मैं अनन्त ज्ञानमयी हूँ, मैं अनन्त सुखरूप हूँ' इत्यादि भावनारूप अन्तरंग धर्मध्यान है। पञ्चपरमेष्ठियों की भक्ति आदि तथा उसके अनुकूल शुभ अनुष्ठान का करना बहिरंग धर्मध्यान है। उसी प्रकार निज-शुद्ध-आत्मा में विकल्परहित समाधिरूप शुक्लध्यान है। अथवा, मन्त्रवाक्यों में स्थित पदस्थध्यान है, निज-आत्मा का चिंतन पिण्डस्थध्यान है, सर्वचिद्रूप का चिंतन रूपस्थध्यान है और निरंजन का ध्यान रूपातीत ध्यान है ॥१॥

इस श्लोक में कहे हुए क्रम के अनुसार अनेक प्रकार का ध्यान जानना चाहिए।

२६७. अथ ध्यानप्रतिबन्धकानां मोहरागद्वेषाणां स्वरूपं कथ्यते। शुद्धात्मादितत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशजनको मोहो दर्शनमोहो मिथ्यात्वमिति यावत्। निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणवीतराग-चारित्रप्रच्छादकचारित्रमोहो रागद्वेषौ भण्येते। चारित्रमोहो रागद्वेषौ कथं भण्येते? इति चेत्? कषायमध्ये क्रोधमानद्वयं द्वेषाङ्गं, मायालोभद्वयं च रागाङ्गं, नोकषायमध्ये तु स्त्रीपुंनपुंसकवेदत्रयं हास्यरतिद्वयं च रागाङ्गं, अरतिशोकद्वयं भयजुगुप्साद्वयं च द्वेषाङ्गमिति ज्ञातव्यम्।

२६८. अत्राह शिष्यः–रागद्वेषादयः किं कर्मजनिताः किं जीवजनिता इति? तत्रोत्तरं–स्त्रीपुरुष-संयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासंयोगोत्पन्नवर्णविशेष इवोभयसंयोगजनिता इति। पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते। तथैवाशुद्धनिश्चयेन जीवजनिता इति। स चाशुद्धनिश्चयः शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।

२६९. अथ मतं–साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन कस्यैत इति पृच्छामो वयम्। तत्रोत्तरं–साक्षाच्छुद्ध-निश्चयेन स्त्रीपुरुषसंयोगरहितपुत्रस्यैव, सुधाहरिद्रासंयोगरहितरङ्गविशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति

---

२६७. अब ध्यान के प्रतिबन्धक (रोकने वाले) मोह, राग तथा द्वेष का स्वरूप कहते हैं। शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न करने वाला मोह, दर्शनमोह अथवा मिथ्यात्व है। निर्विकार-निज-आत्मानुभवरूप वीतराग चारित्र को ढकने वाला चारित्रमोह अथवा राग-द्वेष कहलाता है। **प्रश्न—**चारित्रमोह शब्द से राग-द्वेष कैसे कहे गये ? **उत्तर—**कषायों में क्रोध-मान ये दो द्वेष अंश हैं और माया-लोभ ये दोनों राग अंश हैं। नोकषायों में स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये तीन तथा हास्य-रति ये दो, ऐसी पाँच नोकषाय राग के अंश; अरति-शोक ये दो, भय तथा जुगुप्सा ये दो, इन चार नोकषायों को द्वेष का अंश जानना चाहिए।

२६८. शिष्य पूछता है—राग-द्वेष आदि, कर्मों से उत्पन्न हुए हैं या जीव से? इसका **उत्तर—**स्त्री और पुरुष इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के समान, चूना तथा हल्दी इन दोनों के मेल से उत्पन्न हुए लाल रंग की तरह, राग-द्वेष आदि जीव और कर्म इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। नय की विवक्षा के अनुसार, विवक्षित एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से तो राग-द्वेष कर्मजनित कहलाते हैं। अशुद्ध-निश्चयनय से जीवजनित कहलाते हैं। यह अशुद्ध-निश्चयनय, शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय ही है।

२६९. **शंका—**साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय से ये राग-द्वेष किसके हैं; ऐसा हम पूछते हैं? **समाधान—**स्त्री और पुरुष के संयोग बिना पुत्र की अनुत्पत्ति की भाँति और चूना व हल्दी के संयोग बिना लाल रंग की अनुत्पत्ति के समान साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से इन राग-द्वेषादि की उत्पत्ति ही नहीं होती। इसलिए हम तुम्हारे प्रश्न का उत्तर ही कैसे देवें। (जैसे पुत्र न केवल स्त्री से ही होता है और न केवल पुरुष से ही होता है किन्तु स्त्री व पुरुष दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है; इसी प्रकार राग-द्वेष आदि न केवल कर्मजनित ही हैं और न केवल जीव-जनित ही है किन्तु जीव और कर्म इन दोनों के संयोगजनित हैं। साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की दृष्टि में जीव और पुद्‌गल दोनों शुद्ध

कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति ॥४८॥ एवं ध्यातृव्याख्यानमुख्यत्वेन तद्ध्यानेन विचित्रध्यानकथनेन च सूत्रं गतम्॥

२७०. अत ऊर्ध्वं पदस्थं ध्यानं मंत्रवाक्यस्थं यदुक्तं तस्य विवरणं कथयति—

पणतीससोलछप्पणचदुदुगमेगं च जवहज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण॥४९॥

णमोकार 'पैंतीस' वर्ण का मन्त्र रहा सोलह, छह का।
पाँच, चार, दो इक, वर्णों का द्वार-ध्यान का, निज-गृह का ॥
यों परमेष्ठी-वाचक वर्णों का नियमित जप-ध्यान करो।
या गुरु -संकेतों पर मन को कीलित कर अवधान करो ॥४९॥

२७१. वृत्ति—पणतीस ''णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं'' एतानि पञ्चत्रिंशदक्षराणि सर्वपदानि भण्यन्ते। **सोल ''अरिहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय साहू''** एतानि षोडशाक्षराणि नामपदानि भण्यन्ते। **छ 'अरिहंतसिद्ध'** एतानि षडक्षराणि अर्हत्सिद्धयोर्नामपदे द्वे भण्येते। **पण ''अ सि आ उ सा''** एतानि पञ्चाक्षराणि आदिपदानि भण्यन्ते। **चदु 'अरिहंत'** इदमक्षरचतुष्टयमर्हतो नामपदम्। **दुगं 'सिद्ध'** इत्यक्षरद्वयं सिद्धस्य नामपदम्। **एगं**

हैं और इनके संयोग का अभाव है। इसलिए साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति ही नहीं है)। इस प्रकार ध्याता (ध्यान करने वाले) के व्याख्यान की प्रधानता से तथा उसके आश्रय से विचित्र ध्यान के कथन से यह गाथा सूत्र समाप्त हुआ ॥४८॥

२७०. अब आगे ''मन्त्रवाक्यों में स्थित जो पदस्थ ध्यान'' कहा गया है, उसका वर्णन करते हैं—

अन्वयार्थ—(गुरूवएसेण) गुरुओं के उपदेश से **(परमेट्ठि-वाचयाणं)** परमेष्ठियों के वाचक **(पणतीस)** पैंतीस **(सोल)** सोलह **(छप्पण)** छह, पाँच **(चदु दुगं)** चार, दो **(च)** और **(एगं)** एक अक्षर के मन्त्र को तथा **(अण्णं च)** अन्य भी मन्त्रों को **(जवह झाएह)** जपो और ध्यान करो।

गाथार्थ—पञ्च परमेष्ठियों को कहने वाले पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षररूप मन्त्रपद हैं, उनका जाप्य करो और ध्यान करो; इनके अतिरिक्त अन्य मन्त्रपदों को भी गुरु के उपदेशानुसार जपो और ध्यावो ॥४९॥

२७१. वृत्त्यर्थ—पणतीस णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ये पैंतीस अक्षर 'सर्वपद' कहलाते हैं। **सोल** अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू ये १६ अक्षर पञ्चपरमेष्ठियों के 'नाम पद' कहलाते हैं। **छ** अरिहंतसिद्ध ये छह अक्षर-अर्हन्त-सिद्ध इन दो परमेष्ठियों के 'नाम पद' कहे जाते हैं। **पण** अ सि आ उ सा ये पञ्च अक्षर पञ्च परमेष्ठियों के 'आदिपद' कहलाते हैं। **चउ** अरिहंत ये चार अक्षर अर्हन्त परमेष्ठी के नामपद हैं। **दुगं**

च 'अ' इत्येकाक्षरमर्हत् आदिपदम्।

२७२. अथवा 'ओं' एकाक्षरं पञ्चपरमेष्ठिनामादिपदम्। तत्कथमिति चेत्?

''अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ॐकारो पंच परमेट्ठी।।१।।''

इति गाथाकथितप्रथमाक्षराणां ''समानः सवर्णे दीर्घीभवति'' ''परश्च लोपम्'' ''उवर्णे ओ'' इति स्वरसन्धिविधानेन 'ओं' शब्दो निष्पद्यते। कस्मादिति? **जवहज्झाएह** एतेषां पदानां सर्वमन्त्रवादपदेषु मध्ये सारभूतानां इहलोकपरलोकेष्टफलप्रदानामर्थं ज्ञात्वा पश्चादनन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण वचनोच्चारणेन च जापं कुरुत। तथैव शुभोपयोगरूपत्रिगुप्तावस्थायां मौनेन ध्यायत। पुनरपि कथम्भूतानां? **परमेट्ठिवाचयाणं** 'अरिहंत' इति पदवाचकमनन्तज्ञानादिगुणयुक्तोऽर्हद्वाच्योऽभिधेय इत्यादिरूपेण पञ्चपरमेष्ठिवाचकानां। **अण्णं च गुरूवएसेण** अन्यदपि द्वादशसहस्रप्रमितपञ्चनमस्कारग्रन्थकथितक्रमेण लघुसिद्धचक्रं, बृहत्सिद्धचक्रमित्यादिदेवार्चनविधानं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकगुरुप्रसादेन ज्ञात्वा ध्यातव्यम्। इति पदस्थ-

---

सिद्ध ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठी के नामपद हैं। **एगं च** 'अ' यह एक अक्षर अर्हत्परमेष्ठी का आदिपद है।

२७२. अथवा 'ओं' यह एक अक्षर पाँचों परमेष्ठियों के आदिपद स्वरूप हैं। **प्रश्न—**ओं यह पञ्च-परमेष्ठियों के आदिपद रूप कैसे है? **उत्तर—**अरिहंत का प्रथम अक्षर 'अ', अशरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर 'अ', आचार्य का प्रथम अक्षर 'आ', उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ', मुनि का प्रथम अक्षर 'म्' इस प्रकार इन पाँचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षरों से बना हुआ 'ओंकार' है, वही पञ्चपरमेष्ठियों के नाम का आदिपद है। इस प्रकार गाथा में कहे हुए जो प्रथम अक्षर (अ अ आ उ म्) हैं, इनमें पहले ''समानः सवर्णे दीर्घी भवति'' इस सूत्र से अ अ आ मिलकर दीर्घ आ बनाकर ''परश्च लोपम्'' इस सूत्र से पर अक्षर आ का लोप करके अ अ आ इन तीनों के स्थान में एक आ सिद्ध किया फिर ''उवर्णे ओ'' इस सूत्र से आउ के स्थान में ओ बनाया ऐसे स्वरसंधि करने से ओम् यह शब्द निष्पन्न हुआ। किस कारण? **जवह ज्झाएह** सब मन्त्रशास्त्र के पदों में सारभूत इस लोक तथा परलोक में इष्ट फल को देने वाले इन पदों का अर्थ जानकर फिर अनन्त-ज्ञान आदि गुणों के स्मरण रूप वचन का उच्चारण करके जाप करो। इसी प्रकार शुभोपयोगरूप त्रिगुप्त (मन, वचन, काय इन तीनों की गुप्ति) अवस्था में मौनपूर्वक (इन पदों का) ध्यान करो। फिर किन पदों को जपें, ध्यावें? **परमेट्ठिवाचयाणं** 'अरिहंत' पद वाचक है और अनन्त ज्ञान आदि गुणों से युक्त श्रीअर्हत् इस पद का वाच्य व अभिधेय (कहा जाने वाला) है; आदि प्रकार से पञ्चपरमेष्ठियों के वाचकों को जपो। **अण्णं न गुरूवएसेण** पूर्वोक्त पदों से अन्य का भी तथा बारह-हजार श्लोक प्रमाण पंचनमस्कारमाहात्म्य नामक ग्रन्थ में कहे हुए क्रम से लघुसिद्धचक्र, बृहत् सिद्धचक्र इत्यादि देवों के पूजन के विधान का,

ध्यानस्वरूपं व्याख्यातम् ॥४९॥

२७३. एवमनेन प्रकारेण

''गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम्।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं फलं संवरनिर्जरौ॥१॥''

इति श्लोककथितलक्षणानां ध्यातृध्येयध्यानफलानां संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथात्रयेण द्वितीयान्तराधिकारे प्रथमं स्थलं गतम्।

२७४. अतः परं रागादिविकल्पोपाधिरहितनिजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसदानन्दैकलक्षण-सुखामृतरसास्वादतृप्तिरूपस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं यच्छुभोपयोगलक्षणं व्यवहारध्यानं तद्ध्येयभूतानां पंचपरमेष्ठिनां मध्ये तावदर्हत्स्वरूपं कथयामीत्येका पातनिका। द्वितीया तु पूर्वसूत्रोदितसर्वपदनामपदादिपदानां वाचकभूतानां वाच्या ये पञ्चपरमेष्ठिनस्तद्व्याख्याने क्रियमाणे प्रथमतस्तावज्जिनस्वरूपं निरूपयामि। अथवा तृतीया पातनिका पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्यानत्रयस्य ध्येयभूतमर्हत्सर्वज्ञस्वरूपं दर्शयामीति पातनिकात्रयं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति–

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

भेदाभेद-रत्नत्रय के आराधक गुरु के प्रसाद से जानकर, ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार पदस्थ ध्यान के स्वरूप का कथन किया ॥४९॥

२७३. इस प्रकार पाँचों इंद्रियों और मन को रोकने वाला ध्याता (ध्यान करने वाला) है; यथास्थित पदार्थ, ध्येय हैं; एकाग्र चिन्तन ध्यान है; संवर तथा निर्जरा ये दोनों ध्यान के फल हैं ॥१॥ इस श्लोक में कहे हुए लक्षण वाले ध्याता, ध्येय, ध्यान और फल का संक्षेप से कथन करने वाली तीन गाथाओं से द्वितीय अन्तराधिकार में प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

२७४. अब इसके, आगे राग आदि विकल्परूप उपाधि से रहित निज-परमात्म-पदार्थ की भावना से उत्पन्न होने वाले सदानन्द एक लक्षण वाले सुखामृत रसास्वाद से तृप्ति रूप निश्चय-ध्यान का परम्परा से कारणभूत जो शुभोपयोग लक्षण वाला व्यवहार ध्यान है उसके ध्येयभूत पंच-परमेष्ठियों में से प्रथम ही जो अर्हत् परमेष्ठी हैं उनका स्वरूप कहता हूँ, यह एक पातनिका है। पूर्व गाथा में कहे हुए सर्वपद-नामपद-आदि-पदरूप वाचकों के वाच्य जो पञ्च-परमेष्ठी, उनका व्याख्यान करने में प्रथम ही श्री जिनेन्द्र के स्वरूप को निरूपण करता हूँ, यह दूसरी पातनिका है। अथवा पदस्थ, पिंडस्थ तथा रूपस्थ इन तीन ध्यानों के ध्येयभूत श्री अर्हंत सर्वज्ञ के स्वरूप को दिखलाता हूँ, यह तीसरी पातनिका है। इस प्रकार इन पूर्वोक्त तीनों पातनिकाओं को मन में धारण करके सिद्धान्तदेव श्री नेमिचन्द्र आचार्य इस अग्रिम गाथासूत्र का प्रतिपादन करते हैं—

घाति-कर्म चउ समाप्त करके शुद्ध हुए जो आप्त हुए।
अनन्त-दर्शन अनन्त-सुख-बल पूर्ण- ज्ञान को प्राप्त हुए॥
परमौदारिक तन-धारक हो परम पूज्य अरहन्त हुए।
इन्हें बनाओ ध्येय ध्यान में जय! जय! जय! जयवंत हुये ॥५०॥

२७५. वृत्ति—णट्ठचदुघाइकम्मो निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगध्यानेन पूर्वं घातिकर्ममुख्यभूत-मोहनीयस्य विनाशनात्तदनन्तरं ज्ञानदर्शनावरणान्तरायसंज्ञयुगपद्घातित्रयविनाशकत्वाच्च प्रणष्टचतुर्घाति-कर्मा। **दंसणसुहणाणवीरियमईओ,** तेनैव घातिकर्माभावेन लब्धानन्तचतुष्टयत्वात् सहजशुद्धाविनश्वर-दर्शनज्ञानसुखवीर्यमयः। **सुहदेहत्थो** निश्चयेनाशरीरोऽपि व्यवहारेण सप्तधातुरहितदिवाकरसहस्रभासुर-परमौदारिकशरीरत्वात् शुभदेहस्थः। **सुद्धो**—

''क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च खेदः स्वेदो मदोऽरतिः।१।''
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृताः।
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः।२।''

अन्वयार्थ—(णट्ठ-चदुघाइकम्मो) नष्ट कर दिये हैं चार घातिया कर्म जिन्होंने ऐसे **(दंसणसुहणाणवीरियमइओ)** अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तज्ञान व अनन्तवीर्य से सहित **(सुह-देहत्थो)** शुभ, परम औदारिक शरीर में स्थित **(सुद्धो अप्पा)** अठारह दोषों से रहित शुद्ध, आत्मा **(अरिहो)** अरिहन्त परमेष्ठी हैं वे **(विचिंतिज्जो)** विशेष चिंतन/ध्यान के योग्य हैं।

गाथार्थ—चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले, अनन्त-दर्शन-सुख-ज्ञान और वीर्य के धारक, उत्तम देह में विराजमान और शुद्ध-आत्मस्वरूप अरिहंत का ध्यान करना चाहिए ॥५०॥

२७५. वृत्त्यर्थ—णट्ठचदुघाइकम्मो निश्चयरत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोगमयी ध्यान के द्वारा पहले घातिया कर्मों में प्रधान मोहनीयकर्म का नाश करके, पश्चात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनों ही घातिया कर्मों का एक ही साथ नाश करने से, जो चारों घातिया कर्मों का नष्ट करने वाले हो गये हैं। **दंसणसुहणाणवीरियमईओ** उन घातिया कर्मों के नाश से उत्पन्न अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य) के धारक होने से स्वाभाविक-शुद्ध-अविनाशी-ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमयी हैं। **सुहदेहत्थो** निश्चयनय से शरीर रहित हैं तो भी व्यवहारनय की अपेक्षा, सात धातुओं (कुधातु) से रहित व हजारों सूर्यों के समान देदीप्यमान ऐसे परम औदारिक शरीर वाले हैं, इस कारण शुभदेह में विराजमान हैं। **सुद्धो**–१. क्षुधा, २. तृषा, ३. भय, ४. द्वेष, ५. राग, ६. मोह, ७. चिंता, ८. जरा, ९. रुजा (रोग), १०. मरण, ११.स्वेद (पसीना), १२. खेद, १३. मद, १४. अरति, १५, विस्मय, १६. जन्म, १७. निद्रा, १८. विषाद; इन १८ दोषों से रहित निरंजन आप्त श्री जिनेन्द्र हैं ॥२॥

इति श्लोकद्वयकथिताष्टादशदोषरहितत्वात् शुद्धः।

२७६. **अप्पा** एवं गुणविशिष्ट आत्मा। **अरिहो** अरिशब्दवाच्यमोहनीयस्य, रजःशब्दवाच्यज्ञान-दर्शनावरणद्वयस्य, रहस्यशब्दवाच्यान्तरायस्य च हननाद्विनाशात्सकाशात् इन्द्रादिविनिर्मितां गर्भावतरण-जन्माभिषेकनिःक्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणाभिधानपञ्चमहाकल्याणरूपां पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते। **विचिंतिज्जो** इत्युक्तविशेषणैर्विशिष्टमाप्तागमप्रभृतिग्रन्थकथितवीतराग-सर्वज्ञाद्यष्टोत्तरसहस्रनामानमर्हंतं जिनभट्टारकं पदस्थपिंडस्थरूपस्थध्याने स्थित्वा विशेषेण चिन्तयत ध्यायत हे भव्या यूयमिति।

२७७. अत्रावसरे भट्टचार्वाकमतं गृहीत्वा शिष्यः पूर्वपक्षं करोति। नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः। खरविषाणवत्? तत्र प्रत्युत्तरं—किमत्र देशेऽत्र काले अनुपलब्धिः, सर्वदेशे काले वा। यद्यत्र देशेऽत्र काले नास्ति तदा सम्मत एव। अथ सर्वदेशकाले नास्तीति भण्यते तज्जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं कथं ज्ञातं भवता? ज्ञातं चेत्तर्हि भवानेव सर्वज्ञः। अथ न ज्ञातं तर्हि निषेधः कथं क्रियते? तत्र दृष्टान्तः—यथा कोऽपि

इस प्रकार इन दो श्लोकों में कहे हुए अठारह दोषों से रहित होने के कारण शुद्ध हैं।

२७६. अप्पा पूर्वोक्त गुणों की धारक आत्मा है। **अरिहो—**'अरि' शब्द से कहे जाने वाले मोहनीय कर्म का, 'रज' शब्द से वाच्य ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मों का तथा 'रहस्य' शब्द का वाच्य अन्तरायकर्म, इन चारों कर्मों का नाश करने से इन्द्र आदि द्वारा रची हुई गर्भावतार-जन्माभिषेक-तपकल्याणक-केवलज्ञानोत्पत्ति और निर्वाण समय में होने वाली पाँच महाकल्याण रूप पूजा के योग्य होते हैं, इस कारण अर्हन् कहलाते हैं। **विचिंतिज्जो** हे भव्यों! तुम पदस्थ, पिंडस्थ व रूपस्थ ध्यान में स्थित होकर, आप्त-उपदिष्ट आगम आदि ग्रन्थ में कहे हुए तथा इन उक्त विशेषणों सहित वीतराग-सर्वज्ञ आदि एक हजार आठ नाम वाले अर्हंत जिन-भट्टारक का विशेष रूप से चिंतन करो।

२७७. इस अवसर पर भट्ट और चार्वाक मत का आश्रय लेकर शिष्य पूर्व पक्ष करता है—**प्रश्न—**सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि; उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, जैसे गधे के सींग? **उत्तर—**सर्वज्ञ की प्राप्ति क्या इस देश और इस काल में नहीं है या सब देश और सब काल में नहीं है, यदि कहो कि इस देश और इस काल में सर्वज्ञ नहीं है, तब तो ठीक ही है, क्योंकि हम भी ऐसा ही मानते हैं। यदि कहो सर्व देश और सर्व कालों में सर्वज्ञ नहीं है, तो तुमने यह कैसे जाना कि तीनों लोक और तीनों काल में सर्वज्ञ का अभाव है। यदि कहो कि अभाव जान लिया, तो तुम ही सर्वज्ञ हो गये (जो तीन लोक तथा तीन काल के पदार्थों को जानता है वही सर्वज्ञ है, सो तुमने यह जान ही लिया है कि तीनों लोक और तीनों कालों में सर्वज्ञ नहीं है, इसलिए तुम ही सर्वज्ञ सिद्ध हुए)। ''तीन लोक व तीनों काल में सर्वज्ञ नहीं'' इसको यदि नहीं जाना तो ''सर्वज्ञ नहीं है'' ऐसा निषेध कैसे करते हो? दृष्टान्त—जैसे कोई निषेध करने वाला, घट की आधारभूत पृथ्वी को नेत्रों से घट रहित देख कर,

निषेधको घटस्याधारभूतं घटरहितं भूतलं चक्षुषा दृष्ट्वा पश्चाद्वदत्यत्र भूतले घटो नास्तीति युक्तम्। यस्तु चक्षूरहितस्तस्य पुनरिदं वचनमयुक्तम्। तथैव यस्तु जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं जानाति तस्य जगत्त्रये कालत्रयेऽपि सर्वज्ञो नास्तीति वक्तुं युक्तं भवति, यस्तु जगत्त्रयं कालत्रयं न जानाति स सर्वज्ञनिषेधं कथमपि न करोति। कस्मादिति चेत्—जगत्त्रयकालत्रयपरिज्ञानेन स्वयमेव सर्वज्ञत्वादिति।

२७८. अथोक्तमनुपलब्धेरिति हेतुवचनं तदप्ययुक्तम्। कस्मादिति चेत्—किं भवतामनुपलब्धिः, किं जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिपुरुषाणां वा? यदि भवतामनुपलब्धिस्तावता सर्वज्ञाभावो न सिध्यति, भवद्भिरनुपलभ्यमानानां परकीयचित्तवृत्तिपरमाण्वादिसूक्ष्मपदार्थानामिव अथवा जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिपुरुषाणामनुपलब्धिस्तत्कथं ज्ञातं भवद्भिः। ज्ञातं चेत्तर्हि भवन्त एव सर्वज्ञा इति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति। इत्यादिहेतुदूषणं ज्ञातव्यम्। यथोक्तं खरविषाणवदिति दृष्टान्तवचनं तदप्यनुचितम्। खरे विषाणं नास्ति गवादौ तिष्ठतीत्यत्यन्ताभावो नास्ति यथा तथा सर्वज्ञस्यापि नियतदेशकालादिष्वभावेऽपि सर्वथा नास्तित्वं न भवति इति दृष्टान्तदूषणं गतम्।

फिर कहे कि ''इस पृथ्वी पर घट नहीं है'', तो उसका यह कहना ठीक है; परन्तु जो नेत्रहीन है, उसका ऐसा वचन ठीक नहीं है। [1]इसी प्रकार जो तीन जगत्, तीनकाल को सर्वज्ञ रहित जानता है, उसका यह कहना कि तीन जगत् तीन काल में सर्वज्ञ नहीं, उचित हो सकता है; किन्तु जो तीन जगत् तीन काल[2] को जानता है, वह सर्वज्ञ का निषेध किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। क्यों नहीं कर सकता?[3] तीन जगत् तीनकाल को जानने से वह स्वयं सर्वज्ञ हो गया, अतः वह सर्वज्ञ का निषेध नहीं कर सकता।

२७८. सर्वज्ञ के निषेध में ''सर्वज्ञ की अनुपलब्धि'' जो हेतु वाक्य है, वह भी ठीक नहीं। **प्रश्न**—क्यों ठीक नहीं? **उत्तर** यह है—क्या आपके ही सर्वज्ञ की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) है या तीन जगत् तीन काल के पुरुषों की अनुपलब्धि है। यदि आपके ही सर्वज्ञ की अनुपलब्धि है, तो इतने मात्र से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जैसे पर के मनोविचार तथा परमाणु आदि की आपके अनुपलब्धि है, तो भी उनका अभाव सिद्ध नहीं होता। यदि तीन जगत् तीन काल के पुरुषों के 'सर्वज्ञ' की अनुपलब्धि है, तो इसको आपने कैसे जाना? यदि कहो ''जान लिया'' तो आप ही सर्वज्ञ हुए, ऐसा पहले कहा जा चुका है। इस प्रकार से 'हेतु' में दूषण जानना चाहिए। सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि में जो ''गधे के सींग'' का दृष्टान्त दिया था, वह भी ठीक नहीं है। गधे के सींग नहीं हैं किन्तु गौ आदि के सींग हैं। सींग का जैसे अत्यन्त (सर्वथा) अभाव नहीं, वैसे ही 'सर्वज्ञ' का विवक्षित देश व काल में अभाव होने पर भी सर्वथा अभाव नहीं है। इस प्रकार दृष्टान्त में दूषण आया।

---

१. तथा योसौ जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं प्रत्यक्षेण जानाति स एव सर्वज्ञनिषेधे समर्थे, न चान्योन्ध इव, यस्तु जगत्त्रयं कालत्रयं जानाति स सर्वज्ञनिषेधं कथमपि न करोति। कस्मात् जगत्त्रयकालत्रयविषयपरिज्ञानसहितत्वेन स्वयमेव सर्वज्ञत्वादिति। (पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्तिः गा०. २९)

२. 'न जानाति' इति पाठान्तरं।

३. 'किं भवतामनुपलब्धेः जगत्त्रय' इति पाठान्तरम्।

२७९. अथ मतम्–सर्वज्ञविषये बाधकप्रमाणं निराकृतं भवद्भिस्तर्हि सर्वज्ञसद्भावसाधकं प्रमाणं किम्? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह–कश्चित् पुरुषो धर्मी, सर्वज्ञो भवतीति साध्यते धर्मः, एवं धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम्। कस्मादिति चेत्–पूर्वोक्तप्रकारेण बाधकप्रमाणाभावादिति हेतुवचनम्। किंवत्? स्वयमनुभूयमानसुखदुःखादिवदिति दृष्टान्तवचनम्। एवं सर्वज्ञसद्भावे पक्षहेतुदृष्टान्तरूपेण त्र्यङ्गमनुमानं विज्ञेयम्। अथवा द्वितीयमनुमानं कथ्यते–रामरावणादयः कालान्तरिता, मेर्वादयो देशान्तरिता, भूतादयः स्वभावान्तरिताः, [1]परचेत्तोवृत्तयः परमाण्वादयश्च सूक्ष्मपदार्था, धर्मिणः कस्यापि पुरुषविशेषस्य प्रत्यक्षा भवन्तीति साध्यो धर्म इति धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम्। कस्मादिति चेत्, अनुमानविषयत्वादिति हेतुवचनम्। किं वत् यद्यदनुमानविषयं तत्तत् कस्यापि प्रत्यक्षं भवति, यथाग्न्यादि, इत्यन्वयदृष्टान्तवचनम्। अनुमानेन विषयाश्चेति, इत्युपनयवचनम्। तस्मात् कस्यापि प्रत्यक्षा भवन्तीति निगमनवचनम्।

२८०. इदानीं व्यतिरेकदृष्टान्तः कथ्यते–यन्न कस्यापि प्रत्यक्षं तदनुमानविषयमपि न भवति यथा खपुष्पादि, इति व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम्। अनुमानविषयाश्चेति पुनरप्युपनयवचनम्। तस्मात् प्रत्यक्षा

---

२७९. **प्रश्न**—आपके द्वारा सर्वज्ञ के सम्बन्ध में बाधक प्रमाण का तो खण्डन हुआ किन्तु सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करने वाला क्या प्रमाण है? ऐसा पूछे जाने पर **उत्तर** देते हैं—''कोई पुरुष (आत्मा) सर्वज्ञ है'', इसमें 'पुरुष' धर्मी है और 'सर्वज्ञता', जिसको सिद्ध करना है, वह धर्म है; इस प्रकार ''धर्मी धर्म समुदाय'' को पक्ष कहते हैं (जिसको सिद्ध करना वह साध्य अर्थात् धर्म है। जिसमें धर्म पाया जावे या रहे, वह धर्मी है। धर्म और धर्मी दोनों मिलकर 'पक्ष' कहलाते हैं)। इसमें हेतु क्या है? पूर्वोक्त अनुसार ''बाधक प्रमाण का अभाव'' यह हेतु है। किसके समान? अपने अनुभव में आते हुए सुख-दुःख आदि के समान, यह दृष्टान्त है। इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त रूप से तीन अंगों का धारक अनुमान जानना चाहिये। अथवा, सर्वज्ञ के सद्भाव का साधक दूसरा अनुमान कहते हैं। राम और रावण आदि काल से दूर व ढके पदार्थ, मेरु आदि देश से अन्तरित पदार्थ, भूत आदि भव से ढके हुए पदार्थ तथा पर पुरुषों के चित्तों के विकल्प और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, ये धर्मी ''किसी भी विशेष पुरुष के प्रत्यक्ष देखने में आते हैं'', यह उन राम रावणादि धर्मियों में सिद्ध करने योग्य धर्म है; इस प्रकार धर्मी और धर्म के समुदाय से पक्षवचन (प्रतिज्ञा) है। राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष क्यों हैं? ''अनुमान का विषय होने से'' यह हेतु वचन है। किसके समान? ''जो जो अनुमान का विषय है, वह-वह किसी के प्रत्यक्ष होता है, जैसे—अग्नि आदि'', यह अन्वय दृष्टान्त का वचन है। ''देश काल आदि से अन्तरित पदार्थ भी अनुमान के विषय हैं'' यह उपनय का वचन है। इसलिए ''राम रावण आदि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं'' यह निगमन वाक्य है।

२८०. अब व्यतिरेक दृष्टान्त को कहते हैं— ''जो किसी के भी प्रत्यक्ष नहीं होते वे अनुमान के विषय भी नहीं होते; जैसे कि आकाश के पुष्प आदि'' यह व्यतिरेक दृष्टान्त का वचन है। ''राम

---

१. स्वभावान्तरिताः'' इत्यपिपाठः।

भवन्तीति पुनरपि निगमनवचनमिति। किन्त्वनुमानविषयत्वादित्ययं हेतुः सर्वज्ञस्वरूपे साध्ये सर्वप्रकारेण सम्भवति यतस्ततः कारणात्स्वरूपासिद्धभावासिद्धविशेषणाद्यसिद्धो[१] न भवति। तथैव सर्वज्ञस्वरूपं स्वपक्षं विहाय सर्वज्ञाऽभावं विपक्षं न साधयति तेन कारणेन विरुद्धो न भवति। तथैव च यथा सर्वज्ञसद्भावे स्वपक्षे वर्त्तते तथा सर्वज्ञाभावेऽपि विपक्षेऽपि न वर्त्तते तेन कारणेनाऽनैकान्तिको न भवति। अनैकान्तिकः कोऽर्थो? व्यभिचारीति। तथैव प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितो न भवति। तथैव च प्रतिवादिनां प्रत्यसिद्धं सर्वज्ञसद्भावं साधयति तेन कारणेनाकिञ्चित्करोऽपि न भवति। एवमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करहेतुदोष-रहितत्वात्सर्वज्ञसद्भावं साधयत्येव। इत्युक्तप्रकारेण सर्वज्ञसद्भावे पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनरूपेण पञ्चाङ्गमनुमानं ज्ञातव्यमिति।

२८१. किं च यथा लोचनहीनपुरुषस्यादर्शे विद्यमानेऽपि प्रतिबिम्बानां परिज्ञानं न भवति, तथा लोचनस्थानीयसर्वज्ञतागुणरहितपुरुषस्यादर्शस्थानीयवेदशास्त्रे कथितानां प्रतिबिम्बस्थानीयपरमाण्वाद्य-नन्तसूक्ष्मपदार्थानां क्वापि काले परिज्ञानं न भवति। तथाचोक्तं–

रावण आदि अनुमान के विषय हैं'' यह उपनय का वचन है। इसलिए ''राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं'' यह निगमन वाक्य है। ''राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष होते हैं, अनुमान के विषय होने से'' यहाँ पर ''अनुमान के विषय होने से'' यह हेतु है। सर्वज्ञ रूप साध्य में यह हेतु सब तरह से सम्भव है; इस कारण यह हेतु स्वरूपासिद्ध, भावासिद्ध, इन विशेषणों से असिद्ध नहीं है तथा उक्त हेतु, सर्वज्ञ रूप अपने पक्ष को छोड़कर सर्वज्ञ के अभाव रूप विपक्ष को सिद्ध नहीं करता, इस कारण विरुद्ध भी नहीं है। और जैसे ''सर्वज्ञ के सद्भाव रूप अपने पक्ष में रहता है, वैसे सर्वज्ञ के अभाव रूप विपक्ष में नहीं रहता, इस कारण उक्त हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है। अनैकान्तिक का क्या अर्थ है? 'व्यभिचारी'। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित भी नहीं है, तथा सर्वज्ञ को न मानने वाले भट्ट और चार्वाक के लिए सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करता है अतः इन दोनों कारणों से अकिंचित्कर भी नहीं है। इस प्रकार से ''अनुमान का विषय होने से'' यह हेतुवचन असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिंचित्कर रूप हेतु के दूषणों से रहित है, इस कारण सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करता ही है। इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव में पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूप से पाँचों अंगों वाला अनुमान जानना चाहिए।

२८१. और भी जैसे नेत्रहीन पुरुष को दर्पण के विद्यमान रहने पर भी प्रतिबिंबों का ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार नेत्रों के स्थानभूत सर्वज्ञतारूप गुण से रहित पुरुष को दर्पण के स्थानभूत वेदशास्त्र में कहे हुए प्रतिबिम्बों के स्थानभूत परमाणु आदि अनन्त सूक्ष्म पदार्थों का किसी भी समय ज्ञान नहीं होता। ऐसा कहा भी है कि–

---

१. विशेषणाद्यसिद्धो इति पाठान्तरम्।

''यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति।१।''

इति संक्षेपेण सर्वज्ञसिद्धिरत्र बोद्धव्या। एवं पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्याने ध्येयभूतस्य सकलात्मनो जिनभट्टारकस्य व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥५०॥

२८२. अथ सिद्धसदृशनिजपरमात्मतत्त्वपरमसमरसीभावलक्षणस्य रूपातीतनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं मुक्तिगतसिद्धभक्तिरूपं 'णमो सिद्धाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थं ध्यानं तस्य ध्येयभूतं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपं कथयति–

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥५१॥

लोक शिखर पर निवास करते तीन-लोक के नायक हैं।
लोकालोकाकाश तत्त्व के केवलदर्शक-ज्ञायक हैं॥
पुरुष रूप आकार लिए हैं 'सिद्धातम' हैं कहलाते।
स्व-तन-कर्म को नष्ट किये हैं ध्यावें उनको हम तातैं ॥५१॥

जिस पुरुष के स्वयं बुद्धि नहीं है उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है? क्योंकि नेत्रों से रहित पुरुष का दर्पण क्या उपकार करेगा? (अर्थात् कुछ उपकार नहीं कर सकता) ॥१॥ इस प्रकार यहाँ संक्षेप से सर्वज्ञ की सिद्धि जाननी चाहिए। ऐसे पदस्थ, पिंडस्थ और रूपस्थ इन तीनों ध्यानों में ध्येयभूत सकल-परमात्म-श्रीजिन-भट्टारक के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ॥५०॥

२८२. अब सिद्धों के समान निज-परमात्म-तत्त्व में परमसमरसी-भाव वाले रूपातीत नामक निश्चय-ध्यान के परम्परा से कारणभूत तथा मुक्ति को प्राप्त, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की भक्तिरूप 'णमो सिद्धाणं' इस पद के उच्चारणरूप लक्षण वाला जो पदस्थ-ध्यान, उसके ध्येयभूत सिद्धपरमेष्ठी के स्वरूप को कहते है[1]—

अन्वयार्थ—(णट्ठट्ठ-कम्मदेहो) नष्ट हो गए हैं आठकर्म और औदारिक आदि शरीर जिनका **(लोयालोयस्स)** लोक और अलोक को **(जाणओ दट्ठा)** जानने देखने वाला **(लोयसिहरत्थो)** लोक के शिखर पर स्थित **(पुरिसायारो)** जिस पुरुष देह से मोक्ष हुआ है उस पुरुष के आकार वाला **(अप्पा)** आत्मा **(सिद्धो)** सिद्ध परमेष्ठी है उसका **(झाएह)** ध्यान करो।

गाथार्थ—अष्टकर्मरूपी शरीर को नष्ट करने वाली, लोकालोक-आकाश को जानने-देखने वाली, पुरुषाकार, लोक शिखर पर विराजमान, ऐसी आत्मा सिद्ध-परमेष्ठी है। अतः तुम सब उन सिद्ध-परमेष्ठी का ध्यान करो ॥५१॥

---

१. सिद्धों का स्वरूप गाथा १४ के पूर्वार्ध में भी कहा गया है।

२८३. वृत्ति—णट्ठट्ठकम्मदेहो शुभाशुभमनोवचनकायक्रियारूपस्य द्वैतशब्दाभिधेयकर्मकाण्डस्य निर्मूलनसमर्थेन स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकलक्षणसुन्दरमनोहरानंद-स्यस्यंदिनि:क्रियाद्वैतशब्दवाच्येन परमज्ञानकाण्डेन विनाशितज्ञानावरणाद्यष्टकर्मौदारिकादिपञ्चदेहत्वात् नष्टाष्टकर्मदेहः। **लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा** पूर्वोक्तज्ञानकाण्डभावनाफलभूतेन सकलविमलकेवल-ज्ञानदर्शनद्वयेन लोकालोकगतत्रिकालवर्त्तिसमस्तवस्तुसम्बन्धिविशेषसामान्यस्वभावानामेकसमयज्ञायक-दर्शकत्वात् लोकालोकस्य ज्ञाता द्रष्टा भवति। **पुरिसायारो** निश्चयनयेनातीन्द्रियामूर्त्तपरमचिदुच्छलन-निर्भरशुद्धस्वभावेन निराकारोऽपि व्यवहारेण भूतपूर्वनयेन किञ्चिदूनचरमशरीराकारेण गतसिक्थ-मूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकारः। **अप्पा** इत्युक्तलक्षण आत्मा। किं भण्यते? **सिद्धो** अञ्जन-सिद्धपादुकासिद्धगुटिकासिद्धखड्गसिद्धमायासिद्धादिलौकिकसिद्धविलक्षणः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्ति-लक्षणः सिद्धो भण्यते। **झाएह लोयसिहरत्थो** तमित्थंभूतं सिद्धपरमेष्ठिनं लोकशिखरस्थं दृष्टश्रुतानुभूत-पञ्चेन्द्रियभोगप्रभृतिसमस्तमनोरथरूपनानाविकल्पजालत्यागेन त्रिगुप्तिलक्षणरूपातीतध्याने स्थित्वा ध्यायत हे भव्या! यूयमिति एवं निष्कलसिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानेन गाथा गता ॥५१॥

---

२८३. वृत्त्यर्थ—णट्ठट्ठकम्मदेहो शुभ-अशुभ मन-वचन और काय की क्रियारूप तथा द्वैत शब्द के अभिधेयरूप कर्म समूह का नाश करने में समर्थ, निज-शुद्ध-आत्म-स्वरूप की भावना से उत्पन्न, रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित, परम आनन्द एक लक्षण वाला, सुन्दर-मनोहर-आनन्द को बहाने वाला, क्रियारहित और अद्वैत शब्द का वाच्य, ऐसे परमज्ञानकाण्ड द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्म एवं औदारिक आदि पाँच शरीरों को नष्ट करने से, जो नष्ट-अष्ट-कर्म-देह है। **लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा** पूर्वोक्त ज्ञान-काण्ड की भावना के फलस्वरूप पूर्ण निर्मल केवलज्ञान और दर्शन दोनों के द्वारा लोकालोक के तीन कालवर्ती सर्व पदार्थ सम्बन्धी विशेष तथा सामान्य भावों को एक ही समय में जानने और देखने से, लोकालोक को जानने-देखने वाले हैं। **पुरिसायारो** निश्चयनय की दृष्टि से इन्द्रियागोचर-अमूर्तिक-परमचैतन्य से भरे हुए शुद्ध-स्वभाव की अपेक्षा आकार रहित हैं; तो भी व्यवहार से भूतपूर्व नय की अपेक्षा अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले होने के कारण, मोमरहित मूस के बीच के आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिम्ब के समान, पुरुषाकार है। **अप्पा** पूर्वोक्त लक्षणवाली आत्मा; वह क्या कहलाती है? **सिद्धो** अञ्जनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्गसिद्ध और मायासिद्ध आदि लौकिक (लोक में कहे जाने वाले) सिद्धों से विलक्षण केवलज्ञान आदि अनन्तगुणों की प्रकटतारूप सिद्ध कहलाती है। **झाएह लोयसिहरत्थो** हे भव्य-जनो! तुम देखे-सुने-अनुभव किये हुए जो पाँचों इंद्रियों के भोग आदि समस्त मनोरथरूप अनेक विकल्प-समूह के त्याग द्वारा मन-वचन-काय की गुप्तिस्वरूप रूपातीत ध्यान में स्थिर होकर, लोक के शिखर पर विराजमान पूर्वोक्त लक्षण वाले सिद्ध परमेष्ठी को ध्यावो! इस प्रकार अशरीरी सिद्ध परमेष्ठी के व्याख्यानरूप यह गाथा समाप्त हुई ॥५१॥

२८४. अथ निरुपाधिशुद्धात्मभावनानुभूत्यविनाभूतनिश्चयपञ्चाचारलक्षणस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं निश्चयव्यवहारपञ्चाचारपरिणताचार्यभक्तिरूपं 'णमो आयरियाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थध्यानं तस्य ध्येयभूतमाचार्यपरमेष्ठिनं कथयति–

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥५२॥

दर्शन-ज्ञानाचार प्रमुख कर चरित-वीर्य-तप खुद पालें।
पालन करवाते औरों से शिव-पथ पर चलने वाले ॥
ये हैं मुनि 'आचार्य' हमारे पूज्यपाद पालक प्यारे।
ध्यान इन्हीं का करें रात-दिन विनीत हम बालक सारे ॥५२॥

२८५. वृत्ति–दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधाने वीर्यचारित्र-वरतपश्चरणाचारेऽधिकरणभूते **अप्पं परं च जुंजइ** आत्मानं परं शिष्यजनं च योऽसौ योजयति सम्बन्धं करोति **सो आयरिओ मुणी झेओ** स उक्तलक्षण आचार्यो मुनिस्तपोधनो ध्येयो भवति।

२८६. तथाहि–भूतार्थनयविषयभूतः शुद्धसमयसारशब्दवाच्यो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मादिसमस्त-

---

२८४. अब उपाधि रहित शुद्ध-आत्मभावना की अनुभूति (अनुभव) का अविनाभूत निश्चय-पंच-आचार-रूप-निश्चय-ध्यान का परम्परा से कारणभूत, निश्चय तथा व्यवहार इन दोनों प्रकार के पाँच आचारों में परिणत (तत्पर वा तल्लीन) ऐसे आचार्य परमेष्ठी की भक्तिरूप और 'णमो आयरियाणं' इस पद के उच्चारण-रूप जो पदस्थ ध्यान, उस पदस्थ-ध्यान के ध्येयभूत आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं–

अन्वयार्थ–जो **(मुणी)** मुनि **(दंसणणाणपहाणे)** दर्शनाचार और ज्ञानाचार की प्रधानता वाले **(वीरिय-चारित्त-वर-तवायारे)** वीर्याचार, चारित्राचार व श्रेष्ठ तपाचार में **(अप्पं च परं)** अपने को व दूसरों को **(जुंजइ)** जोड़ता/लगाता है **(सो आइरिओ)** वह आचार्य परमेष्ठी **(झेओ)** ध्यान करने योग्य है।

गाथार्थ–१. दर्शनाचार, २. ज्ञानाचार की मुख्यता सहित, ३. वीर्याचार, ४. चारित्राचार और ५. तपाचार, इन पाँचों आचारों में जो स्वयं भी तत्पर होते हैं और अन्य (शिष्यों) को भी लगाते हैं, वे आचार्य मुनि ध्यान करने योग्य हैं ॥५२॥

२८५. वृत्त्यर्थ–दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे सम्यग्दर्शनाचार और सम्यग्ज्ञानाचार की प्रधानता सहित, वीर्याचार, चारित्राचार और तपश्चरणाचार में **अप्पं परं च जुंजइ** अपने को और अन्य अर्थात् शिष्यजनों को लगाते हैं, **सो आयरिओ मुणी झेओ** वे पूर्वोक्त लक्षण वाले आचार्य तपोधन ध्यान करने योग्य हैं।

२८६. जैसे कि भूतार्थनय (निश्चयनय) का विषयभूत, 'शुद्धसमयसार' शब्द से वाच्य,

परद्रव्येभ्यो भिन्नः परमचैतन्यविलासलक्षणः स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यग्दर्शनं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयदर्शनाचारः।१। तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधिस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरागादि-परभावेभ्यः पृथक् परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयज्ञानाचारः।२। तत्रैव रागादि-विकल्पोपाधिरहितस्वाभाविक सुखास्वादेन निश्चलचित्तं वीतरागचारित्रं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चय-चारित्राचारः।३। समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन तथैवानशनादिद्वादशतपश्चरणबहिरङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्चरणं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयतपश्चरणाचारः।४। तस्यैव निश्चयचतुर्विधाचारस्य रक्षणार्थं स्वशक्त्यनवगूहनं निश्चयवीर्याचारः।५। इत्युक्तलक्षणनिश्चयपञ्चाचारे तथैव–

''छत्तीसगुणसमग्गे पंचविहाचारकरणसन्दरिसे।
सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिए सदा वंदे।१।''

इति गाथाकथितक्रमेणाचाराराधनादिचरणशास्त्रविस्तीर्णबहिरङ्गसहकारिकारणभूते व्यवहार-पञ्चाचारे च स्वं परं च योजयत्यनुष्ठानेन सम्बन्धं करोति स आचार्यो भवति। स च पदस्थध्याने ध्यातव्यः। इत्याचार्यपरमेष्ठिव्याख्यानेन सूत्रं गतम् ॥५२॥

भावकर्म–द्रव्यकर्म–नोकर्म आदि समस्त पर–पदार्थों से भिन्न और परम–चैतन्य के विलास–रूप लक्षण वाली, यह निज–शुद्ध–आत्मा ही उपादेय है; ऐसी रुचि सम्यक्दर्शन है; उस सम्यग्दर्शन में जो आचरण अर्थात् परिणमन, वह निश्चयदर्शनाचार है ॥१॥ उसी शुद्ध आत्मा को, उपाधि रहित स्वसंवेदनरूप भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व–राग आदि परभावों से भिन्न जानना, सम्यग्ज्ञान है; उस सम्यग्ज्ञान में आचरण अर्थात् परिणमन, वह निश्चयज्ञानाचार है ॥२॥ उसी शुद्ध आत्मा में राग आदि विकल्परूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुखास्वाद से निश्चल–चित्त होना, वीतरागचारित्र है; उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन, वह निश्चयचारित्राचार है ॥३॥ समस्त परद्रव्यों को इच्छा के रोकने से तथा अनशन आदि बारह–तप–रूप–बहिरंग सहकारी कारण से जो निज स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजयन, वह निश्चयतपश्चरण है; उसमें जो आचरण अर्थात् परिणमन निश्चयतपश्चरणाचार है ॥४॥ इन चार प्रकार के निश्चय आचार की रक्षा के लिए अपनी शक्ति को नहीं छिपाना, निश्चयवीर्याचार है ॥५॥ ऐसे उक्त लक्षणों वाले पाँच प्रकार के निश्चय आचार में और इसी प्रकार, छत्तीस गुणों से सहित, पाँच प्रकार के आचार को करने का उपदेश देने वाले तथा शिष्यों पर अनुग्रह (कृपा) रखने में चतुर जो धर्माचार्य हैं, उनको मैं सदा वंदना करता हूँ ॥१॥

इस गाथा में कहे अनुसार आचार आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रों में विस्तार से कहे हुए बहिरंग सहकारीकारणरूप पाँच प्रकार के व्यवहार आचार में जो अपने को तथा अन्य को लगाते हैं (स्वयं उस पंचाचार को साधते हैं और दूसरों से सधवाते हैं) वे आचार्य कहलाते हैं। वे आचार्य परमेष्ठी पदस्थध्यान में ध्यान करने योग्य हैं। इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथासूत्र समाप्त हुआ ॥५२॥

२८७. अथ स्वशुद्धात्मनि शोभनमध्यायोऽभ्यासो निश्चयस्वाध्यायस्तल्लक्षणनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं भेदाभेदरत्नत्रयादितत्त्वोपदेशकं परमोपाध्यायभक्तिरूपं 'णमो उवज्झायाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत् पदस्थध्यानं, तस्य ध्येयभूतमुपाध्यायमुनीश्वरं कथयति–

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥

भव्य - जनों को धर्म-देशना देने में नित निरत रहें।
तीन-रतन से मण्डित होते लौकिकता से विरत रहें॥
'उपाध्याय' ये पूज्य कहाते यतियों के भी दर्पण हैं।
मनसा-वचसा-वपुषा इनको नमन कोटिशः अर्पण हैं॥५३॥

२८८. वृत्ति—जो रयणत्तयजुत्तो योऽसौ बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानेन युक्तः परिणतः। **णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो** षट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मध्ये स्वशुद्धात्मद्रव्यं स्वशुद्ध-जीवास्तिकायं स्वशुद्धात्मतत्त्वं स्वशुद्धात्मपदार्थमेवोपादेयं शेषं च हेयं, तथैवोत्तमक्षमादिधर्मं च नित्यमुपदिशति योऽसौ स नित्यं धर्मोपदेशने निरतो भण्यते। **सो उवज्झाओ अप्पा** स चेत्थंभूत आत्मा उपाध्याय इति। पुनरपि किं विशिष्टः**—जदिवरवसहो** पञ्चेन्द्रियविषयजयेन निजशुद्धात्मनि यत्नपराणां

---

२८७. अब निज शुद्ध-आत्मा में जो उत्तम अध्ययन अर्थात् अभ्यास करना है, उसको निश्चय स्वाध्याय कहते हैं। उस निश्चयस्वाध्याय रूप निश्चयध्यान के परम्परा से कारणभूत भेद-अभेद-रत्नत्रय आदि तत्त्वों का उपदेश करने वाले, परम उपाध्याय की भक्तिस्वरूप 'णमो उवज्झायाणं' इस पद के उच्चारणरूप जो पदस्थध्यान उसके ध्येयभूत, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जो) जो **(रयणत्तय-जुत्तो)** रत्नत्रय से युक्त **(णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो)** हमेशा मुनि आदि को धर्म का उपदेश करने में निरत/तत्पर है **(सो जदिवरवसहो)** वह मुनिवरों में प्रधान **(अप्पा)** आत्मा **(उवज्झाओ)** उपाध्याय परमेष्ठी है **(तस्स णमो)** उसको नमस्कार हो।

गाथार्थ—जो रत्नत्रय से सहित है, निरन्तर धर्म का उपदेश देने में तत्पर है तथा मुनीश्वरों में प्रधान है, वह आत्मा उपाध्याय है। उसके लिए नमस्कार हो ॥५३॥

२८८. वृत्त्यर्थ—जो रयणत्तयजुत्तो जो बाह्य, आभ्यंतर रत्नत्रय के अनुष्ठान (साधन) से युक्त हैं (निश्चय-व्यवहार-रत्नत्रय को साधने में लगे हुए हैं)। **णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो** ''छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व व नव पदार्थों में निज-शुद्ध-आत्मद्रव्य, निज-शुद्ध-जीवास्तिकाय, निज-शुद्ध-आत्मतत्त्व और निज-शुद्ध-आत्म पदार्थ ही उपादेय है, अन्य सब हेय हैं।'' इस विषय का तथा उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों का जो निरन्तर उपदेश देते हैं, वे नित्य धर्मोपदेश देने में तत्पर कहलाते हैं। **सो उवज्झाओ अप्पा** इस प्रकार की वह आत्मा उपाध्याय है। उसमें और क्या विशेषता है? **जदिवरवसहो** पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जीतने से निज-शुद्ध-आत्मा में प्रयत्न करने में तत्पर,

यतिवराणां मध्ये वृषभः प्रधानो यतिवरवृषभः। **णमो तस्स** तस्मै द्रव्यभावरूपो नमो नमस्कारोऽस्तु। इत्युपाध्यायपरमेष्ठिव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥५३॥

२८९. अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गसाधकं परमसाधुभक्तिरूपं 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इति पदोच्चारणजपध्यानलक्षणं यत् पदस्थध्यानं तस्य ध्येयभूतं साधुपरमेष्ठिस्वरूपं कथयति–

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥५४॥

यथार्थ दर्शन तथा ज्ञान से नियम रूप से सहित रहे।
निरतिचार वह 'चारित ही है मोक्षमार्ग' यह विदित रहे ॥
इसी चरित की 'साधु' साधना सदा सर्वदा करता है।
ध्यान-साधु का करो इसी से सभी आपदा हरता है ॥५४॥

२९०. वृत्ति–साहू स मुणी स मुनिः साधुर्भवति। यः किं करोति–**जो हु साधयदि** यः कर्त्ता हु स्फुटं साधयति। किं **चारित्तं** चारित्रं। कथम्भूतं **दंसणणाणसमग्गं** वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यां समग्रं परिपूर्णम्। पुनरपि कथम्भूतं **मग्गं मोक्खस्स** मार्गभूतं। कस्य मोक्षस्य। पुनश्च किं रूपं **णिच्चसुद्धं** नित्यं

ऐसे मुनीश्वरों में वृषभ अर्थात् प्रधान होने से यतिवृषभ हैं। **णमो तस्स** उन उपाध्याय परमेष्ठी को द्रव्य तथा भावरूप नमस्कार हो। इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथासूत्र पूर्ण हुआ ॥५३॥

२८९. अब निश्चयरत्नत्रयस्वरूप-निश्चयध्यान का परम्परा से कारणभूत, बाह्य-अभ्यंतर-मोक्षमार्ग के साधने वाले परमसाधु की भक्तिस्वरूप 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद के उच्चारण, जपने और ध्यानेरूप जो पदस्थ ध्यान उसके ध्येयभूत, ऐसे साधु परमेष्ठी का स्वरूप कहते हैं–

अन्वयार्थ–(जो) जो **(मुणी)** मुनि **(मोक्खस्स मग्गं)** मोक्ष के मार्गभूत **(दंसण-णाण-समग्गं)** सम्यग्दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण **(णिच्चसुद्धं)** सदा शुद्ध अर्थात् रागादि रहित **(चारित्तं)** चारित्र को **(हु)** निश्चय से **(साधयदि)** साधता है **(सो साहू)** वह साधु परमेष्ठी है **(तस्स णमो)** उसको नमस्कार हो।

गाथार्थ–दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्षमार्ग-स्वरूप, सदाशुद्ध, ऐसे चारित्र को जो साधते हैं, वे मुनि 'साधु परमेष्ठी' हैं, उनको मेरा नमस्कार हो ॥५४॥

२९०. वृत्त्यर्थ–साहू स मुणी वे मुनि साधु होते हैं। वे क्या करते हैं? **जो हु साधयदि** जो प्रकट रूप से साधते हैं। किसको साधते हैं? **चारित्तं** चारित्र को साधते हैं। किस प्रकार के चारित्र को साधते हैं? **दंसणणाण समग्गं** वीतराग सम्यग्दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण चारित्र को साधते हैं। पुनः चारित्र कैसा है? **मग्गं मोक्खस्स** जो चारित्र मार्गस्वरूप है। किसका मार्ग है? मोक्ष का मार्ग है। वह

सर्वकालं शुद्धं रागादिरहितम्। **णमो तस्स** एवं गुणविशिष्टो यस्तस्मै साधवे नमो नमस्कारोस्त्विति।

२९१. तथाहि–

''उद्योतनमुद्योगो निर्वहणं साधनं च निस्तरणम्।
दृगवगमचरणतपसामाख्याताराधना सद्भिः।१।''

इत्यार्याकथितबहिरङ्गचतुर्विधाराधनाबलेन, तथैव

''सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।१।''

इति गाथाकथिताभ्यन्तरनिश्चयचतुर्विधाराधनाबलेन च बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा यः कर्त्ता वीतरागचारित्राविनाभूतं स्वशुद्धात्मानं साधयति भावयति स साधुर्भवति। तस्यैव सहजशुद्धसदानन्दैकानुभूतिलक्षणो भावनमस्कारस्तथा 'णमो लोए सव्वसाहूणं' द्रव्यनमस्कारश्च भवत्विति ॥५४॥

२९२. एवमुक्तप्रकारेण गाथापञ्चकेन मध्य प्रतिपत्त्या पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं ज्ञातव्यम्। अथवा निश्चयेन

''अरिहा सिद्धायरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।१।''

चारित्र किस रूप है? **णिच्च सुद्धं** जो चारित्र नित्य सर्वकालशुद्ध अर्थात् रागादि रहित है। (वीतराग सम्यग्दर्शन–ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्षमार्ग–स्वरूप, नित्य रागादि रहित, ऐसे चारित्र को अच्छी तरह पालने वाले मुनि, साधु हैं)। **णमो तस्स** पूर्वोक्त गुण सहित उस साधु परमेष्ठी को नमस्कार हो।

२९१. कहा भी गया है–दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनका जो उद्योतन, उद्योग, निर्वहण, साधन और निस्तरण है, उसको सत् पुरुषों ने आराधना कहा है ॥१॥ इस आर्याछन्द में कही हुई बहिरंग–दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आराधना के बल से तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप, ये चारों आत्मा में निवास करते हैं, इस कारण आत्मा ही मेरे शरणभूत हैं ॥१॥

इस गाथा में कहे अनुसार, आभ्यंतर एवं निश्चय चार प्रकार की आराधना के बल से बाह्य–आभ्यंतर–मोक्षमार्ग दूसरा नाम है जिसका ऐसी बाह्य–आभ्यंतर आराधना करके जो वीतराग चारित्र के अविनाभूत निज शुद्ध–आत्मा को साधते हैं अर्थात् भावते हैं; वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। उन्हीं के लिए मेरा स्वाभाविक–शुद्ध–सदानन्द की अनुभूतिरूप भावनमस्कार तथा 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इस पद के उच्चारणरूप द्रव्य नमस्कार हो ॥५४॥

२९२. उक्त प्रकार से पाँच गाथाओं द्वारा मध्यमरूप से पञ्च परमेष्ठी के स्वरूप का कथन किया गया है, यह जानना चाहिए। अथवा निश्चयनय से अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँचों परमेष्ठी हैं, वे भी आत्मा में स्थित हैं; इस कारण आत्मा ही मुझे शरण है ॥१॥

इति गाथाकथितक्रमेण संक्षेपेण, तथैव विस्तरेण पञ्चपरमेष्ठिग्रन्थकथितक्रमेण, अतिविस्तारेण तु सिद्धचक्रादिदेवार्चनाविधिरूपमन्त्रवादसम्बन्धिपञ्चनमस्कारग्रन्थे चेति। एवं गाथापञ्चकेन द्वितीयस्थलं गतम्।

२९३. अथ तदेव ध्यानं विकल्पितनिश्चयेनाविकल्पितनिश्चयेन प्रकारान्तरेणोपसंहाररूपेण पुनरप्याह। तत्र प्रथमपादे ध्येयलक्षणं, द्वितीयपादे ध्यातृलक्षणं, तृतीयपादे ध्यानलक्षणं, चतुर्थपादेन नयविभागं कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति–

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं॥५५॥

चिंता क्या है, चिन्तन कुछ भी साधु करें वह, पर इतना।
ध्यान रहे बस निरीहता का साधुपना पनपे उतना॥
एक ताजगी निरी-एकता पाता निश्चित साधु वही।
यही ध्यान है निश्चय समझो साधु बनो! पर स्वादु नहीं॥५५॥

२९४. वृत्ति–तदा तस्मिन् काले। **आहु** आहुर्ब्रुवन्ति **तं तस्स णिच्छयं झाणं** तत्तस्य निश्चय-

---

इस गाथा में कहे हुए क्रमानुसार संक्षेप से पञ्चपरमेष्ठियों का स्वरूप जानना चाहिए। विस्तार से पञ्चपरमेष्ठियों का स्वरूप, पञ्चपरमेष्ठी का कथन करने वाले ग्रन्थ से क्रमानुसार जानना चाहिए तथा सिद्धचक्र आदि देवों की पूजन-विधिरूप जो मन्त्रवाद-सम्बन्धी पञ्चनमस्कार माहात्म्य नामक ग्रन्थ हैं, उससे पञ्चपरमेष्ठियों का स्वरूप अत्यन्त विस्तारपूर्वक जानना चाहिए। इस प्रकार पाँच गाथाओं से दूसरा स्थल समाप्त हुआ।

२९३. अब उसी ध्यान को विकल्पित निश्चय और अविकल्पित निश्चयरूप प्रकारान्तर से संक्षेपपूर्वक कहते हैं। ''गाथा के प्रथम पाद में ध्येय का लक्षण, द्वितीय पाद में ध्याता (ध्यान करने वाले) का लक्षण, तीसरे पाद में ध्यान का लक्षण और चौथे पाद में नयों का विभाग कहता हूँ।'' इस अभिप्राय को मन में धारण करके भगवान् (श्री नेमिचन्द्र) सूत्र का प्रतिपादन करते हैं—

अन्वयार्थ–(य) और वह **(साहू)** साधु **(जदा)** जिस समय **(जं किंचिवि)** जो कुछ भी **(चिंतंतो)** चिंतन करता हुआ **(एयत्तं)** एकाग्रता को **(लद्धूण)** प्राप्त करके **(णिरीहवित्ती)** इच्छा रहित **(हवे)** होता है **(तदा)** उस समय **(तस्स)** उस साधु का **(तं)** वह **(णिच्छयं झाणं)** निश्चय ध्यान है ऐसा **(आहु)** तीर्थंकरदेव कहते हैं।

गाथार्थ–ध्येय में एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थ का ध्यान करते हुए साधु जब निस्पृह-वृत्ति (समस्त इच्छारहित) होते हैं तब उनका वह ध्यान निश्चयध्यान होता है॥५५॥

२९४. वृत्त्यर्थ–तदा उस काल में। **आहु** कहते हैं। **तं तस्स णिच्छयं झाणं** उसको, उसका

ध्यानमिति। यदा किं **णिरीहवित्ती हवे जदा साहू** निरीहवृत्तिर्निस्पृहवृत्तिर्यदा साधुर्भवति। किं कुर्वन् **जं किं चिवि चिंतंतो** यत् किमपि ध्येयवस्तुरूपेण वस्तु चिन्तयन्निति। किं कृत्वा पूर्वं **लद्धूण य एयत्तं** तस्मिन् ध्येये लब्ध्वा। किं? एकत्वं एकाग्रचिन्तानिरोधनमिति।

२९५. अथ विस्तरः—यत् किञ्चिद् ध्येयमित्यनेन किमुक्तं भवति? प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवञ्चनार्थं चित्तस्थिरीकरणार्थं पञ्चपरमेष्ठ्यादिपरद्रव्यमपि ध्येयं भवति। पश्चादभ्यासवशेन स्थिरीभूते चित्ते सति शुद्धबुद्धैक स्वभावनिजशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयमित्युक्तं भवति। निस्पृहवचनेन पुनर्मिथ्यात्वं वेदत्रयं हास्यादिषट्कक्रोधादिचतुष्टयरूपचतुर्दशाऽभ्यन्तरपरिग्रहेण तथैव क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डाऽभिधानदशविधबहिरङ्गपरिग्रहेण च रहितं ध्यातृ-स्वरूपमुक्तं भवति। एकाग्रचिन्तानिरोधेन च [१]पूर्वोक्त विविधध्येयवस्तुनि स्थिरत्वं निश्चलत्वं ध्यानलक्षणं भणितमिति। निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहाररत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्यः। निष्पन्नयोग-पुरुषापेक्षया तु शुद्धोपयोगलक्षणविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयो ग्राह्यः। विशेषनिश्चयः पुनरग्रे वक्ष्य-माणस्तिष्ठतीति सूत्रार्थः ॥५५॥

निश्चय ध्यान (कहते हैं)। जब क्या होता है? **णिरीहवित्ती हवे जदा साहु** जब निष्पृहवृत्ति वाला साधु होता है। क्या करता है? **जं किंचिवि चिंतंतो** जिस किसी ध्येय वस्तु स्वरूप का विशेष चिंतन करता है। पहले क्या करके? **लद्धूण य एयत्तं** उस ध्येय में प्राप्त होकर। क्या प्राप्त होकर? एकपने को अर्थात् एकाग्र-चिन्ता-निरोध को प्राप्त होकर। (ध्येय पदार्थ में एकाग्र-चिन्ता का निरोध करके यानि एकचित्त होकर, जिस किसी ध्येय वस्तु का चिंतन करता हुआ साधु जब निस्पृहवृत्ति वाला होता है, उस समय साधु के उस ध्यान को निश्चयध्यान कहते हैं)।

२९५. विस्तार से वर्णन—गाथा में यत् किंचित् ध्येयम् (जिस किसी भी ध्येय पदार्थ को) इस पद से क्या कहा है? प्रारम्भिक अवस्था की अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था है, उसमें विषय और कषायों को दूर करने के लिए तथा चित्त को स्थिर करने के लिए पंचपरमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। फिर जब अभ्यास से चित्त स्थिर हो जाता है तब शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव निज-शुद्ध-आत्मा का स्वरूप ही ध्येय होता है। निस्पृह शब्द से मिथ्यात्व, तीनों वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चौदह अन्तरंग परिग्रहों से रहित तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड नामक दस बहिरंग परिग्रहों से रहित, ध्यान करने वाले का स्वरूप कहा गया है। ''एकाग्र-चिन्ता-निरोध'' से पूर्वोक्त नानाप्रकार के ध्यान करने योग्य पदार्थों में स्थिरता और निश्चलता को ध्यान का लक्षण कहा है। 'निश्चय' शब्द से, अभ्यास प्रारम्भ करने वाले की अपेक्षा व्यवहाररत्नत्रय के अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिए और ध्यान में निष्पन्न पुरुष की अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय ग्रहण करना चाहिए। विशेष निश्चय आगे कहा जाने वाला है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है ॥५५॥

१. 'पूर्वोक्तद्विविधं' पाठान्तरम्।

२९६. अथ शुभाशुभमनोवचनकायनिरोधे कृते सत्यात्मनि स्थिरो भवति तदेव परमध्यानमित्युपदिशति–

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि[१] जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवेज्झाणं ॥५६॥

कुछ भी स्पन्दन तन में मत ला बंद-मुखी हो, जल्प न हो।
चिंता, चिन्तन मन में मत कर चेतन फलतः निश्चल हो॥
अपने ही आतम में अपना अविचल हो, जो रमना है।
ध्यान रहे यह परम ध्यान है और ध्यान तो भ्रमणा है॥५६॥

२९७. वृत्ति—मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंपि नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजशुद्धात्मानुभूति-प्रतिबन्धकं शुभाशुभचेष्टारूपं कायव्यापारं, तथैव शुभाशुभान्तर्बहिर्जल्परूपं वचनव्यापारं, तथैव शुभाशुभविकल्पजालरूपं चित्तव्यापारञ्च किमपि मा कुरुत हे विवेकिजनाः! **जेण होइ थिरो** येन योगत्रयनिरोधेन स्थिरो भवति। स कः **अप्पा** आत्मा। कथम्भूतः स्थिरो भवति **अप्पम्मि रओ** सहजशुद्ध-ज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुद्भूतसर्व-प्रदेशाह्लादजनकसुखास्वादपरिणतिसहिते निजात्मनि रतः परिणतस्तल्लीयमानस्तच्चित्तस्तन्मयो भवति।

---

२९६. यहाँ (ध्याता पुरुष) शुभ-अशुभ मन-वचन-काय का निरोध करने पर आत्मा में स्थिर होता है। वह स्थिर होना ही परम ध्यान है, ऐसा उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(किंपि) कुछ भी **(चिट्ठह मा)** चेष्टा मत करो **(जंपह मा)** बोलो मत **(चिंतह मा)** चिंतन/विचार मत करो **(जेण)** जिससे **(अप्पा अप्पम्मि)** आत्मा आत्मा में **(रओ)** रत होता हुआ **(थिरो हवे)** स्थिर होवे **(इणं एव)** यह ही **(परं झाणं)** परम ध्यान **(होइ)** होता है।

गाथार्थ— (हे भव्यो!) कुछ भी चेष्टा मत करो (काय की क्रिया मत करो), कुछ भी मत बोलो और कुछ भी चिंतन मत करो (संकल्प-विकल्प न करो) जिससे आत्मा निजात्मा में तल्लीन होकर स्थिर हो जावे, आत्मा में लीन होना ही परम ध्यान है॥५६॥

२९७. वृत्त्यर्थ—मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंपि हे विवेकी पुरुषो! नित्य निरंजन और क्रियारहित निज-शुद्ध-आत्मा के अनुभव को रोकने वाली शुभ-अशुभ चेष्टारूप काय की क्रिया को तथा शुभ-अशुभ-अन्तरंग-बहिरंगरूप वचन को और शुभ-अशुभ विकल्प समूहरूप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो। **जेण होइ थिरो** जिन तीनों योगों के रोकने से स्थिर होता है। वह कौन? **अप्पा** आत्मा। कैसा होकर स्थिर होता है? **अप्पम्मि रओ** स्वाभाविक शुद्ध-ज्ञान-दर्शन-स्वभाव जो परमात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रयात्मक परम-ध्यान के अनुभव से उत्पन्न, सर्व प्रदेशों को आनन्ददायक ऐसे सुख के अनुभवरूप परिणति सहित स्व-आत्मा में रत, तल्लीन, तच्चित्त

---

१. 'किं वि' के स्थान 'किं पि' पाठ शुद्ध है क्योंकि प्राकृत भाषा में स्वर के बाद ही अपि के पकार को वकार होता है।

इणमेव परं हवे ज्झाणं इदमेवात्मसुखस्वरूपे तन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टं ध्यानं भवति।

२९८. तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागपरमानन्दसुखं प्रतिभाति, तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम्। तच्च पर्यायनामान्तरेण किं किं भण्यते तदभिधीयते। तदेव शुद्धात्मस्वरूपं, तदेव परमात्मस्वरूपं, तदेवैकदेशव्यक्तिरूपविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्मसम्वित्तिसमुत्पन्नसुखामृतजलसरोवरे रागादि-मलरहितत्वेन परमहंसस्वरूपम्। इदमेकदेशव्यक्तिरूपं शुद्धनयव्याख्यानमत्र परमात्मध्यानभावनानाम-मालायां यथासम्भवं सर्वत्र योजनीयमिति।

२९९. तदेव परब्रह्मस्वरूपं, तदेव परमविष्णुस्वरूपं, तदेव परमशिवस्वरूपं, तदेव परमबुद्धस्वरूपं, तदेव परमनिजस्वरूपं, तदेव परमस्वात्मोपलब्धिलक्षणं सिद्धस्वरूपं, तदेव निरञ्जनस्वरूपं, तदेव निर्मलस्वरूपं, तदेव स्वसम्वेदनज्ञानं, तदेव परमतत्त्वज्ञानं, तदेव शुद्धात्मदर्शनं, तदेव परमावस्थास्वरूपं, तदेव परमात्मनः दर्शनं, तदेव परमात्मज्ञानं, तदेव परमावस्थारूपपरमात्मस्पर्शनं, तदेव ध्येयभूत-शुद्धपारिणामिकभावरूपं, तदेव ध्यानभावनास्वरूपं, तदेव शुद्धचारित्रं, तदेव परमपवित्रं, तदेवान्तस्तत्त्वं, तदेव परमतत्त्वं, तदेव शुद्धात्मद्रव्यं, तदेव परमज्योतिः, सैव शुद्धात्मानुभूतिः, सैवात्मप्रतीतिः, सैवात्म-सम्वित्तिः, सैव स्वरूपोपलब्धिः, स एव नित्योपलब्धिः, स एव परमसमाधिः, स एव परमानन्दः, स एव

तथा तन्मय होकर स्थिर होता है। **इणमेव परं हवे ज्झाणं** यही जो आत्मा के सुखस्वरूप में तन्मयपना है, वह निश्चय से परम उत्कृष्ट ध्यान है।

२९८. उस परमध्यान में स्थित जीवों को जो वीतराग परमानन्द सुख प्रतिभासित होता है वही निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप है। वह अन्य पर्यायवाची नामों से क्या-क्या कहा जाता है, सो कहते हैं। वही शुद्ध आत्म-स्वरूप है, वही परमात्मा का स्व-रूप है, वही एक देश में प्रकटतारूप विवक्षित एक देश शुद्ध-निश्चयनय से निज-शुद्ध-आत्मानुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृत-जल के सरोवर में राग आदि मलों से रहित होने के कारण परमहंस-स्वरूप है। परमात्मध्यान के भावना की नाममाला में इस एकदेश व्यक्तिरूप शुद्धनय के व्याख्यान को यथासम्भव सब जगह लगा लेना चाहिए। (ये नाम एकदेश शुद्धनिश्चयनय से अपेक्षित हैं)।

२९९. वही परब्रह्मस्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परमशिवरूप है, वही परमबुद्धस्वरूप है, वही परमजिनस्वरूप है, वही परम-निज-आत्मोपलब्धिरूप सिद्धस्वरूप है, वही निरंजनस्वरूप है, वही निर्मलस्वरूप है, वही स्वसंवेदनज्ञान है, वही परमतत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही परम अवस्थास्वरूप है, वही परमात्मदर्शन है, वही परमात्मज्ञान है, वही परमावस्थारूप परमात्मा का स्पर्शन है, वही ध्यान करने योग्य शुद्ध-पारिणामिक-भावरूप है, वही ध्यानभावनारूप है, वही शुद्धचारित्र है, वह ही परमपवित्र है, वही अन्तरंग तत्त्व है, वही परम-तत्त्व है, वही शुद्धात्म-द्रव्य है, वही परम-ज्योति है, वही शुद्ध-आत्मानुभूति है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही आत्म-संवित्ति (आत्म-संवेदन) है, वही निज-आत्मस्वरूप की प्राप्ति है, वही नित्य पदार्थ की प्राप्ति है, वही परम-

नित्यानन्दः, स एव सहजानन्दः, स एव सदानन्दः, स एव शुद्धात्मपदार्थाध्ययनरूपः, स एव परमस्वाध्यायः, स एव निश्चयमोक्षोपायः, स एव चैकाग्रचिन्तानिरोधः, स एव परमबोधः, स एव शुद्धोपयोगः, स एव परमयोगः, स एव भूतार्थः, स एव परमार्थः, स एव निश्चयपञ्चाचारः, स एव समयसारः, स एवाध्यात्मसारः, तदेव समतादिनिश्चयषडावश्यक स्वरूपं, तदेवाभेदरत्नत्रयस्वरूपं, तदेव वीतरागसामायिकं, तदेव परमशरणोत्तममङ्गलं, तदेव केवलज्ञानोत्पत्तिकारणं, तदेव सकलकर्मक्षयकारणं, सैव निश्चय-चतुर्विधाराधना, सैव परमात्मभावना, सैव शुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखानुभूतिरूपपरमकला, सैव दिव्यकला, तदेव परमाद्वैतं, तदेव परमामृतपरमधर्मध्यानं, तदेव शुक्लध्यानं, तदेव रागादिविकल्प-शून्यध्यानं, तदेव निष्कलध्यानं, तदेव परमस्वास्थ्यं, तदेव परमवीतरागत्वं, तदेव परमसाम्यं, तदेव परमैकत्वं, तदेव परमभेदज्ञानं, स एव परमसमरसीभावः, इत्यादिसमस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैक-सुखलक्षणध्यानरूपस्य निश्चयमोक्षमार्गस्य वाचकान्यन्यान्यपि पर्यायनामानि विज्ञेयानि भवन्ति परमात्म-तत्त्वविद्भिरिति ॥५६॥

३००. अतः परं यद्यपि पूर्वं बहुधा भणितं ध्यातृपुरुषलक्षणं ध्यानसामग्री च तथापि चूलिकोपसंहाररूपेण पुनरप्याख्याति–

समाधि है, वही परम-आनन्द है, वही नित्य आनन्द है, वही स्वाभाविक आनन्द है, वही सदानन्द है, वही शुद्ध आत्म-पदार्थ के अध्ययन रूप है, वही परमस्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्र-चिन्ता-निरोध है, वही परमज्ञान है, वही शुद्ध-उपयोग है, वही परम-योग (समाधि) है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चय-ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्यरूप निश्चय पंचाचार है, वही समयसार है; वह ही अध्यात्मसार है। वही समता आदि निश्चय-षट्-आवश्यक स्वरूप है, वह ही अभेद-रत्नत्रय-स्वरूप है, वही वीतराग सामायिक है, वही परमशरणरूप उत्तम मंगल है, वही केवल-ज्ञानोत्पत्ति का कारण है, वही समस्त कर्मों के क्षय का कारण है, वही निश्चय-दर्शन-ज्ञान-चरित्र-तप-आराधनास्वरूप है, वही परमात्मा-भावनारूप है, वही शुद्धात्म-भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूतिरूप परम-कला है, वही दिव्य-कला है, वही परम-अद्वैत है, वही अमृतस्वरूप परम-धर्मध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही राग आदि विकल्परहित ध्यान है, वही निष्फल ध्यान है, वही परम-स्वास्थ्य है, वही परम-वीतरागता है, वही परम-समता है, वही परम एकत्व है, वही परम-भेदज्ञान है, वही परम-समरसी-भाव है; इत्यादि समस्त रागादि विकल्प-उपाधि-रहित, परम आह्लाद एक-सुख-लक्षणमयी ध्यान-स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को कहने वाले अन्य बहुत से पर्यायवाची नाम परमात्मतत्त्व ज्ञानियों के द्वारा जानने योग्य होते हैं ॥५६॥

३००. यद्यपि पहले ध्यान करने वाले पुरुष का लक्षण और ध्यान की सामग्री का बहुत प्रकार से वर्णन कर चुके हैं, फिर भी चूलिका तथा उपसंहार रूप से ध्याता पुरुष और ध्यान सामग्री को इसके आगे कहते हैं—

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

व्रत के धारक, तप के साधक श्रुत-आराधक बना हुआ।
वही ध्यान-रथ-धुरा सु-धारे नियम रहा यह बँधा हुआ॥
इसीलिए यदि सुनो तुम्हें भी ध्यानामृत को चखना है।
व्रत में, तप में, श्रुत में निज को निशिदिन तत्पर रखना है ॥५७॥

२०१. वृत्ति—तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा तपःश्रुतव्रतवानात्मा चेतयिता ध्यानरथस्य धुरन्धरो समर्थो भवति **जम्हा** यस्मात् **तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह** तस्मात् कारणात् तपःश्रुतव्रतानां सम्बन्धेन यत्त्रितयं तत् त्रितये रताः सर्वकाले भवत हे भव्याः! किमर्थं? तस्य ध्यानस्य लब्धिस्तल्लब्धिस्तदर्थमिति। तथाहि—अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशभेदेन बाह्यं षड्विधं, तथैव प्रायश्चित्तविनयवैय्यावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यान-भेदेनाऽभ्यन्तरमपि षड्विधं चेति द्वादशविधं तपः। तेनैव साध्यं शुद्धात्मस्वरूपे प्रतपनं विजयनं

अन्वयार्थ—(जम्हा) जिस कारण से **(तवसुदवदवं)** तप, श्रुत और व्रत वाली **(चेदा)** आत्मा **(झाणरहधुरंधरो)** ध्यानरूपी रथ की धुरी को धारण करने वाली **(हवे)** होती है **(तम्हा)** उस कारण से **(तल्लद्धीए)** उस ध्यान की प्राप्ति के लिये **(सदा)** हमेशा **(तत्तियणिरदा)** तप, श्रुत और व्रत इन तीनों में निरत **(होह)** होओ।

गाथार्थ—क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरी को धारण करने वाला होता है, इस कारण हे भव्य पुरुषो! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के लिए निरन्तर तप, श्रुत और व्रत में तत्पर रहो ॥५७॥

२०१. वृत्त्यर्थ—तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा क्योंकि तप, श्रुत और व्रतधारी आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने के लिए समर्थ होता है। **तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होइ** हे भव्यो! इस कारण से तप, श्रुत और व्रत, इन तीन में सदा लीन हो जाओ। किस लिए? उस ध्यान की प्राप्ति के लिए। विशेष वर्णन-१. अनशन (उपवास करना), २. अवमौदर्य (कम भोजन करना), ३.वृत्तिपरिसंख्यान (अटपटी आखड़ी करके भोजन करने जाना), ४.रस परित्याग (दूध, दही, घी, तेल, खांड व नमक, इन छह रसों में से एक दो आदि रसों का त्याग करना), ५. विविक्तशय्यासन (निर्जन और एकान्त स्थल में शयन करना, रहना, बैठना), ६. कायक्लेश (आत्मशुद्धि के लिए आतापन योग आदि करना) यह छह प्रकार का बाह्य तप; १. प्रायश्चित, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. व्युत्सर्ग (बाह्य अभ्यंतर उपाधि का त्याग) और ६. ध्यान; यह छह प्रकार का अन्तरंग तप; ऐसे बाह्य तथा अभ्यन्तररूप बारह प्रकार का (व्यवहार) तप है। उसी (व्यवहार) तप

निश्चयतपश्च। तथैवाचाराराधनादिद्रव्यश्रुतं, तदाधारेणोत्पन्नं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपं भावश्रुतं च। तथैव च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां द्रव्यभावरूपाणां परिहरणं व्रतपञ्चकं चेति। एवमुक्त-लक्षणतपःश्रुतव्रतसहितो ध्याता पुरुषो भवति। इयमेव ध्यानसामग्री चेति। तथा चोक्तं–

"वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं [1]समचित्तता।
परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतवः॥१॥"

३०२. भगवन्! ध्यानं तावन्मोक्षमार्गभूतम्। मोक्षार्थिना पुरुषेण पुण्यबन्धकारणत्वाद्व्रतानि त्याज्यानि भवन्ति, भवद्भिः पुनर्ध्यानसामग्रीकारणानि तपःश्रुतव्रतानि व्याख्यातानि, तत् कथं घटत इति? तत्रोत्तरं दीयते–व्रतान्येव केवलानि त्याज्यान्येवं न किन्तु पापबन्धकारणानि हिंसादिविकल्परूपाणि यान्यव्रतानि तान्यपि त्याज्यानि। तथा चोक्तं पूज्यपादस्वामिभिः–

"अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥१॥" (समाधिशतक ८३)

से सिद्ध होने योग्य निज-शुद्ध-आत्म-स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजय करने रूप निश्चय तप है। इसी प्रकार आचार-आराधना[2] आदि द्रव्यश्रुत है तथा उस द्रव्य-श्रुत के आधार से उत्पन्न व विकार रहित निज-शुद्ध-स्वसंवेदनरूप ज्ञान, भावश्रुत है तथा हिंसा, अनृत, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह, इनका द्रव्य व भावरूप से त्याग करना, पाँच व्रत हैं। ऐसे पूर्वोक्त तप, श्रुत और व्रत से सहित पुरुष ध्याता (ध्यान करने वाला) होता है। तप, श्रुत तथा व्रत ही ध्यान की सामग्री है। सो ही कहा है– १. वैराग्य, २. तत्त्वों का ज्ञान, ३. परिग्रहों का त्याग, ४. साम्यभाव और ५. परीषहों का जीतना ये पाँच ध्यान के कारण हैं॥१॥

३०२. शंका–भगवान्! ध्यान तो मोक्ष का कारण है, मोक्ष चाहने वाले पुरुष को पुण्यबन्ध का कारण होने से व्रत त्यागने योग्य है (व्रतों से पुण्य कर्म का बन्ध होता है; पुण्यबन्ध संसार का कारण है; इस कारण मोक्षार्थी व्रतों का त्याग करता है) किन्तु आपने तप, श्रुत और व्रतों को ध्यान की सामग्री बतलाया है। सो यह आपका कथन कैसे सिद्ध होता है? **उत्तर**–केवल व्रत ही त्यागने योग्य नहीं हैं किन्तु पापबंध के कारण हिंसा आदि अव्रत भी त्याज्य हैं। सो ही श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है–अव्रतों से पाप का बन्ध और व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है, पाप तथा पुण्य इन दोनों का नाश होना मोक्ष है, इस कारण मोक्षार्थी पुरुष जैसे अव्रतों का त्याग करता है, वैसे ही अहिंसादि व्रतों का भी त्याग करे॥१॥ परन्तु मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतों का त्याग करके पश्चात् व्रतों को धारण करके निर्विकल्प-समाधि (ध्यान) रूप आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर तदनन्तर एकदेश व्रतों का भी त्याग कर देता है। यह भी श्री पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतक में कहा है–

मोक्ष चाहने वाला पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर परमात्मपद प्राप्त करे और

---

१. 'वशचित्तता' इत्यपि पाठः।

२. आचार-आराधना ग्रन्थ का नाम गा० ३५ व ४२ की टीका में संसारानुप्रेक्षा के अन्त में भी आया है।

किंत्वव्रतानि पूर्वं परित्यज्य ततश्च व्रतेषु तन्निष्ठो भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपं परमात्मपदं प्राप्य पश्चादेकदेशव्रतान्यपि त्यजति। तदप्युक्तं तैरेव–

"**अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।**
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः।।१।।" (समाधिशतक ८४)

३०३. अयं तु विशेषः–व्यवहाररूपाणि यानि प्रसिद्धान्येकदेशव्रतानि तानि त्यक्तानि। यानि पुनः सर्वशुभाशुभनिवृत्तिरूपाणि निश्चयव्रतानि तानि त्रिगुप्तिलक्षणस्वशुद्धात्मसम्वित्तिरूपनिर्विकल्पध्याने स्वीकृतान्येव न च त्यक्तानि।

३०४. प्रसिद्धमहाव्रतानि कथमेकदेशरूपाणि जातानि? इति चेत्तदुच्यते–जीवघातनिवृत्तौ सत्यामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति। तथैवासत्यवचनपरिहारेऽपि सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति। तथैव चादत्तादानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरस्तीत्याद्येकदेशप्रवृत्त्यपेक्षया देशव्रतानि। तेषामेकदेशव्रतानां त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्प-समाधिकाले त्यागः। न च समस्तशुभाशुभनिवृत्तिलक्षणस्य निश्चयव्रतस्येति। त्यागः कोऽर्थः यथैव हिंसादिरूपाव्रतेषु निवृत्तिस्तथैकदेशव्रतेष्वपि।

३०५. कस्मादिति चेत्? त्रिगुप्तावस्थायां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपविकल्पस्य स्वयमेवावकाशो नास्ति। अथवा वस्तुतस्तदेव निश्चयव्रतम्। कस्मात्–सर्वनिवृत्तित्वादिति। योऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गतो

परमपद पाकर उन व्रतों का भी त्याग करे ॥१॥

३०३. विशेष यह है कि जो व्यवहाररूप से प्रसिद्ध एकदेशव्रत हैं, ध्यान में उनका त्याग किया है; किन्तु समस्त त्रिगुप्तिरूप स्व-शुद्ध-आत्म-अनुभवरूप निर्विकल्प ध्यान में समस्त शुभ-अशुभ की निवृत्ति रूप निश्चयव्रत ग्रहण किये हैं, उनका त्याग नहीं किया है?।

३०४. **प्रश्न**–प्रसिद्ध अहिंसादि महाव्रत एकदेश रूप व्रत कैसे हो गये? **उत्तर**–अहिंसा महाव्रत में यद्यपि जीवों के घात से निवृत्ति है; तथापि जीवों की रक्षा करने में प्रवृत्ति है। इसी प्रकार सत्य महाव्रत में यद्यपि असत्य वचन का त्याग है, तो भी सत्य वचन में प्रवृत्ति है। अचौर्यमहाव्रत में यद्यपि बिना दिये हुए पदार्थ के ग्रहण का त्याग है, तो भी दिये हुए पदार्थों (पिच्छिका, कमण्डलु, शास्त्र) के ग्रहण करने में प्रवृत्ति है, इत्यादि एकदेश प्रवृत्ति की अपेक्षा से ये पाँचों महाव्रत देशव्रत हैं। इन एकदेश रूप व्रतों का, त्रिगुप्ति स्वरूप निर्विकल्प समाधि-काल में त्याग है। किन्तु समस्त शुभ-अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत का त्याग नहीं है। **प्रश्न**–त्याग शब्द का क्या अर्थ है? **उत्तर**–जैसे हिंसा आदि पाँच अव्रतों की निवृत्ति है, उसी प्रकार अहिंसा आदि पञ्च महाव्रतरूप एकदेश व्रतों की भी निवृत्ति है, यहाँ त्याग शब्द का यह अर्थ है।

३०५. **शंका**–इन एकदेश व्रतों का त्याग किस कारण होता है? **उत्तर**–त्रिगुप्तिरूप अवस्था में प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप विकल्प का स्वयं स्थान नहीं है। (ध्यान में कोई विकल्प नहीं होता। अहिंसादिक महाव्रत विकल्परूप हैं अतः वे ध्यान में नहीं रह सकते)। अथवा वास्तव में वह निर्विकल्प ध्यान ही निश्चयव्रत है क्योंकि उसमें पूर्ण निवृत्ति है। दीक्षा के बाद दो घड़ी (४८ मिनट)

भरतश्चक्री सोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वा विषयकषायनिवृत्तिरूपं क्षणमात्रं व्रतपरिणामं कृत्वा पश्चाच्छुद्धोपयोगत्वरूपरत्नत्रयात्मके निश्चयव्रताभिधाने वीतरागसामायिकसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा केवलज्ञानं लब्धवानिति। परं किन्तु तस्य स्तोककालत्वाल्लोका व्रतपरिणामं न जानन्तीति। तदेव भरतस्य दीक्षाविधानं कथ्यते। हे भगवन्! जिनदीक्षादानानन्तरं भरतचक्रिणः कियति काले केवलज्ञानं जातमिति श्रीवीरवर्द्धमानस्वामितीर्थकरपरमदेवसमवसरणमध्ये श्रेणिकमहाराजेन पृष्टे सति गौतमस्वामी आह–

''पञ्चमुष्टिभिरुत्पाट्य त्रोटयन् बन्धस्थितीन् कचान्।
लोचानन्तरमेवापद्राजन् श्रेणिक! केवलम्।१।''

३०६. अत्राह शिष्यः। अद्य काले ध्यानं नास्ति। कस्मादिति चेत्? उत्तमसंहननाभावाद्दशचतुर्दश-

---

काल में ही भरतचक्रवर्ती ने जो मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होंने भी जिन-दीक्षा ग्रहण करके, थोड़े काल तक विषय-कषाय की निवृत्तिरूप व्रत का परिणाम करके, तदनन्तर शुद्धोपयोगरूप रत्नत्रयमयी निश्चयव्रत नामक वीतराग सामायिक संज्ञा वाले निर्विकल्पध्यान में स्थित होकर केवलज्ञान प्राप्त किया है। परन्तु व्रत परिणाम के स्तोक काल के कारण लोग श्री भरतजी के व्रत-परिणाम को नहीं जानते।[1] अब उन ही भरतजी के दीक्षाविधान का कथन करते हैं। श्री वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव के समवसरण में श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि हे भगवन्! भरतचक्रवर्ती को जिनदीक्षा लेने के पीछे कितने समय में केवलज्ञान हुआ? श्री गौतम गणधर ने उत्तर दिया–

हे श्रेणिक! पंच-मुष्ठियों से बालों को उखाड़कर (केशलौंच करके) कर्मबंध की स्थिति तोड़ते हुए, केशलौंच के अनन्तर ही भरतचक्रवर्ती ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ॥१॥

३०६. **शिष्य का प्रश्न**–इस पंचमकाल में ध्यान नहीं है क्योंकि इस काल में उत्तम संहनन

---

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश जैसी अमर कृति के निर्माता, महान् दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विद्वान् क्षु० जिनेन्द्रवर्णीजी (अन्त में मुनि सिद्धान्तसागरजी महाराज) लिखते हैं–''दर्शन-ज्ञान-चारित्र के शास्त्रोक्त विभिन्न लक्षणों में दृष्ट यह सोपान क्रम ही पूर्वोत्तरवर्ती लक्षणों का, वह साधन-साध्य भाव है जिसे आचार्यों ने व्यवहार तथा निश्चय की समन्वयात्मक सन्धि के रूप में प्रस्तुत किया है। नय-योजना के प्रकरण में अथवा रत्नत्रय की साधना के प्रकरण में सर्वत्र व्यवहार-निश्चय की इस सन्धि के उल्लंघन करने का आज तक किसी ने साहस नहीं किया है, न ही कोई कर सकता हैं; क्योंकि ऐसी कल्पना न्याय तथा विज्ञान दोनों के विरुद्ध है। न्याय विरुद्ध तो इसलिए है कि बिना साधन साध्य की सिद्धि अथवा बिना हेतु पक्ष की सिद्धि सम्भव नहीं। विज्ञान विरुद्ध इसलिए है कि बिना साधना के जीवन में दोष निवृत्ति तथा गुण-वृद्धि की बात कोरी कल्पना है। स्वयं तीर्थंकरों तक को इस भव में अथवा पूर्व भवों में विकट साधनायें करनी पड़ी हैं। बिना विशेष साधना के सिद्धि प्राप्त करने वाले भरत-चक्री जैसे विरल उदाहरण भी इस विज्ञान का खण्डन करने के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि उनके वर्तमान भव के पीछे पूर्ववर्ती जन्म-जन्मान्तरों की साधनायें स्थित हैं।'' [समकित, समीचीन साधना तथा वर्ण व्यवस्था, पृ०१८-१९ शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला] अतः कोई ऐसा न समझ ले कि भरत की तरह बिना साधना के हमें भी दीक्षा लेते ही तत्काल केवलज्ञान हो जायेगा।

पूर्वगतश्रुतज्ञानाभावाच्च। अत्र परिहारः—शुक्लध्यानं नास्ति धर्मध्यानमस्तीति। तथा चोक्तं मोक्षप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः—

''भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्पसहावठिए ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी।१।
अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा ज्झाऊण लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थचुदा णिव्वुदिं जंति।२।''

तथैव तत्त्वानुशासनग्रन्थे चोक्तं—

''अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्त्तिनाम्।१।''

यथोक्त मुत्तमसंहननाभावात्तदुत्सर्गवचनम्। अपवादव्याख्यानेन पुनरुपशमक्षपकश्रेण्योः शुक्लध्यानं भवति, तच्चोत्तमसंहननेनैव, अपूर्वगुणस्थानादधस्तनेषु गुणस्थानेषु धर्मध्यानं, तच्चादिमत्रिकोत्तम-संहननाभावेऽप्यन्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति। तदप्युक्तं तत्रैव तत्त्वानुशासने—

''यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नोऽधस्तान्निषेधकम्।१।''

(वज्रवृषभनाराच संहनन) का अभाव है तथा दश एवं चौदहपूर्व श्रुतज्ञान भी नहीं पाया जाता? **उत्तर—**इस समय शुक्लध्यान नहीं है परन्तु धर्मध्यान है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने मोक्षप्राभृत में कहा है—भरतक्षेत्र विषम दुःषमा नामक पंचमकाल में ज्ञानी जीव के धर्मध्यान होय है। यह धर्मध्यान आत्म-स्वभाव में स्थित के होय है। जो यह नहीं मानता, वह अज्ञानी है ॥१॥ इस समय भी जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय से शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद अथवा लौकांतिकदेव पद को प्राप्त होते हैं और वहाँ से चयकर नरदेह ग्रहण करके मोक्ष को जाते हैं ॥२॥

ऐसा ही तत्त्वानुशासन ग्रंथ में भी कहा है—इस समय (पंचमकाल) में जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते हैं; किन्तु श्रेणी से पूर्व में होने वाले धर्मध्यान का अस्तित्व बतलाया है ॥१॥ तथा—जो यह कहा है कि—''इस काल में उत्तम संहनन का अभाव है इस कारण ध्यान नहीं होता'' सो यह उत्सर्ग वचन है अपवादरूप व्याख्यान से तो उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी में शुक्लध्यान होता है और वह उत्तम संहनन से ही होता है; किन्तु अपूर्वकरण (८ वें) गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानों में जो धर्मध्यान होता है, वह धर्मध्यान पहले तीन उत्तम संहननों के अभाव होने पर भी अन्तिम के (अर्द्धनाराच, कीलक और सृपाटिका) तीन संहननों से भी होता है।

यह भी उसी तत्त्वानुशासन ग्रंथ में कहा है—वज्रकाय (संहनन) वाले के ध्यान होता है, ऐसा आगम-वचन उपशम तथा क्षपक श्रेणी के ध्यान की अपेक्षा कहा है। यह वचन नीचे के गुणस्थानों में धर्मध्यान का निषेधक नहीं है।

यथोक्तंदशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानेन ध्यानं भवति तदप्युत्सर्गवचनम्। अपवादव्याख्यानेन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकसारभूतश्रुतेनापि ध्यानं भवति केवलज्ञानञ्च। यद्येवमपवादव्याख्यानं नास्ति तर्हि "**तुसमासं घोसन्तो सिवभूदी केवली जादो**" इत्यादिगन्धर्वाराधनादिभणितं व्याख्यानं कथं घटते?

३०७. अथ मतं—पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतमिति जानाति। इदं भावश्रुतं पुनः सर्वमस्ति। नैवं वक्तव्यम्। यदि पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतं जानाति तर्हि "**मा रूसह मा तूसह**" इत्येकं पदं किं न जानाति। तत एव ज्ञायतेऽष्टप्रवचनमातृप्रमाणमेव भावश्रुतं, द्रव्यश्रुतं पुनः किमपि नास्ति। इदन्तु व्याख्यानमस्माभिर्न कल्पितमेव। तच्चारित्रसारादिग्रन्थेष्वपि भणितमास्ते। तथाहि—अन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं ये केवलज्ञानमुत्पादयन्ति ते क्षीणकषायगुणस्थानवर्त्तिनो निर्ग्रन्थसंज्ञा ऋषयो भण्यन्ते। तेषां चोत्कर्षेण चतुर्दशपूर्वादिश्रुतं भवति, जघन्येन पुनः पञ्चसमितित्रिगुप्तिमात्रमेवेति।

३०८. अथ मतं—मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते न चाद्य काले मोक्षोऽस्ति; ध्यानेन किंप्रयोजनम्? नैवं-अद्य कालेऽपि परम्परया मोक्षोऽस्ति। कथमिति चेत्? स्वशुद्धात्मभावनाबलेन संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा

जो ऐसा कहा है कि "दश तथा चौदहपूर्व तक के श्रुतज्ञान से ध्यान होता है" वह भी उत्सर्ग-वचन है। अपवाद व्याख्यान से तो पाँच समिति और तीन गुप्ति को प्रतिपादन करने वाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान और केवलज्ञान होता है। यदि ऐसा अपवाद व्याख्यान न हो, तो तुष-माष का उच्चारण करते हुए श्री शिवभूति मुनि केवलज्ञानी हो गये इत्यादि गंधर्वाराधनादि ग्रन्थों में कहा हुआ कथन कैसे सिद्ध होवे।

३०७. **शंका**—श्री शिवभूति मुनि पाँच समिति और तीन गुप्तियों को प्रतिपादन करने वाले द्रव्यश्रुत को जानते थे और भावश्रुत उनके पूर्णरूप से था। **उत्तर**—ऐसा नहीं है, क्योंकि यदि शिवभूति मुनि पाँच समिति और तीन गुप्तियों का कथन करने वाले द्रव्यश्रुत को जानते थे तो उन्होंने "मा तूसह मा रूसह" अर्थात् "किसी में राग और द्वेष मत कर" इस एक पद को क्यों नहीं जाना। इसी कारण से जाना जाता है कि पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचन मातृका प्रमाण ही उनके भावश्रुत था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था। यह व्याख्यान मैंने ही कल्पित नहीं किया है; किन्तु चारित्रसार आदि शास्त्रों में भी यह वर्णन हुआ है, तथाहि—अंतर्मुहूर्त में जो केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं वे क्षीणकषाय गुणस्थान में रहने वाले 'निर्ग्रन्थ' नामक ऋषि कहलाते हैं और उनके उत्कृष्टता से ग्यारह अंग, चौदह पूर्व पर्यन्त श्रुतज्ञान होता है, जघन्य से पाँच समिति तीन गुप्ति मात्र ही श्रुतज्ञान होता है।[1]

३०८. **शंका**—मोक्ष के लिए ध्यान किया जाता है और इस पञ्चम काल में मोक्ष होता नहीं, अतः ध्यान करने से क्या प्रयोजन? **समाधान**—ऐसा नहीं है, क्योंकि इस पंचमकाल में भी परम्परा से मोक्ष है। **प्रश्न**—परम्परा से मोक्ष कैसे है? **उत्तर**— (ध्यानी पुरुष) निजशुद्ध-आत्म-भावना के बल

---

१. सर्वार्थसिद्धि ९/४७ में भी यही कहा है।

देवलोकं गच्छति, तस्मादागत्य मनुष्यभवे रत्नत्रयभावनां लब्ध्वा शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति। येऽपि भरतसगर-रामपाण्डवादयो मोक्षं गतास्तेपि पूर्वभवे अभेदरत्नत्रयभावनया संसारस्थितिं स्तोकां कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः। तद्भवे सर्वेषां मोक्षो भवतीति नियमो नास्ति। एवमुक्तप्रकारेण अल्पश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यम्–

''वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः।१।
संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन्।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किं च नापि पक्षे परं भवति कल्मषसंश्रयस्य।२।
दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितोत्तरङ्गम्।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः।३।
कंखिद कलुसिदभूदो कामभोगेहिं मुच्छिदो जीवो।
ण य भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि।४।''

इत्याद्यपध्यानं त्यक्त्वा–

''ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।१।

से संसार-स्थिति को अल्प करके स्वर्ग में जाते हैं। वहाँ से आकर मनुष्य भव में रत्नत्रय की भावना को प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्ष जाते हैं। जो भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती, रामचन्द्र, पांडव (युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम) आदि मोक्ष गये हैं, वे भी पूर्वभव में भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से संसार-स्थिति को स्तोक करके फिर मोक्ष गये। उसी भव में सबको मोक्ष हो जाता है, ऐसा नियम नहीं। उपर्युक्त कथनानुसार अल्पश्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है। यह जानकर क्या करना चाहिए? द्वेष से किसी को मारने, बांधने व अंग काटने आदि का और राग से परस्त्री आदि का जो चिंतन करना है, निर्मल बुद्धि के धारक आचार्य जिनमत में उसको अपध्यान कहते हैं ॥१॥ हे जीव! संकल्परूपी कल्पवृक्ष का आश्रय करने से तेरा चंचल चित्त इस मनोरथरूपी सागर में डूब जाता है, वैसे उन संकल्पों में जीव का वास्तव में कुछ प्रयोजन नहीं सधता, प्रत्युत कलुषता से समागम करने वालों का अर्थात् कलुषित चित्त वालों का अकल्याण होता है ॥२॥ जिस प्रकार दुर्भाग्य से दुःखित मन वाले तेरे अन्तरंग में भोग भोगने की इच्छा से व्यर्थ तरंगें उठती रहती हैं। उसी प्रकार यदि वह मन परमात्मरूप स्थान में स्फुरायमान हो तो तेरा जन्म कैसे निष्फल हो सकता है? अर्थात् तेरा जन्म सफल हो जावे ॥३॥ आकांक्षा से कलुषित हुआ और काम भोगों में मूर्च्छित, यह जीव भोगों को नहीं भोगता हुआ भी भावों से कर्मों को बाँधता है ॥४॥

इत्यादि रूप दुर्ध्यान को छोड़कर निर्ममत्व में स्थित होकर अन्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि का त्याग करता हूँ, मेरे आत्मा का ही आलंबन है, अन्य सबको मैं त्यागता हूँ ॥१॥

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे।२।
एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।३।''

इत्यादिसारपदानि गृहीत्वा च ध्यानं कर्त्तव्यमिति।

३०९. अथ मोक्षविषये पुनरपि नयविचारः कथ्यते। तथाहि मोक्षस्तावत् बन्धपूर्वकः॥ तथाचोक्तं–

''मुक्तश्चेत् प्राक् भवेद्बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम्।
अबन्धे मोचनं नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थकः।१।''

बन्धश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति। तथा बन्धपूर्वको मोक्षोऽपि। यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बन्धो भवति तदा सर्वदैव बन्ध एव, मोक्षो नास्ति। किंच–यथा शृङ्खलाबद्धपुरुषस्य बन्धच्छेदकारणभूतभावमोक्षस्थानीयं बन्धच्छेदकारणभूतं 'पौरुषं' पुरुषस्वरूपं न भवति, तथैव शृङ्खलापुरुषयोर्यद्द्रव्यमोक्षस्थानीयं पृथक्करणं तदपि पुरुषस्वरूपं न भवति। किन्तु ताभ्यां भिन्नं यद्दृष्टं हस्तपादादिरूपं तदेव पुरुषस्वरूपम्। तथैव शुद्धोपयोगलक्षणं भावमोक्षस्वरूपं शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवति, तथैव तेन साध्यं यज्जीवकर्मप्रदेशयोः पृथक्करणं द्रव्यमोक्षरूपं तदपि जीवस्वभावो न भवति। किन्तु ताभ्यां भिन्नं यदनन्तज्ञानादिगुणस्वभावं

मेरा आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही संवर है और आत्मा ही योग है ॥२॥ ज्ञान-दर्शन का धारक अविनाशी एक मेरा आत्मा है और शेष सब संयोग लक्षण वाले बाह्य भाव हैं ॥३॥ इत्यादि सारभूत पदों को ग्रहण करके ध्यान करना चाहिए।

३०९. अब मोक्ष के विषय में फिर भी नय विचार कहते हैं—मोक्ष बन्धपूर्वक है। सो ही कहा है—यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के बन्ध अवश्य होना चाहिए क्योंकि यदि बन्ध न हो तो मोक्ष (छूटना) कैसे हो सकता है। इसलिए अबन्ध (न बंधे हुए) की मुक्ति नहीं हुआ करती, उसके तो मुंच् धातु (छूटने की वाचक) का प्रयोग ही व्यर्थ है (कोई मनुष्य पहले बंधा हुआ हो, फिर छूटे, तब वह मुक्त कहलाता है। ऐसे ही जो जीव पहले कर्मों से बंधा हो उसी को मोक्ष होता है)। शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से बन्ध है ही नहीं। इस प्रकार शुद्ध-निश्चयनय से बंधपूर्वक मोक्ष भी नहीं है। यदि शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा बन्ध होवे तो सदा ही बन्ध होता रहे, मोक्ष ही न हो। जैसे जंजीर से बंधे हुए पुरुष के, बन्ध नाश के कारणभूत जो भावमोक्ष है उसकी जगह जो जंजीर के बंधन को छेदने का कारणभूत उद्यम है, वह पुरुष का स्वरूप नहीं है और इसी प्रकार द्रव्यमोक्ष के स्थान में जो जंजीर और पुरुष इन दोनों का अलग होना है, वह भी पुरुष का स्वरूप नहीं है किन्तु उन उद्यम और जंजीर के छुटकारे से जुदा जो देखा हुआ हस्तपाद आदि रूप आकार है, वही पुरुष का स्वरूप है। उसी प्रकार शुद्धोपयोगरूप जो भाव मोक्ष का स्वरूप है, वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीव का स्वरूप नहीं है और उसी तरह उस भावमोक्ष से साध्य जो जीव और कर्म के प्रदेशों के पृथक् होने रूप द्रव्य मोक्ष का स्वरूप है, वह भी जीव का स्वभाव नहीं है किन्तु उन भाव व द्रव्यमोक्ष से भिन्न तथा उनका

फलभूतं तदेव शुद्धजीवस्वरूपमिति। अयमत्रार्थः—यथा विवक्षितैक-देशशुद्धनिश्चयेन पूर्वं मोक्षमार्गो व्याख्यातस्तथा पर्यायमोक्षरूपो मोक्षोऽपि। न च शुद्धनिश्चयनयेनेति। यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूपः शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणपरमनिश्चयमोक्षः स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न। स एव रागादिविकल्परहिते मोक्षकारणभूते ध्यानभावनापर्याये ध्येयो भवति, न च ध्यानभावनापर्यायरूपः। यदि पुनरेकान्तेन द्रव्यार्थिकनयेनापि स एव मोक्षकारणभूतो ध्यानभावना पर्यायो भण्यते तर्हि द्रव्यपर्याय-रूपधर्मद्वयाधारभूतस्य जीवधर्मिणो मोक्षपर्याये जाते सति यथा ध्यानभावनापर्यायरूपेण विनाशो भवति, तथा ध्येयभूतस्य जीवस्य शुद्धपारिणामिकलक्षणभावद्रव्यरूपेणापि विनाशः प्राप्नोति। न च द्रव्यरूपेण विनाशोऽस्ति। ततः स्थितं शुद्धपारिणामिकभावेन बन्धमोक्षौ न भवत इति।

३१०. अथात्मशब्दार्थः कथ्यते। 'अत' धातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्त्तते। गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते "**सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था**" इति वचनात्। तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्त्तते यः स आत्मा भण्यते। अथवा शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैर्यथासम्भवं तीव्रमन्दादिरूपेण आसमन्तादतति वर्त्तते यः स आत्मा। अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्त्तते यः स आत्मा।

फलभूत जो अनन्त ज्ञान आदि गुण-रूप स्वभाव है, वही शुद्ध जीव का स्वरूप है। यहाँ तात्पर्य यह है कि, जैसे विवक्षित-एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से पहले मोक्षमार्ग का व्याख्यान है; उसी प्रकार पर्यायमोक्ष रूप जो मोक्ष है, वह भी एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से है; किन्तु शुद्ध-निश्चयनय से नहीं है। जो शुद्ध-द्रव्य की शक्ति रूप शुद्ध-पारिणामिक परमभाव रूप परमनिश्चय मोक्ष है, वह तो जीव में पहले ही विद्यमान है, वह परमनिश्चय मोक्ष जीव में अब होगा, ऐसा नहीं है। राग आदि विकल्पों से रहित मोक्ष का कारणभूत ध्यान-भावना-पर्याय में, वही परम निश्चय मोक्ष ध्येय होता है, वह निश्चय मोक्ष ध्यान-भावना-पर्यायरूप नहीं है। यदि एकांत से द्रव्यार्थिक नय से भी उसी (परमनिश्चय मोक्ष) को मोक्ष का कारणभूत ध्यान-भावना-पर्याय कहा जावे, तो द्रव्य और पर्याय रूप दो धर्मों के आधारभूत जीव-धर्मी का, मोक्षपर्याय प्रकट होने पर, जैसे ध्यान-भावना-पर्यायरूप से विनाश होता है, उसी प्रकार शुद्ध-पारिणामिक-भाव स्वरूप द्रव्य रूप से भी ध्येयभूत जीव का विनाश प्राप्त होगा; किन्तु द्रव्य रूप से जीव का विनाश नहीं है। इस कारण, "शुद्ध-पारिणामिक भाव से जीव के बन्ध और मोक्ष नहीं है" यह कथन सिद्ध हो गया।

३१०. अब आत्मा शब्द का अर्थ कहते हैं। 'अत' धातु निरंतर गमन करने रूप अर्थ में है और सब गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं[1] इस वचन से यहाँ पर 'गमन' शब्द से ज्ञान कहा जाता है। इस कारण जो यथासंभव ज्ञान सुख आदि गुणों में सर्व प्रकार वर्त्तता है, वह आत्मा है। अथवा शुभ-अशुभ मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा यथासम्भव तीव्र-मंद आदि रूप से जो पूर्णरूपेण वर्तता है, वह आत्मा है। अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मों के द्वारा जो पूर्णरूप से वर्तता है, वह आत्मा है।

---

१. राजवार्तिकेऽप्युक्तम्-गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्। राजवार्तिक ५/२/१ पृ० ४३६

३११. किञ्च—यथैकोऽपि चन्द्रमा नानाजलघटेषु दृश्यते तथैकोऽपि जीवो नानाशरीरेषु तिष्ठतीति वदन्ति तत्तु न घटते। कस्मादिति चेत्—चन्द्रकिरणोपाधिवशेन घटस्थजलपुद्गला एव नानाचन्द्राकारेण परिणता, नचैकश्चन्द्रः। तत्र दृष्टान्तमाह—यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणस्थपुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणता, न चैकं देवदत्तमुखं नानारूपेण परिणतम्। परिणमतीति चेत्—तर्हि दर्पणस्थप्रतिबिम्बं चैतन्यं प्राप्नोतीति, न च तथा। किन्तु यद्येक एव जीवो भवति, तदैकजीवस्य सुखदुःखजीवितमरणादिके प्राप्ते तस्मिन्नेव क्षणे सर्वेषां जीवितमरणादिकं प्राप्नोति न च तथा दृश्यते।

३१२. अथवा ये वदन्ति यथैकोऽपि समुद्रः क्वापि क्षारजलः क्वापि मिष्टजलस्तथैकोऽपि जीवः सर्वदेहेषु तिष्ठतीति। तदपि न घटते। कथमिति चेत्—जलराश्यपेक्षया तत्रैकत्वं, न च जलपुद्गलापेक्षया तत्रैकत्वम्। यदि जलपुद्गलापेक्षया भवत्येकत्वं तर्हि स्तोकजले गृहीते शेषजलं सहैव किन्नायाति। ततः स्थितं षोडशवर्णिकासुवर्णराशिवदनन्तज्ञानादिलक्षणं प्रत्येकं जीवराशिं प्रति न चैकजीवापेक्षयेति।

३१३. अध्यात्मशब्दस्यार्थः कथ्यते। मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्म-

---

३११. **शंका—**जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जल के भरे हुए घटों में देखा जाता है, इसी प्रकार एक ही जीव अनेक शरीरों में रहता है? **उत्तर—**यह कथन घटित नहीं होता। **प्रश्न—**क्यों नहीं घटित होता? **उत्तर—**चन्द्रकिरणरूप उपाधि-वश से घटों में स्थित जलरूपी, पुद्गल ही नाना-चन्द्र-आकार रूप परिणत हुआ है, एक चन्द्रमा अनेक रूप नहीं परिणमा है। दृष्टान्त कहते हैं—जैसे देवदत्त के मुख रूप उपाधि के वश से अनेक दर्पणों में स्थित पुद्गल ही अनेक मुख रूप परिणमते हैं, एक देवदत्त का मुख अनेक रूप नहीं परिणमता। यदि कहो कि देवदत्त का मुख ही अनेक मुख रूप परिणमता है, तो दर्पणस्थित देवदत्त के मुख के प्रतिबिम्ब भी, देवदत्त के मुख की तरह, चेतन (सजीव) हो जायेंगे, परन्तु ऐसा नहीं है (दर्पणों में मुख-प्रतिबिम्ब चेतन नहीं हैं) यदि अनेक शरीरों में एक ही जीव हो तो, एक जीव को सुख-दुःख-जीवन-मरण आदि प्राप्त होने पर, उसी क्षण सब जीवों को सुख-दुःख-जीवन-मरण आदि प्राप्त होने चाहिए; किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता।

३१२. अथवा जो ऐसा कहते हैं कि, ''जैसे एक ही समुद्र कहीं तो खारे जल वाला है, कहीं मीठे जल वाला है, उसी, प्रकार एक ही जीव सब देहों में विद्यमान है'' सो यह कहना भी घटित नहीं होता। **प्रश्न—**क्यों नहीं घटित होता। **उत्तर—**समुद्र में जलराशि की अपेक्षा से एकता है, जल-पुद्गलों (कणों) की अपेक्षा से एकता नहीं है। यदि जलपुद्गलों की अपेक्षा से एकता होती (एक अखण्ड द्रव्य होता) तो समुद्र में से थोड़ा जल ग्रहण करने पर शेष जल भी उसके साथ ही क्यों न आ जाता। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि ''सोलह-वानी के सुवर्ण की राशि के समान अनन्तज्ञान आदि लक्षण की अपेक्षा जीवराशि में एकता है और एक जीव की (समस्त जीवराशि में एक ही जीव है, इस) अपेक्षा से जीवराशि में एकता नहीं है।

३१३. अब 'अध्यात्म' शब्द का अर्थ कहते हैं। मिथ्यात्व-राग आदि समस्त विकल्प, समूह

न्यधि यदनुष्ठानं तदध्यात्ममिति। एवं ध्यानसामग्रीव्याख्यानोपसंहाररूपेण गाथा गता ॥५७॥

३१४. अथौद्धत्यपरिहारं कथयति–

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं ॥५८॥

बिन्दु मात्र श्रुत का धारक हूँ, पार सिन्धु का कब पाता।
नेमिचन्द्र नामक मुनि मुझसे लिखा 'द्रव्यसंग्रह' साता॥
दूर हुए दोषों से कोसों - श्रुत - कोषों से पूर हुए।
शोधें वे 'आचार्य' इसे यदि भाव यहाँ प्रतिकूल हुए॥५८॥

३१५. वृत्ति–सोधयंतु शुद्धं कुर्वन्तु। के कर्त्तारः? **मुणिणाहा** मुनिनाथा मुनिप्रधानाः। किं विशिष्टाः? **दोससंचयचुदा** निर्दोषपरमात्मनो विलक्षणा ये रागादिदोषास्तथैव च निर्दोषपरमात्मादितत्त्व-परिज्ञानविषये संशयविमोहविभ्रमास्तैश्च्युता रहिता दोषसंचयच्युताः। पुनरपि कथम्भूताः? **सुदपुण्णा** वर्त्तमानपरमागमाभिधानद्रव्यश्रुतेन तथैव तदाधारोत्पन्ननिर्विकारस्वसम्वेदनज्ञानरूपभावश्रुतेन च पूर्णाः समग्राः श्रुतपूर्णाः। कं शोधयन्तु? **दव्वसंगहमिणं** शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मादिद्रव्याणां संग्रहो द्रव्य-

---

के त्याग द्वारा निज-शुद्ध-आत्मा में जो अनुष्ठान (प्रवृत्ति का करना) उसको 'अध्यात्म' कहते हैं। इस प्रकार ध्यान की सामग्री के व्याख्यान के उपसंहार रूप से यह गाथा समाप्त हुई ॥५७॥

३१४. अब ग्रन्थकार अपने अभिमान के परिहार के लिए छन्द कहते हैं–

अन्वयार्थ– (तणुसुत्तधरेण) अल्पश्रुत को धारण करने वाले **(णेमिचंदमुणिणा)** मुझ नेमिचन्द्र मुनि के द्वारा **(जं इणं दव्वसंगहं भणियं)** जो यह द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ कहा गया है इसको **(दोससंचयचुदा(या))** दोषों के समूह से रहित **(सुदपुण्णा)** श्रुत में परिपूर्ण **(मुणिणाहा)** मुनियों के नाथ बहुश्रुत ज्ञाता गुरुजन **(सोधयंतु)** शुद्ध करें।

गाथार्थ–अल्पज्ञान के धारक मुझ नेमिचन्द्र मुनि ने जो यह द्रव्यसंग्रह कहा है, दोषों से रहित और ज्ञान से पूर्ण ऐसे आचार्य इसका शोधन करें।

३१५. वृत्त्यर्थ–सोधयंतु शुद्ध करें। कौन शुद्ध करें? **मुणिणाहा** मुनिनाथ, मुनियों में प्रधान अर्थात् आचार्य। कैसे हैं वे आचार्य? **दोससंचयचुदा** निर्दोष-परमात्मा से विलक्षण से जो राग आदि दोष तथा निर्दोष-परमात्मादि तत्त्वों के जानने में संशय-विमोह-विभ्रमरूप दोष, इन दोषों से रहित होने से, दोषों से रहित हैं। फिर कैसे हैं? **सुदपुण्णा** वर्तमान परमागम नामक द्रव्य-श्रुत से तथा उस परमागम के आधार से उत्पन्न निर्विकार-स्व-अनुभव रूप भावश्रुत से परिपूर्ण होने से श्रुत पूर्ण हैं। किसको शुद्ध करें? **दव्वसंगहमिणं** शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव परमात्मा आदि द्रव्यों के संग्रह रूप जो द्रव्यसंग्रह इस प्रत्यक्षीभूत **'द्रव्यसंग्रह'** नामक ग्रन्थ को। कैसे द्रव्यसंग्रह को? **भणियं जं** जिस ग्रन्थ

संग्रहस्तं द्रव्यसंग्रहाभिधानं ग्रन्थमिमं प्रत्यक्षीभूतम्। किं विशिष्टं? **भणियं जं** भणितः प्रतिपादितो यो ग्रन्थः। केन कर्तृभूतेन? **णेमिचंदमुणिणा** श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवाभिधानेन मुनिना सम्यग्दर्शनादि-निश्चयव्यवहाररूपपञ्चाचारोपेताचार्येण कथम्भूतेन? **तणुसुत्तधरेण** तनुश्रुतधरेण तनुश्रुतं स्तोकं श्रुतं तद्धरतीति तनुश्रुतधरस्तेन। इति क्रियाकारकसम्बन्धः। एवं ध्यानोपसंहारगाथात्रयेण, औद्धत्यपरिहारार्थं प्राकृतवृत्तेन च द्वितीयान्तराधिकारे तृतीयं स्थलं गतम् ॥५८॥

३१६. इत्यन्तराधिकारद्वयेन विंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तृतीयोऽधिकारः समाप्तः॥३॥

३१७. अत्र ग्रन्थे ''विवक्षितस्य सन्धिर्भवति'' इति वचनात्पदानां सन्धिनियमो नास्ति, वाक्यानि च स्तोकस्तोकानि कृतानि सुखबोधनार्थम्। तथैव लिङ्गवचनक्रियाकारकसम्बन्धसमासविशेषण-वाक्यसमाप्त्यादिदूषणं तथा च शुद्धात्मादितत्त्वप्रतिपादनविषये विस्मृतिदूषणं च विद्वद्भिर्न ग्राह्यमिति।

३१८. एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **जीवमजीवं दव्वं** इत्यादिसप्तविंशतिगाथाभिः षट्द्रव्यपञ्चास्तिकाय-प्रतिपादकनामा प्रथमोऽधिकारः। तदनन्तरं **आसवबंधण** इत्येकादशगाथाभिः सप्ततत्त्वनवपदार्थ-प्रतिपादकनामा द्वितीयोऽधिकारः। ततः परं **सम्मद्दंसण** इत्यादिविंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तृतीयोऽधिकारः।

को कहा है। किसने कहा है? **णेमिचंदमुणिणा** सम्यग्दर्शन आदि निश्चय-व्यवहार रूप पंच-आचार सहित 'श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव' नामक मुनि ने। कैसे नेमिचन्द्र ने? **तणुसुत्तधरेण** अल्पश्रुतज्ञानी ने। जो स्तोक श्रुत को धारण करे वह अल्पश्रुतज्ञानी है। इस प्रकार क्रिया और कारकों का सम्बन्ध है। इस प्रकार ध्यान के उपसंहार रूप तीन गाथाओं से तथा ज्ञान के अभिमान के परिहार के लिए एक प्राकृत छन्द से द्वितीय अन्तराधिकार में तृतीय स्थल समाप्त हुआ ॥५८॥

३१६. ऐसे दो अन्तराधिकारों द्वारा बीस गाथाओं से मोक्षमार्ग-प्रतिपादक तृतीयाधिकार समाप्त हुआ॥

३१७. इस ग्रन्थ में विवक्षित विषय की संधि होती है इस वचन-अनुसार पदों की संधि का नियम नहीं है। (कहीं पर संधि की है और कहीं पर नहीं)। सरलता से बोध कराने के लिए, वाक्य छोटे-छोटे बनाये गये हैं। लिंग, वचन, क्रिया, कारक, सम्बन्ध, समास, विशेषण और वाक्य-समाप्ति आदि दूषण एवं शुद्ध-आत्मा आदि तत्त्वों के कथन में विस्मरण (भूल) आदि दूषण इस ग्रन्थ में हों, उन्हें विद्वान् पुरुष ग्रहण न करें।

३१८. इस तरह जीवमजीवं दव्वं इत्यादि २७ गाथाओं का षट्द्रव्यपंचास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथम अधिकार है। तदनन्तर आस्रव बन्धण इत्यादि ११ गाथाओं का सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा दूसरा अधिकार है। उसके पश्चात् सम्मद्दंसण आदि बीस गाथाओं का मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तीसरा अधिकार है।

३१९. इत्यधिकारत्रयेनाष्टाधिकपञ्चाशत्सूत्रैः श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैर्विरचितस्य द्रव्यसंग्रहाभिधान-ग्रन्थस्य सम्बन्धिनी श्रीब्रह्मदेवकृतवृत्तिः समाप्ता ॥

---

३१९. इस प्रकार श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेव विरचित तीन अधिकारों की ५८ गाथाओं वाले द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ की श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत-वृत्ति समाप्त हुई।

❑ ❑ ❑

दव्वसंगहो

(२५ या २६ गाथा:)

छद्दव्व पंच अत्थी सत्त वि तच्चाणि णव पयत्था य।
भंगुप्पाय-धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥१॥

अन्वयार्थ–(जेण) जिनके द्वारा **(छद्दव्व)** छह द्रव्य, **(पंच अत्थी)** पाँच अस्तिकाय, **(सत्त वि तच्चाणि)** सात तत्त्व, **(णव पयत्था य)** नव पदार्थ और **(भंगुप्पाय-धुवत्ता)** व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य, **(णिद्दिट्ठा)** निर्देश किए गए हैं, **(सो जिणो)** वे श्री जिनेन्द्रदेव **(जयउ)** जयवन्त हों।

जीवो पुग्गल धम्माधम्मागासो तहेव कालो य।
दव्वाणि कालरहिया पदेस बाहुल्लदो[१] अत्थिकाया य॥ २॥

अन्वयार्थ–(जीवो पुग्गल धम्माधम्मागासो तहेव कालो य दव्वाणि) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-द्रव्य हैं, **(कालरहिया पदेस बाहुल्लदो अत्थिकाया य)** काल को छोड़कर शेष उक्त पाँच द्रव्य, बहुप्रदेशी होने के कारण, अस्तिकाय हैं।

जीवाजीवासवबंध संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्ण-पावा पयत्था य ॥३॥

अन्वयार्थ–(जीवाजीवासवबन्धसंवरो णिज्जरा तहा मोक्खो तच्चाणि सत्त) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष-सात तत्त्व हैं; **(एदे सपुण्ण-पावा पयत्था य)** ये (उक्त सात तत्त्व) पुण्य व पाप सहित नव पदार्थ हैं।

[२]जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो[३] सचेयणा कत्ता।
भोत्ता सो पुण दुविहो सिद्धो संसारिओ णाणा ॥४॥

अन्वयार्थ–(जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता भोत्ता) जीव (द्रव्य) अमूर्तिक, स्वदेह-प्रमाण, चेतना सहित, कर्ता और भोक्ता है, **(सो पुण दुविहो)** वह (जीव) दो प्रकार का है,

---

१. अ (ऽ)त्थिकाया' इत्यपि पाठः, २. कुछ अन्तर से बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २ से मिलती है। ३. स्वदेहमात्रः को सामान्यतः सदेहमत्तो या सदेहमेत्तो रूप बनता है परन्तु यहाँ पर मेत्त गत तकार में द्वित्व होने के कारण अकारगत एकार को इकार ह्रस्व होकर 'मित्तो' रूप बना है।

(सिद्धो संसारिओ) सिद्ध और संसारी; **(णाणा)** (संसारी जीव) नाना प्रकार के हैं।

[१]अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंट्ठाणं[२]॥५॥

अन्वयार्थ—(जीवं) जीव को **(अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं अलिंगग्गहणं अणिदिट्ठसंट्ठाणं[३])** रस-रहित, रूप-रहित, गंध-रहित, अव्यक्त (स्पर्श-रहित), शब्द-रहित; अलिंग-ग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण में नहीं आने वाला), अनिर्दिष्ट संस्थान वाला (जिसका कोई संस्थान निर्दिष्ट नहीं है) और चेतन-गुण-वाला 'जाण' जानो।

वण्ण-रस-गंध-फासा विज्जंते जस्स जिणवरुद्दिट्ठा।
मुत्तो पुग्गलकाओ पुढवी पहुदी हु सो सोढा ॥६॥

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसके **(वण्ण-रस-गंध-फासा)** वर्ण, रस, गंध तथा स्पर्श **(विज्जंते)** विद्यमान हैं, **(सो मुत्तो पुग्गलकाओ)** वह मूर्तिक पुद्‌गल-काय **(पुढवी पहुदी हु सोढा)** पृथ्वी प्रभृति (आदि) छह प्रकार का **(जिणवरुद्दिट्ठा)** श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया है।

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ॥७॥

अन्वयार्थ—(पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू) १.पृथ्वी, २.जल, ३. छाया, ४. (नेत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष) चार इन्द्रियों के विषय (वायु, शब्द आदि), ५. कर्मवर्गणा, ६. परमाणु, **(छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं)** श्री जिनेन्द्रदेव ने पुद्‌गल द्रव्य को (ऐसे) छह प्रकार का कहा है।

[४]गईपरिणयाण[५] धम्मो पुग्गलजीवाण गमण-सहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई॥८॥

अन्वयार्थ—(गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी) गमन से परिणत पुद्‌गल और जीवों को गमन में सहकारी धर्म-द्रव्य है, **(तोयं जह मच्छाणं)** जैसे मछलियों को (गमन में) जल सहकारी है, **(अच्छंता णेव सो णेई)** (किन्तु) गमन न करते हुए (ठहरे हुए पुद्‌गल व जीवों) को वह (धर्म-द्रव्य) गमन नहीं कराता है।

---

१. समयसार, गाथा ४९ २-३. प्राकृत भाषा में अनुस्वार के बाद द्वित्व नहीं होता है। अतः 'संट्ठाण' के स्थान पर 'संठाण' पाठ ही शुद्ध है। ४. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १७, ५. 'परियाण' अपि पाठ,

[१]ठाणजुयाण अधम्मो[२] पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई॥९॥

अन्वयार्थ—(ठाणजुयाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी) ठहरे हुए पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहकारी अधर्म-द्रव्य है, **(छाया जह पहियाणं)** जैसे छाया पंथियों को ठहरने में सहकारी है, **(गच्छंता णेव सो धरई)** गमन करते हुए (जीव व पुद्गलों) को वह (अधर्म-द्रव्य) नहीं ठहराता है।

[३]अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं [४]अल्लोगागासमिदि दुविहं॥१०॥

अन्वयार्थ—(अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं जेण्हं) जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने योग्य है, उसको श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो, **(लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं)** लोकाकाश और अलोकाकाश (इन भेदों से आकाश) दो प्रकार का है।

[५]दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
लोगागासपएसो एक्केक्काणु य परमट्ठो॥११॥

अन्वयार्थ—(दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो) जो द्रव्यों के परिवर्तन से जायमान है; वह व्यवहार-काल है; **(लोगागासपएसो एक्केक्काणू य परमट्ठो)** लोकाकाश में प्रदेशरूप से स्थित एक-एक कालाणु परमार्थ (निश्चय) काल है।

[६]लोयायासपदेसे एक्केक्के[७] जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि॥१२॥

अन्वयार्थ—(लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का रयणाणं रासीमिव) जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर, रत्नों के ढेर के समान, (परस्पर भिन्न-भिन्न होकर) एक-एक स्थित हैं; **(ते कालाणू असंखदव्वाणि)** वे कालाणू असंख्यात द्रव्य हैं।

[८]संखातीदा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
संखादासंखादा मुत्ति पदेसा उ संति णो काले॥१३॥

---

१. बृहद् द्रव्य संग्रह गाथा १८, २. 'अहम्मो' अपि पाठ ३. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १९, ४.'अलोगागास' इत्यपि पाठः, ५. बृहद् द्रव्य संग्रह गाथा २१ कुछ अंतर से, ६. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा २२, ७. 'एक्कके' इति पाठान्तरम्। ८. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा २५ का रूपान्तर।

अन्वयार्थ–(संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे) एक जीव में, धर्म (द्रव्य) में तथा अधर्म (द्रव्य) में असंख्यात (प्रदेश) हैं, **(अणंत आयासे)** आकाश में अनन्त (प्रदेश) हैं, **(संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति)** पुद्गल में संख्यात, असंख्यात व (अनंत) प्रदेश हैं; **(णो काले)** काल में (प्रदेश) नहीं हैं (अर्थात् कालाणु एक प्रदेशी है, उसमें शक्ति या व्यक्ति की अपेक्षा से बहुप्रदेशीपना नहीं है)।

[१]जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥१४॥

अन्वयार्थ–(जावदियं)आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं तं खु पदेसं जाणे) अविभागी पुद्गलाणु से जितना आकाश रोका जाता है, उसको प्रदेश जानो; **(सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं)** (वह प्रदेश) सब (पुद्गल) परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ है।

जीवो णाणी पुग्गलधम्माधम्मायासा तहेव कालो य।
अज्जीवा जिणभणिओ ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो॥१५॥

अन्वयार्थ–(जीवो णाणी) जीव ज्ञानी (ज्ञानवाला) है, **(पुग्गल-धम्माधम्मायासा तहेव कालो य अज्जीवा)** पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल–अजीव हैं, **(जिणभणिओ)** ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है; **(ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो)** जो ऐसा नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

मिच्छत्तं हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो बंधो।
सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं ॥१६॥

अन्वयार्थ–(मिच्छत्तं हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो) मिथ्यात्व, हिंसा आदि (अव्रत), कषाय और योगों से आस्रव होता है, **(बंधो सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं)** कषाय सहित जीव नाना प्रकार के पुद्गल को जो ग्रहण करता है, वह बंध है।

मिच्छताईचाओ संवर जिण भणइ णिज्जरादेसे।
कम्माण खओ सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य॥१७॥

अन्वयार्थ–(मिच्छत्ताईचाओ संवर जिण भणइ) श्री जिनेन्द्रदेव ने मिथ्यात्वादि के त्याग को संवर कहा है, **(णिज्जरादेसे कम्माण खओ)** कर्मों का एकदेश क्षय निर्जरा है, **(सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य बहुरि)**–वह (निर्जरा) अभिलाषा–सहित (सकाम, अविपाक) और अभिलाषा–

१. बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा २७।

रहित (अकाम, सविपाक) ऐसे दो प्रकार की है।

कम्म बंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो।
सव्वकम्म-विणिम्मुक्को मोक्खो होइ जिणेडिदो ॥१८॥

अन्वयार्थ—(कम्म बंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो) कर्मों के बंधन से बद्ध सद्भूत (प्रशस्त) अंतरात्मा का **(सव्वकम्म-विणिम्मुक्को)** जो सर्व कर्मों से पूर्णरूपेण मुक्त होना (छूटना) है **(जिणेडिदो मोक्खो होइ)** वह मोक्ष है; ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है।

सादाउ-णामगोदाणं पयडीओ सुहा हवे।
पुण्ण तित्थयरादी अण्णं पावं तु आगमे ॥१९॥

अन्वयार्थ—(सादाउ-णामगोदाणं पयडीओ सुहा हवे पुण्ण तित्थयरादी) साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम तथा शुभ गोत्र एवं तीर्थंकर आदि प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ हैं **(अण्णं पावं तु)** अन्य (शेष प्रकृतियाँ) पाप हैं, **(आगमे)** ऐसा परमागम में कहा है।

णासइ णर-पज्जाओ उप्पज्जइ देवपज्जओ तत्थ।
जीवो स एव सव्वस्सभंगुप्पाया धुवा एवं ॥२०॥

अन्वयार्थ—(णासइ णर-पज्जाओ) नर (मनुष्य) पर्याय नष्ट होती है, **(उप्पज्जइ देवपज्जओ)** देव पर्याय उत्पन्न होती है, **(तत्थ जीवो स एव)** तथा जीव वह का वह ही रहता है, **(सव्वस्स भगुप्पाया धुवा)** एवं इसही प्रकार सर्व द्रव्यों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है।

उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जयणएण (णयण)।
दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा सव्वजिणवुत्ता ॥२१॥

अन्वयार्थ—(उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जयणएण) वस्तु में उत्पाद तथा व्यय, पर्याय-नय से होता है, **(दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा)** द्रव्य-दृष्टि से (वस्तु) नित्य (ध्रौव्य) जाननी चाहिए; **(सव्वजिणवुत्ता)** श्री सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा ऐसा कहा गया है।

एवं अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता।
छंडउ रायं रोसं जइ इच्छइ कम्मणो णास (णासं) ॥२२॥

अन्वयार्थ—(जइ इच्छइ कम्मणो णासं) यदि कर्मों का नाश करना चाहते हो तो एवं **(अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता)** इस प्रकार सूत्र से अभिगत होकर (परमागम के ज्ञाता होकर), काय को निश्चल करके और मन को स्थिर करके **(छंडउ रायं रोसं)** राग तथा द्वेष को छोड़ो।

विसएसु पवट्टं तं चित्तं धारेत्तु अप्पणो अप्पा।
झायइ अप्पाणेणं जो सो पावेइ खलु सेयं ॥२३॥

अन्वयार्थ—(जो अप्पा) जो आत्मा **(विसएसु पवट्टं तं चित्तं धारेत्तु)** विषयों में लगे हुए मन को रोककर, **(अप्पणो झायइ अप्पाणेणं)** अपनी आत्मा को अपने द्वारा ध्याता है, **(सो पावेइ खलु सेयं)** वह (आत्मा) वास्तव में कल्याण (सुख) को पाता है।

सम्मं जीवादीया णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं।
मोहगयकेसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं ॥२४॥

अन्वयार्थ—(सम्मं जीवादीया णच्चा) जीवादि को सम्यक् प्रकार जानकर **(जेहिं सम्मं सुकित्तिदा)** जिन्होंने उन जीवादि का भले प्रकार वर्णन किया है, **(मोहगयकेसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं)** जो मोहरूपी गज (हस्ती) के लिए केसरी (सिंह) के समान हैं, उन साधुओं को (हमारा) नमस्कार हो नमस्कार हो।

सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥२५॥

अन्वयार्थ—(सोमच्छलेण) श्री सोम (श्रेष्ठी) के निमित्त से **(भव्वुवयारणिमित्तं)** भव्य जीवों के उपकार के लिए **(सिरिणेमिचंदेण गणिणा)** श्री नेमिचन्द्र गणि द्वारा **(पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ)** पदार्थों का लक्षण कहने वाली गाथाएँ **(रइया)** रची गई हैं।

❑ ❑ ❑

परिशिष्ट-२

दव्वसंगहो

(५८ गाथा)

(भट्टारकप्रभाचन्द्रकृतसंक्षिप्तसंस्कृतटीकासहितः)

नत्वा जिनार्कमपहस्तितसर्वदोषं, लोकत्रयाधिपतिसंस्तुतपादपद्मम्।
ज्ञानप्रभाप्रकटिताखिलवस्तुसार्थं, षड्द्रव्यनिर्णयमहं प्रकटं प्रवक्ष्ये॥

अहं प्रवक्ष्ये कथयिष्ये। कं षड्द्रव्यनिर्णयं षण्णां द्रव्याणां जीवादीनां निर्णयं तं। कथं प्रवक्ष्ये ? प्रकटं यथा भवति तथा। किं कृत्वा ? पूर्वं नत्वा नमस्कृत्य। कं जिनार्कं जिनादित्यं। कथम्भूतम्? अपहस्तितसर्वदोषं अपहस्तिताः निराकृताः सर्वे तृषादयो दोषाः येन स अपहस्तितसर्वदोषस्तं। आदित्येन अपहस्तिता निराकृता सर्वदोषा रात्रिः। पुनः कथंभूतं जिनार्कम् ? लोकत्रयाधिपतिसंस्तुतपादपद्मं लोकत्रयस्याधिपतयः स्वामिनः धरणेन्द्रनरेन्द्रसुरेन्द्रास्तैर्वन्दितौ पादावेव पद्मौ यस्य सः लोकत्रयाधिपति-संस्तुतपादपद्मस्तं। आदित्योऽपि लोकत्रयाधिपतिभिः ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैः संस्तुत पादपद्म इति परसमयवचनं। पुनः कथंभूतम् ? ज्ञानप्रभाप्रकटिताखिलवस्तुसार्थ ज्ञानं केवलज्ञानं तदेव प्रभा तया प्रकटिताः प्रकाशिता अखिलवस्तूनां निखिलपदार्थानां सार्थाः समूहाः येन स ज्ञानप्रभाप्रकटिताखिल वस्तुसार्थस्तम्। आदित्येनाऽपि प्रभया लोचनगोचराः सर्वे पदार्थाः प्रकटिता इति क्रियाकारकसम्बन्धः।

अथेष्टदेवताविशेषं नमस्कृत्य महामुनिसैद्धान्तिकश्रीनेमिचन्द्रप्रतिपादितानां षड्द्रव्याणां स्वल्पबोध-प्रबोधार्थं संक्षेपार्थतया विवरणम् अहं प्रभाचन्द्रः करिष्ये।

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा॥ १॥

अहं तं जिनवरं वृषभं **वंदे** नमस्करोमि। कथंभूतम् ? **देविंदविंदवंदं** देवानां इन्द्राः देवेन्द्रास्तेषां वृन्दाः समूहास्तैः वन्द्यं पूज्यं। कदा वन्दे ? **सव्वदा** सर्वदा सर्वकालं, यावन् सरागपरिणतिस्तावद् वन्दे, न वीतरागावस्थायां तदात्मनस्तत्पदप्राप्तेर्न कस्याऽपि कोऽपि वन्द्यं। अतीतानागतवर्तमानकाले। केन वन्दे ? **सिरसा** मस्तकेन। **तं** कं वन्दे ? **जेण जिणवरवसहेण णिद्दिट्ठं** येन जिनवरवृषभेण निर्दिष्टं प्रतिपादितं जिनवराः गणधरदेवादयस्तेषां मध्ये वृषभः प्रधानः। अथवा जिनवरश्चासौ वृषभनाथश्च तेन जिनवरवृषभेण किं निर्दिष्टं प्रतिपादितं ? **जीवमजीवं दव्वं** जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं च। जीवशब्दस्य का व्युत्पत्तिः ? व्यवहारनयेन दशभिः प्राणैः सह जीवति वर्तमानकाले, जीविष्यति भविष्यत् काले, जीवितपूर्वोऽतीतकाले। तत्प्राणानाह—

पंच वि इंदिय पाणा मणवचिकायेण तिण्णि, बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आयुगपाणेण हुंति दह पाणा॥

इति जीवः। अजीवद्रव्यं किं स्वरूपं ? पुद्गलधर्माधर्माकाशकालरूपं। द्रव्यस्य किं लक्षणं स्वरूपं ? निज-निज-प्रदेशसमूहैरखण्डवृत्यास्वभावविभावपर्यायान् द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवदिति द्रव्यं। द्रवति पर्यायं गच्छति। द्रोष्यति पर्यायं यास्यति। अदुद्रवदिति पर्यायं गतवत् पूर्वं तदपि गुणपर्ययवत्। ''गुणपर्ययवद्द्रव्यं'' अन्वयिनः सह सम्भवाः गुणाः ज्ञानादयः। व्यतिरेकिणो क्रमवर्तिनो अनुक्रमेण भवन्ति भिन्नाः पर्यायाः, अयनं आयः परि समन्तात् आयः पर्यायस्य व्युत्पत्तिः, स्वभावविभाव-पर्यायरूपतया परिणमतीति। ते च गुणाः गुण्यन्ते पृथक् क्रियन्ते द्रव्यं द्रव्यात् यैस्ते गुणाः द्विभेदाः साधारणाः असाधारणाश्च। पर्याया उत्पादव्ययरूपाः। तत्र जीवस्य साधारणाः अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वं, अमूर्तत्वं चेति। असाधारणाः सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रसुखानि। पर्यायाः—देवमनुष्यनारक तिर्यग्; वेकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय इति। स्पर्शनरसन-घ्राण चक्षुरिन्द्रियचतुष्टययुक्ताः दंशमशकमक्षिकाभ्रमरादयः। पुद्गलस्य स्वरूपमाह-अविभागीपरमाणुद्रव्य-पुद्गलः तथा च जलाऽनलादिभिर्नाशं यो न याति स पुद्गलः इति वचनात् स च द्विविधो अणुरूपः स्कन्धरूपश्च। अत्र पुद्गले साधारणगुणाः अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, अचेतनत्वं, मूर्तत्वं चेति। असाधारणाः गुणाः स्पर्शरसरूप-गंधवर्णाः। पर्यायाः गलनपूरणस्वभावाः। घटितस्य पुनःस्थम्भादेः— गलनपूरणं नास्ति। कथं नास्ति ? सम्प्रति तत्र तन्तुना स्थम्भस्य मानं गृह्यते। वर्षशतेनाऽपिपुनस्तन्मात्रं भूमौस्थितानां दृश्यते। धर्म्मद्रव्यस्य साधारणगुणाः अस्तित्वं। अस्ति इत्येतस्य भावः अस्तित्वं सद्रूपत्वं। वस्तुत्वं वस्तुनो भावः वस्तु, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु। द्रव्यत्वं द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वं। प्रमेयत्वं प्रमाणेन सम्यग्ज्ञानेन स्वपरस्वरूप परिछेद्य प्रमेयं प्रमेयभावः प्रमेयत्वं। अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, अमूर्तत्वमचेतनत्वं चेति असाधारणाः गुणाः, जीवपुद्गलयोर्गति सहकारित्वं। पर्याया उत्पादव्ययाः। अधर्मद्रव्यस्य साधारणगुणाः अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं प्रदेशत्वममूर्तत्वमचेतनत्वं चेति। असाधारणाः जीवपुद्गलयोः स्थितिसहकारित्वं पर्याया उत्पादव्ययाः। कालद्रव्यस्य साधारणगुणाः अस्तित्वादयः पूर्वोक्ताः ज्ञातव्याः। असाधारणाः द्रव्याणां परिणमयित्वं। आकाशद्रव्यस्य साधारणगुणाः -अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अमूर्तत्वं, प्रदेशत्वं, अचेतनत्वं चेति। असाधारणाः सकलपदार्थानामवकाशदायकं इति प्रतिपादिते सति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं वस्तु प्रतिपादितं कथितं ॥१॥

इदानीं जीवस्य स्वरूपमाह—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥२॥

जीवो अस्ति स चेतनालक्षणः स्वपररूपसंवेदकः। निश्चयनयेन चतुर्भिः प्राणैः सत्ता-सुख-बोध चैतन्यैर्जीवति स जीवः। तथा **उवओगमओ** उपयोगमयः। ज्ञानदर्शनलक्षणोपयोगेन युक्तः। अनेन प्रकृतिगुणाज्ञानादय इत्यप्राप्तं मोक्षे ज्ञानाद्यभाव इति च। तथा **अमुत्ति**-अमूर्तिः कर्मनोकर्मभिः सर्वदा

सम्बन्धेऽपि नैव मूर्तिः। स्वकीयस्वभावभूतममूर्तस्वरूपं अपरित्यागात्। तथा **कत्ता**-कर्ता ? केषां कर्म्मणां तन्निमित्तात्मपरिणामानां च कर्ता। अनेन प्रकृतेरेव कर्मकर्तृत्व नात्मा, इत्येकान्तो निरस्तः। तथा **सदेहपरिमाणो** नामकर्मोदयवशादुपात्ताणुमहच्छरीर परिमाणो न न्यूनो नाप्यधिकः। अनेनात्मनः सर्वगतत्वं वटकणिका मात्रत्वं च प्रत्याख्यात। तथा **भोत्ता**-भोक्ता केषां ? शुभाशुभकर्मसम्पादितेष्टाऽनिष्टविषयाणां तत्प्रभवसुखदुःखपरिणामानां च। तथा **संसारत्थो**-त्रसस्थावरपर्यायैर्युक्तः संसारे संसरतीति। तथा **सिद्धो सो** स प्रागुक्तात्मा सकलकर्मक्षयात् सिद्धो भवति। पुनः किं विशिष्टः ? **विस्ससोड्ढगई** सिद्धः सन् विश्वस्य लोकस्योर्ध्वं गच्छति। अथवा विस्ससो स्वभावेनोर्ध्व गच्छति। किं वत्? एरण्डबीजवत्, अग्निशिखावत् च जलमध्ये आलाबुकवदिति। अनेन यत्रैव मुक्तस्तत्रैव स्थित इति निरस्तं। अत्रौदारिक-वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीराणि नोकर्म ॥२॥

स जीवो व्यवहाररूपतया परमार्थरूपतया च द्विविध उच्यते, इत्याह–

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स॥३॥

सो जीवो ववहारा स जीवो व्यवहारनयापेक्षया भण्यते। स कः ? **जस्स** यस्य विद्यन्ते। केते? **चदुपाणा** चत्वारः प्राणाः। कस्मिन् काले ते चत्वारः प्राणा भवन्तीति **तिक्काले** अतीतानागत-वर्तमानकालत्रयेऽपि एकेन्द्रियाद्यपेक्षया। किं नामानः ? **इदिंयबलमाउ आणपाणो य** इन्द्रियप्राणाः, बलप्राणाः आयुप्राणः आनपानप्राणश्च। एवं चत्वारो भेदेन पुनर्दश कथं ? पञ्च इन्द्रियादि गाथा प्रथमसूत्रव्याख्याने प्रथमोक्तं। पंचेन्द्रियसंज्ञीजीवापेक्षा विकल्पः। **णिच्छयणयदो दु चेदणा** निश्चयनया-पेक्षया चैतन्यमेवोदयं यस्य ॥३॥

तस्य जीवस्योपयोगद्वयमाह–

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं॥४॥

उवओगो दुवियप्पो उपयोगो द्विविधः द्विविकल्पः कथमित्याह–**दंसणणाणं च** दर्शनोपयोग-ज्ञानोपयोगश्च। **दंसणं चदुधा** तत्र दर्शनोपयोगो चतुः प्रकारः कथमित्याह–**चक्खु अचक्खू ओही** चक्षुर्दर्शनं अचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं **अध** अथ केवलं केवलदर्शनं चेति। **णेयं** ज्ञेयं ज्ञातव्यमिति। अत्र चक्षुर्दर्शनमेक-प्रकारं। अचक्षुर्दर्शनं स्पर्श-रस-गन्ध-श्रोत्रभेदाच्चतुर्भेदं ॥४॥

ज्ञानमष्टविकल्पं भवतीत्याह

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्ख परोक्ख भेयं च॥५॥

णाणं अट्ठवियप्पं ज्ञानमष्टविकल्पं भवति। कथं ? **मदिसुदओही अणाणणाणाणि मणपज्जयकेवलमवि** मतिश्रुतावधिज्ञानानि। कथम्भूतानि ? **अणाणणाणाणि** अज्ञानसंज्ञानि। मत्यज्ञान

श्रुताज्ञानं विभंगज्ञानमज्ञानानि। मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलमथानन्तरं। तत्र विशिष्ट मत्यावरण कर्मक्षयोपशमादिन्द्रियैर्मनसा च यज्जानाति तन्मतिज्ञानं षट्त्रिंशोत्तरशतत्रय (३३६) भेदाः। किं विशिष्टं? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रुतं यज्जानाति तच्छ्रुतज्ञानं। तन्मतिपूर्वकं कथं ? यथांकुरोबीजपूर्वकः। तच्च द्विभेदमनेकभेदं च द्वौ भेदौ तावदुच्येते-अङ्गबाह्यमङ्गप्रविष्टं च। अङ्गबाह्यम् अनेकविधं। कैः ? दशवैकालिकोत्तराध्ययनादि। अथ चतुर्दशप्रकीर्णकाः। सामायिकोत्तरादिपुण्डरी-कान्ताः। अङ्गप्रविष्टं द्वादशाङ्गानि आचारादि—अनेकभेदपर्यायादि। विशिष्टावधिज्ञानावरणक्षयोपशमात् यत् सूक्ष्मान् पुद्गलान् परिधिनत्ति स्वपरयोश्च पूर्वजन्मान्तराणि जानाति, भविष्यजन्मान्तराणि च, तदवधिज्ञानं। तद्देशावधि—परमावधिसर्वावधिभेदात् त्रिभेदं। विशिष्टं मनःपर्ययज्ञानावरण-क्षयोपशमान्मनसोऽवष्टम्भेन परमनसि स्थितमर्थं यज्जानाति तन्मनः पर्ययज्ञानं। तत् ऋजुविपुलमतिभेदात् द्विभेदं। ज्ञानदर्शनावरणीयमोहनीयान्तरायरूपघातिकर्मचतुष्टयनिर्मूलोन्मूलनाद्वेदनीयायुर्गोत्रनामकर्मणां दग्धरज्जुवद् अवस्थिते यदुत्पन्नं त्रैलोक्योदरवर्ति समस्तवस्तुयुगपत् सकलपदार्थप्रकाशकमसहायं तत् केवलज्ञानं। अत्र मतिश्रुते परोक्षे अवधिमनःपर्यये देशप्रत्यक्षे। केवल सकलप्रत्यक्षमिति ॥५॥

तस्य जीवस्य सामान्येन व्यवहारलक्षणं विशेषेण निश्चयलक्षणं चाह—

अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं॥६॥

जीवलक्खणं भणियं जीवानां लक्षणं स्वभावो भणितः। कथंभूतं। **सामण्णं** सामान्यं। अयम् कोऽर्थः ? केषांचिच्छक्तिरूपेण केषाञ्चित् व्यक्तिरूपेण विद्यमानत्वात्। कदा सामान्यं **ववहारणया** व्यवहारनयापेक्षया। किं लक्षण ? **अट्ठ चदु णाणदंसण** अष्ट प्रकारं ज्ञानं। चतुः प्रकारं दर्शनं। एते व्याख्याते प्रागेव। **सुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं** शुद्धनयापेक्षया शुद्धं पुनर्दर्शनं ज्ञानं वा दृष्टित्वं ज्ञातृत्वं च ॥६॥

स च जीवो मूर्तिः भवति अमूर्तिश्चेत्याह—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो॥७॥

स जीवो **अमुत्ति तदो** अमूर्तिस्ततः कारणाद्यस्मात् **णो संति** नैव विद्यन्ते। के ते ? **वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ** वर्णाः पञ्च रक्त-पीत-नील-कृष्ण-श्वेताः। रसाः पञ्च कटुक तिक्त-कषाय-मधुर लवणाम्लाः। गन्धौ द्वौ सुरभिः दुरभिश्च। स्पर्शा अष्ट-मृदु-कर्कश-गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्ष-शीतोष्णाः। एते न सन्ति। कदा न सन्ति ? **णिच्छया** निश्चयनयापेक्षया। **ववहारा** व्यवहारनयापेक्षया। पुनः **मुत्ति** मूर्तियुक्तः। कुतः ? **बंधादो** कर्मनोकर्मबंधवशात् ॥७॥

स व्यवहारकर्मकर्ता परमार्थाकर्ता च भवतीत्याह—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥८॥

स आदा आत्मा कत्ता कर्ता भवति। कदा ? **ववहारदो** व्यवहारनयापेक्षया केषां कर्ता ? **पुग्गलकम्मादीणं** पुद्‍गलकर्मादीनां। **णिच्छयदो** निश्चयनयापेक्षया। **दु** तु पुनः **चेदणकम्माणादा** क्रोधादीनां कर्ता। **सुद्धणयाशुद्धनयापेक्षया**। **सुद्धभावाणं** शुद्धभावानां अनन्तदर्शनज्ञानवीर्य-सुखानामुत्तरोत्तर-प्रकृष्टपरिणामानां कर्ता ॥८॥

स च व्यवहारभोक्ता परमार्थाभोक्ता भवतीत्याह—

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स॥९॥

स **आदा पभुंजेदि** आत्मा प्रभुंक्ते। किं तत् ? **पुग्गलकम्मप्फलं** पुद्‍गलसम्बन्धात् कर्मणां फलं सचेतनानां कर्म्मणामित्यर्थः। किं फलं ? **सुहदुक्खं** सुखं दुःखं च। कदा भुंक्ते ? **ववहारा** व्यवहारनया-पेक्षया। णिच्छयणयदो निश्चयनयापेक्षया। पुनः **चेदणभावं खु आदस्स** आत्मनः परमानन्द-स्वरूपतामुपभुंक्ते॥ **खु** स्फुटं ॥९॥

स आत्मा व्यवहारपरमार्थापेक्षयेत्थं प्रमाण इति वदन्नाह—

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा॥१०॥

चेदा ववहारा अणुगुरुदेहपमाणो स आत्मा व्यवहारनयमाश्रित्य सूक्ष्म-स्थूलदेहप्रमाणो। यदा कर्मवशात् कुन्थुपर्यायं गृह्णाति तदा तद्देहप्रमाणः। यदा हस्तिपर्यायं गृह्णाति तदातद्देहप्रमाणः। कुतः? **उवसंहारप्पसप्पदो** उपसंहारप्रसर्पतः यतः उपसंहारविस्तारधर्मो ह्यात्मा। कोऽत्रदृष्टान्तः ? यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्‍भाजनान्तरं प्रकाशयति, लघुभाजनप्रच्छादितस्तद्‍भाजनान्तरं प्रकाशयतीति। किं तु **असमुहदो** समुद्घातसप्तकं वर्जयित्वा। तत्राणुगुरुत्वाभावः। समुद्घातभेदानाह।

वेयण कसायवेगुव्वियो य मारणंतियो समुग्घादो।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥६६७॥ जीवकाण्ड॥

समुद्घातलक्षणमाह—

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥६६८॥ जीवकाण्ड ॥

तत्प्रत्येकं यथा-तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमनमिति वेदनासमुद्‍घातः।१। तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति कषायसमुद्‍घातः।२। मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति विक्रिया-समुद्‍घातः।३। मरणांतसमये मूलशरीरमपरित्यज्य यत्र कुत्रचिद् बद्धमायुस्तत्प्रदेशं स्पृष्टुमात्मप्रदेशानां

बहिर्गमनमिति मारणान्तिकसमुद्घातः ।४। स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं किञ्चित् कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमपरित्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजन-प्रमाणः सूच्यगुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनवत्। असावशुभस्तेजः समुद्घातः। लोकं व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेमूलशरीरमपरित्यज्य शुभ्राकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्तेजः समुद्घातः ।५। समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमर्द्धिसम्पन्नस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्यान्निर्गत्य यत्र कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तमध्ये केवलज्ञानिन पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाश्रयस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति असावाहारकसमुद्घातः ।६। सप्तमः केवलिनां दण्डकपाटप्रतरपूरणस्वभावोऽयं चतुः प्रकारः स एव केवलिसमुद्घातः ।७।

स एव णिच्छयणयदो निश्चयनयापेक्षया असंखदेसो वा असंख्यातलोकमात्रं वा शब्दोऽत्र स्फुटार्थवाची। इत्युक्तस्वदेहप्रमाणप्रतिपादितजीवलक्षणं ।१०।

अनन्तानन्तजीवास्ते च त्रसस्थावराश्च भवन्तीत्याह—

पुढविजलतेउवाऊवणप्फदी विविह-थावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी॥११॥
समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादर सुहुमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य॥१२॥

पुढविजलतेउवाऊवणप्फदी पृथ्वीकायिका, अप्कायिकास्तेजकायिका वातकायिकाः वनस्पतिकायिकाश्च। **विविहथावरेइंदी** एते विविधाः स्थावराः। एकेन्द्रियाः। एतेषां कीदृशं स्वरूपम् ?

अंडेसु पव्वड्ढंता गब्भत्थ माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगिंदिया णेया॥

एतेषामनुक्ता अपि समारोप्य प्राणाः कथ्यन्ते। तदेकेन्द्रियस्य कति प्राणाः ? स्पर्शनेन्द्रियप्राणः कायबलप्राणः उच्छ्वासनिश्वासप्राणः आयुप्राणश्चेति चत्वारः। ते चेकेन्द्रिय वादराः सूक्ष्माः पर्याप्ताः अपर्याप्ताश्च। एतेषां लक्षणं कथ्यते—वाग्गोचराः स्थूलाश्चिरस्थायिनो बादराः। अवाग्गोचराः सूक्ष्माः। प्रतिक्षणं विनाशिनः सूक्ष्माः। सप्रतिपाता बादराः। परैर्मूर्तद्रव्यैर्बाध्यमाना इत्यर्थः। अप्रतिपाताः सूक्ष्माः परैर्मूर्तद्रव्यैरबाध्यमानाः। पर्याप्तापर्याप्तयोः स्वरूपमाह—आहारशरीरिन्द्रियाणप्राणभाषामनसां परिपूर्णत्वे सति गर्भान्निर्गमनं पर्याप्तस्य लक्षणं। एतेषां अपरिपूर्णत्वे सति गर्भाच्च्यवनं अपर्याप्तस्य लक्षणं। गर्भइत्युपलक्षणमेतत्। नत्वेत्यादि ग्राह्या इयं गाथा लेखनीया। तत्रैकेन्द्रियस्य आहारशरीरस्पर्शनेन्द्रियाण-प्राणाश्चत्वारः। अपर्याप्तयः भाषामनसोरावरणीयं। पर्याप्तस्य षडपि परिपूर्णाः। विगतिगचदुपंचक्खा

तसजीवा होंति संखादी द्वि त्रि चतुः पञ्चेन्द्रियाः त्रससंज्ञाजीवाः। संखादयो ज्ञेयाः। अत्र द्वीन्द्रियाः शङ्खादयः। एतेषां कतिप्राणाः ? षट्प्राणाः पूर्वोक्ताश्चत्वारो रसन-भाष द्वे एते पर्याप्ता अपर्याप्ताः। अत्र पर्याप्तस्य आहारशरीरस्पर्शनेन्द्रियाणप्राणा भाषाः पञ्चमनसो अभावः। अपर्याप्तस्य चत्वारः अपर्याप्तस्य भाषायाश्च अभावः। स्पर्शनरसनेन्द्रिययुक्तशङ्खशुक्तिक्रम्यादयोद्विन्द्रियाः प्राणाः षट् पूर्वोक्ताश्चत्वारः रसनभाषाश्च। त्रीन्द्रिय कुन्थुमक्कुणादयः प्राणाः सप्त। पूर्वोक्ताः षट् घ्राणप्राणश्च एते पर्याप्तापर्याप्ताश्च। अत्र पर्याप्तस्य पर्याप्तयः पञ्च। मनसोऽभावः। अपर्याप्तस्य पूर्ववत् चत्वारः। चतुरिन्द्रियस्य प्राणाष्टौ पूर्वोक्ताः सप्त चक्षुप्राणाश्च एते पर्याप्तापर्याप्ताः। अत्र पर्याप्तस्य पर्याप्तयः पंच। मनसोऽभावः। अपर्याप्तस्य पूर्ववच्चत्वारः। पंचेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनः प्राणाः नव। पूर्वोक्ता अष्टौ श्रोत्रप्राणाश्च। एते पर्याप्तापर्याप्ताः। अत्र पर्याप्तस्य पर्याप्तयः पंच। मनसोऽभावः। अपर्याप्तस्य पूर्ववच्चत्वारः भाषायाऽभावः। पंचेन्द्रियस्य संज्ञिनः प्राणाः दश। पूर्वोक्ता नव मनोबलप्राणश्च। एते पर्याप्तापर्याप्तश्च। पर्याप्तस्य पर्याप्तयः षट्। अपर्याप्तस्य पर्याप्तयः चत्वारः भाषा-मनसोरभावः। ते च जीवाः समनस्कामनस्काश्च भवन्तीत्याह—**समणा अमणा णेया पंचिंदिय** पंचेन्द्रियाः समनस्का अमनस्काश्च भवन्ति। तत्र तिर्यंचः समनस्कामनस्काश्च। ये अमनस्कास्ते गोरहियादयो। जालन्धरमरुप्रदेशादिषु देशेषु दृश्यन्ते। **णिम्मणा** परे सव्वे एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय निर्मनसः। ननु यदि ते अमनस्कास्तदा कथं? तेषां पंचेन्द्रियप्रवृत्तिर्यतो मनः पूर्वकेन्द्रियप्रवृत्तिरिति शास्त्रवचनम्। अत्रोत्तरमाह— सर्वेषामेव जीवानां स्वभावत एवाहार-भय-मैथुन-परिग्रहस्वरूपसंज्ञाचतुष्टयं विद्यते एव प्रतीतिश्च दृश्यते। यथा वृक्षस्य जलसिञ्चनात् वृद्धिः कुठारायुधपुरुषदर्शनात् कम्पः। वनिताचरणात् ताडनात् पुष्पनिर्गमः। वृक्षमूलपुरोहावष्टम्भनिधानग्रहणमिति।

तस्मात्तेषां मनोव्यापार रहिता प्रवृत्तिः। पुनः प्राच्यते तेषां सर्वथा मनसोऽभाव इति न। किन्तु शक्तिरूपत्वेन विद्यत एव। व्यक्तिरूपत्वेन नास्ति। कुतः ? पूर्वोपार्जितमतिज्ञानावरणकर्मोदयवशात्। सर्वथा यदि मनसो अभावो भण्यते तदा अन्यजन्मनि मनुष्यपर्याये गृहीते सति विमनस्कत्व मायाति। एवं सति सर्वज्ञवचनविरोधः स्यात्। यतः **सुरनरनेरइया** समनस्काः आगमे प्रतिपादिताः। एवं तिर्यंचो विकल्पनीयाः तस्मात् कारणात् कर्मोदयवशात् व्यवहारनयापेक्षया तेषाममनस्कत्वं न परमार्थतः॥११-१२॥

इति स्थिते च मार्गणागुणस्थानः संसारिणो ज्ञातव्य इत्याह—

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥१३॥

तह संसारी मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति, असुद्धणया विण्णेया ते च जीवाः चतुर्दशमार्गणाभिः चतुर्दशगुणस्थानैश्च ज्ञातव्याः भवन्ति। कथंभूताः संसारिणः। कदा ? अशुद्धनयापेक्षया। **सुद्धणया हु सव्वे सुद्धा** शुद्धनयापेक्षया तु पुनः सर्वे जीवाः शुद्धा अनन्तचतुष्टयात्मका इत्यर्थः।

मार्गणाआह–

गइ इंदियेसु काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।
संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारे।

अत्र गत्यादिषु जीवा अन्विष्यन्ते। **गइ** गतिः देव–मनुष्य–नारक–तिर्यग् सिद्धगतिश्च। **इन्दिय** इन्द्रियं–एकेन्द्रिया, बेन्द्रिया, तेन्द्रिया, चतुरेन्द्रिया, पञ्चेन्द्रिया, अतीन्द्रिया सिद्धः इत्यर्थः। **काये**–काये पृथ्वीकायिकाः,अप्कायिकाः, तेजःकायिकाः, वातकायिकाः, वनस्पतिकायिकाः, त्रसकायिकाः अकायिकाश्चेति। **जोगे** पञ्चदश—सत्यमनोयोगी, मृषामनोयोगी, सत्यमृषामनोयोगी, न सत्य न मृषा मनोयोगी। सत्यवचोयोगी, असत्यवचोयोगी, सत्यमृषावचोयोगी, न सत्य न मृषा वचोयोगी। औदारिक काययोगी औदारिकमिश्रकाययोगी, परमौदारिककाययोगी च। तत्रौदारिको मनुष्यतिरश्चां। मिश्रो अपर्याप्तानां। परमौदारिको केवलिनां। वैक्रियिककाययोगी, वैक्रियिक मिश्र काययोगी। तत्र वैक्रियिको देवनारकाणां, मिश्रो अपर्याप्तानां। आहारक काययोगी, आहारकमिश्रकाययोगी। तत्राहारककाययोगः परमर्द्धिमहात्माषष्ठगुणस्थाने महर्षीणां भवति। यदा पदपदार्थसन्देहः समुत्पद्यते तदा उत्तमाङ्गे पुत्तलको। निर्गच्छति। यत्रस्थं तीर्थङ्कर देवमन्तर्मुहूर्त मध्ये पश्यति। तत्प्रस्तावे यतेर्निश्चयः समुत्पद्यते। पुनः स तत्रव प्रवेशं करोति। मिश्रोऽपर्याप्तस्य कार्मणकाययोगी–अयोगी च। तत्र कार्मणकाययोगे विग्रहगतौ जीवस्य सा चतुर्विधा ऋज्वी, पाणिविमुक्ता, लाङ्गली, गोमूत्रिका च। अयोगी सिद्धः। **वेए**—वेदेस्त्रीवेदा, पुंवेदा, नपुंसकवेदा अवेदाश्च। **कसाय** कषाय—क्रोधकषायिनो, मायाकषायिनो, मानकषायिनो, लोभकषायिनो, अकसायिनो। **णाणे य** ज्ञानं–मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी। आधिनिबोधकज्ञानी श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, केवलज्ञानी चेति। **संजम**–संयमः व्रतधारणं, समितिपालनं, कषायविनिग्रहः अशुभमनोवाक्कायानां त्यागः। इन्द्रियाणां जय इति संयमः। तत्र सामायिकसंयताः। छेदोपस्थापनसंयताः, परिहारविशुद्धिसंयताः, सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः, यथाख्यातशुद्धिसंयताः, संयताऽसंयताः, असंयताश्च। तत्र सर्वसावद्यविरतिः सामायिकं, पञ्चमहाव्रतेषु, पञ्चसुः समितिषु, त्रिगुप्तिषु, विषयेषु समुत्पन्नदोषस्य छेदः प्रायश्चित्तमित्यर्थछेदोपस्थापनं। परिहारविशुद्धिसंयमग्रहणकाले त्रिंशद्वर्षायुषः प्रमाणाः सप्ताष्टौ वर्षाणि तीर्थंकरकेवलिपादमूले प्रत्याख्याननामधेयमागममधीत्य प्रतिदिनं गव्यूतिष्ठत्यं गामिनः। त्रि पंच सप्त नव यतयः परमवैराग्यपराः केवलज्ञानिनं पृच्छन्ति। भगवन्! परिहार विशुद्धिसंयमं देहि! केवलज्ञानी ज्ञानेनावलोक्य यदि तेषामन्तराले मृत्युमुपसर्गे वा ज्ञानोत्पत्तिर्वा स्यात्, तदा न ददाति, यदि किमप्येतन्मध्ये न भवति, तदा ददाति। ते च देशान्तरे गत्वा। परस्परवैयावृत्यं कुर्वाणः कर्मनिर्जरां कुर्वन्ति। षष्ठसप्तमगुणस्थान–वर्तिनामेतेषामाचरणं परिहारविशुद्धिः। दशमगुणस्थानवर्तिनां मुनीनां सूक्ष्मलोभस्थितानामाचरणं सूक्ष्मसाम्परायः। एकादश–द्वादशत्रयोदश–चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनामाचरणं यथाख्यातं। संयतासंयताः श्रावकाः मिथ्यात्वसासादनमिश्र–अविरतसम्यग्दृष्टयः। असंयताः सिद्धश्च। दंसण–दर्शनं–चक्षुर्दर्शनीय–अचक्षुर्दर्शनीय–केवल–

दर्शनीयश्चेति। **लेस्सा** लेश्या, कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्या-पीतलेश्या-पद्मलेश्या-शुक्ललेश्याश्चेति। तत्र रौद्रो, बहुवैरकरः, कलहप्रियो, निर्दयो धर्मरहितः कृष्णलेश्या। आलस्ययुक्तो, निबुर्द्धिर्विषयलम्पटो, मानी, मायी, कातरो, निन्दको, वंचनपरो अतितृष्णापरो नीललेश्या। सदा रुष्टः, परनिन्दको, अकार्यकारी, शोकभयाकुलः, परपराभवकरः आत्मप्रशंसकः, परप्रतीतिरहित आत्मानमिव परं मन्यते, परस्तूयमानः तुष्यति, हानिं-वृद्धिं न जानाति, संग्रामेमरणप्रार्थकः कापोतलेश्या। त्यागी, विकसितवदनः, अकांक्षा-शौचयुक्तः, व्यवहारको—बहुक्षमायुक्तो, देवगुरुश्रुतेषुभक्तस्तेजोलेश्या। कार्याकार्यपरिभावकः, सुखदुःखसमानो, दयादानरतः पण्डितः पद्मलेश्या। स्वपरपक्षपातरहितो, निदानशोकभयरागद्वेषपरिवर्जितः शुक्ललेश्या इति। भविया भव्याः सिद्धत्वयोग्याः जीवाः भव्यास्तद्विपरीता अभव्याः। भव्यत्वाभव्यत्वरहिताश्च सिद्धाः। सम्मत्त सम्यक्त्व, आप्तप्रतिपादितेषु पदार्थेषु जिनाज्ञया शास्त्राकर्णनश्रद्धापरोपशमसम्यग्दृष्टिः, क्षायिकसम्यग्दृष्टिः, क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिः, सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्चेति। तत्र सम्यक्त्वमध्ये मिथ्यात्वस्य किंमुपादानं, कृतं अत्रोच्यते। यथा आम्रवनमध्ये निम्बोऽपि तद्ग्रहणेन गृह्यते। यथातो मिथ्यात्वं त्रिधा। मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वभेदात्। कोऽत्र दृष्टान्तः ? यथा यंत्रमध्ये निक्षिप्ताः कोद्रवाः केचित् समस्ता निर्गच्छन्ति, केचिदर्धदलिताः, केचित् चूर्णिभूता इति। एतदेव व्याख्येयं। तत्रानन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वप्रकृतिसप्तानां प्रकृतीनां। उपशमात् उपशमसम्यग्दृष्टिः। एतासाम् पूर्वोक्तानां सप्तप्रकृतीनाम् क्षयात् क्षायिकसम्यग्दृष्टिः। अनन्तानुबन्ध्यादीन षण्णां उदयाभावलक्षणक्षयात् सद्वस्थोपशमात् सम्यक्त्वप्रकृति उदयाद्वेदकसम्यग्दृष्टिः। सम्यक्त्वात् पतितो मिथ्यात्वमद्याऽपि न प्राप्नोति। अन्तराले वर्तमानः सासादनसम्यग्दृष्टिः सर्वेदेवा वन्दनीया न च निन्दनीया इति मिश्रपरिणामः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः। आप्तागमपदार्थेषु विपरीताभिनिवेशो मिथ्यादृष्टिः। सण्णि संज्ञी मनोबलेन शिक्षालापग्राही संज्ञी। तद्विपरीत असंज्ञी। संज्ञ्यसंज्ञित्व रहिताश्च। आहारे विग्रहगतौ प्राप्तजीवाः समुद्घात केवलिनश्च अयोगिनः। सिद्धाश्च अनाहाराः। शेषा आहारकाः जीवाः। एवं चतुर्दशमार्गणा। व्याख्याताः। तत्र गुणठाणे हिय चतुर्दशभिर्गुणस्थानैश्च जीवः ज्ञातव्यः। तत्राप्तागमं पदार्थानामरुचयो मिथ्यादृष्टयः।१। सम्यक्त्वं परित्यज्य मिथ्यात्वमप्राप्यान्तराले वर्तमानः सासदनसम्यग्दृष्टयः।२। सर्वे देवाः वन्दनीया न च निन्दनीयाः इति परिणामः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः।३। प्राणेन्द्रियेष्वविरतास्तत्त्वश्रद्धापरा असंयताः सम्यग्दृष्टयः ।४। त्रसवधात् विरताः स्थावरवधादविरताः संयतासंयतसम्यग्दृष्टय।५। व्यक्ताव्यक्तविकथाकषायेन्द्रियनिद्राप्रणयप्रमादवशतो महाव्रतधारकाः प्रमत्तसंयताः।६। नष्टाशेषप्रमादा व्रतशीलगुणान्विता ध्यानोपयुक्ता अप्रमत्तसंयताः।७। अतीतसमयस्थितपरिणामैः सर्वथा असदृश्य परिणामामोहस्योपशमक्षपणोद्यता अपूर्वकरणास्ते चोपशमकः क्षपकाश्च।८। एकस्मिन् समये संस्थानादिभिरिव परिणामैः परस्परं न व्यावर्तते इत्यनिवृत्तिकरणस्ते चोपशमकाः क्षपकाश्च।९। पूर्वापूर्व स्पर्धकयद्वेदकत्वं तस्मादनन्तगुणहीनाः सूक्ष्मलोभे स्थिताः सूक्ष्मसाम्परायास्ते चोपशमकाः क्षपकाश्च।१०।

कतकफलसंयोगादधस्थित पङ्कस्वच्छजलवदुपशान्ताशेषमोहा उपशान्तकषाया-वीतरागछद्मस्था इत्यर्थः। छद्मस्थ इति ज्ञानावरणदर्शनावरणस्यस्थित्वात्।११। स्फटिकमणिभाजयस्थित-निर्मलजलवत्। क्षपिताशेषमोहाः विशुद्धपरिणामाः क्षीणकषाया वीतरागछद्मस्थाः।१२। केवलज्ञान-प्रकाशध्वस्त अज्ञानान्धकारा नवकेवललब्धिसमन्विताः द्रव्यमनोवाक्काययोगसहायाः दर्शनज्ञाने युगपत् ज्ञायकाः सयोगिकेवलिनः।१३। लब्धयः कः ?

दाणे लाहे भोए उवभोए वीरिएय सम्मते।
दंसणणाणचरित्ते, एदे णव जीवसद्भावा॥

चतुरशीतिलक्षगुणाधिपतयः वाणी निरुद्धा अशेष योगास्रवा अयोगिकेवलिनः।१४। एतानि चतुर्दश गुणस्थानानि, एतैरपि जीवाः ज्ञातव्याः॥१३॥

ते च जीवाः सकलकर्मक्षयात् सिद्धाः भवन्तीत्याह—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पाद-वएहिं संजुत्ता॥१४॥

एते पूर्वोक्ताः जीवाः सिद्धा भवन्ति। कथम्भूताः संतः ? **णिक्कम्मा** ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-वेदनीय-मोहनीय-आयुर्नामगोत्रान्तराया इत्यष्टकर्मरहिताः। **अट्ठगुणा—**

सम्मत्तणाणदंसण वीरिय सुहमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलघुमव्वावाहं, अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं॥

अत्रानन्तानुबन्धी-क्रोधमानमायालोभ-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वसंज्ञानां , सप्तानां प्रकृतीनां क्षयात् क्षायित्कं सम्यक्त्वं। अशेषविशेषतः सकलपदार्थेषु रुचिरित्यर्थः। तस्माद्ये उत्पन्नाःदर्शनज्ञानमूलभूताः परमानन्दस्वरूपसंवेदका आत्मपरिणामास्त एव सम्यक्त्वं।१। एतदेवानन्त-सुखमुच्यते—युगपत् सकलपदार्थानां ज्ञातृत्वं ज्ञानं।२। युगपदशेषपदार्थावलोकनं दर्शनं।३। उक्तानामनन्त-सुखादीनां सप्तानां गुणानां निरवधिकालं मर्यादीकृत्य एकसमयान्तरमपि न कदाचिदन्यथा भावो वीर्य।४। केवलज्ञानी एव यदमूर्तसिद्धस्वरूपं परिचेतुं शक्नोति न अन्यः तत् सूक्ष्मत्वं।५। एकस्मिन् सिद्धस्वरूपे अनन्तानां सिद्धानामेकत्र समवस्थितानामवकाशोऽवगाहनं।६। नैव गुरुत्वं नैव लघुत्वम्-गुरुलघुकत्वं।७। अनन्तानां सिद्धानामेकत्र समवस्थितानां परस्परं संघर्षणाऽभावोऽव्याबाधत्वं चेति।८। एवमष्टगुणसमन्विताः। **किंचूणा चरमदेहदो**-चरमदेहतः किंचूना त्रिभागेनहीनाः। **लोयग्गठिदा** लोकाग्रस्थिताः। **णिच्चा** नित्यास्तेषां काले कल्पशते गतेऽपि गतिच्युतिर्नास्ति। तथा **उप्पादवयेहिं संजुत्ता** उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्तास्तौ द्वौ चोत्पादव्ययाववाग्गोचरौ सूक्ष्मौ प्रतिक्षणविनाशिनौ उक्तं च—

सूक्ष्मद्रव्यादभिन्नाश्च व्यावृत्ताश्च परस्परं।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते जलकल्लोलवज्जले ॥

पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस बंधो हि सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति।

प्रकृतिबन्धस्थितिबंधानुभागबंधप्रदेशबंधैः सर्वदा मुक्तः सन् जीवः ऊर्ध्वं गच्छति। शेषाः जीवाः विदिशं वर्जयित्वा गतिं यान्ति ॥१४॥

जीवद्रव्यं व्याख्याय इदानीं अजीवद्रव्यस्य पञ्चप्रकारं स्वरूपमाह—

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गलमुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु॥१५॥

पुग्गलमुत्तो पुद्गलमूर्तः रूपादिगुणः। शेषा पुनरमूर्ताः। एतेषां व्याख्यानं पूर्वमेव कृतं ॥१५॥

तस्य पुद्गलस्य किं स्वरूपाः पर्याया इत्याह—

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण-भेद-तम-छाया।
उज्जोदादव-सहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

पुग्गलदव्वस्स पज्जाया एते पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः भवन्ति। केते ? **सद्दो** आत्मनः परिस्पन्दान्नानाप्रकाराणुसंघटनात् तालोष्ठपुटव्यापारेण काचरणकाष्ठपाषाणादि परस्परसंघर्षेण च निष्पद्यते शब्दः। **बंधो** स्निग्धपरमाणु द्वयेन सह रूक्षपरमाणूनां चतुर्णाम् संश्लेष एकेन स्निग्धेन सह त्रयाणां रुक्षाणां संश्लेषः स्निग्धपरमाणु त्रयेण सह पंचानां रूक्षाणां संश्लेष इति बंध उपलक्षणमेतत्। **सुहुमो** परमाणु सूक्ष्मः। **थूलो** स्कन्धत्वरूपस्थूलः। **संठाण** भेदः समचतुरस्रसंस्थानं, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानं, स्वाति संस्थानं वामलूराकृतिरित्यर्थः। वामनसंस्थानं, हुण्डकसंस्थानं, चर्मकरहतिप्रकृतिरित्यर्थः। कुब्जसंस्थानमिति।[1] **भेद**—मुद्गगोधूमादिचूर्णं। **तम** अन्धकारः। **छाया** वृक्षादिभवा।

उज्जोद उद्योतः ताराचन्द्रमणिमाणिक्यादिभवः। **आदव** आतपोग्निसूर्यभवः ॥१६॥

जीवपुद्गलयोर्धर्म्मो गतिसहकारी भवतीत्याह—

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥१७॥

गइ सहयारी गति सहकारी भवति। कोऽसौ ? **धम्मो** धर्मद्रव्यं। केषां ? **पुग्गलजीवाण** पुद्गलजीवानां कथम्भूतानाम् **गइपरिणयाण** गतिकर्मोदयात् चतुर्गतिपरिणतानां। अत्राह-यदि तस्य गति सहकारित्वे तादृशी शक्तिरस्ति तदा स्थितिं कुर्वतां तेषां किन्तु न नयति। अत्रोच्यते-**अच्छंता णेव सो णेई** स धर्मः तेषां अच्छंता तान् जीवपुदगलान्, स्थितिं कुर्वतां न नयति। कुतः ? अधर्मद्रव्योदयात्। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमुपमानमाह—**तोयं जह मच्छाणं** यथा तोयं पानीयं मत्स्यानां सहकारित्वं भवति। स तान् मत्स्यान् स्थितिं कुर्वतो न नयति एवं धर्मः पुद्गलजीवानामपि ॥१७॥

---

१. पाठान्तर-गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतखण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः।

पुद्गलजीवानामपि स्थितिसहकारित्वेऽधर्मो भवतीत्याह—

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाण सहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥

ठाणसहयारी स्थितिसहकारी भवति। कोऽसौ ? **अधम्मो** अधर्मः। केषां ? **पुग्गलजीवाण** पुद्गलजीवानां। कथम्भूतानाम् ? **ठाणजुदाण** स्थितिकर्मोदयात् स्थितिं कुर्वतां। अत्राह—यदि तस्य स्थितिसहकारित्वे तादृशी शक्तिरस्ति तदा गच्छन्तास्तान् किन्नस्थितिं कारयति। अत्रोच्यते—**गच्छंता, णेव सो धरई** स अधर्मो गच्छन्तो नैव धरति, तान् जीवपुद्गलान् गच्छतान् नैव स्थितिं कारयति। कुतो? धर्मद्रव्योदयात्। अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमुपमानमाह—**छाया जह पहियाणं** यथा छाया पथिकानां स्थितिं सहकारित्वे भवति सति तान् पथिकान् गच्छतोऽपि न स्थितिं कारयति एवमधर्मः पुद्गल-जीवानामपि ॥१८॥

इदानीं पञ्चानामपि द्रव्याणामवकाशदाने आकाशद्रव्यं भवतीत्याह—

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं॥१९॥

वियाण विशेषेण जानीहि त्वं। हे भव्य! किं तत् ? **आयासं** आकाशं। कथंभूतं ? **अवगासदाणजोग्गं** अवकाशदानयोग्यं। केषां ? **जीवादीणं** जीवादीनां पञ्चानामपि तदाकाशं। **जेण्हं** जैनमते दुविहं द्विप्रकारं। कथं ? **लोगागासं अल्लोगागासमिदि** लोकाकाशमलोकाकाशमिति॥१९॥

तदेव आकाशद्रव्यं लोकालोकप्रकारेण द्विप्रकारं भवतीत्याह—

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो॥२०॥

सो लोगो स-लोको भवति। स कः ? **जावदिये आयासे** संति। यावत्परिमाणे आकाशे सन्ति विद्यन्ते। के ते? **धम्माधम्मा कालो** धर्म-अधर्म-कालाः। न केवलमेते—**पुग्गलजीवा य**—पुद्गलजीवाश्च। **तत्तो परदो अलोगुत्तो** तस्मात् परो अलोक उक्तः॥२०॥

इदानी कालस्वरूपमाह—

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥

पुद्गलकर्माणु **दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ** ववहारो द्रव्यप्रवर्तनात् उत्पन्नः समयरूपः किम्भूतः ? मुख्यकालस्य पर्यायाख्यक्षणध्वंसी स व्यवहारकालः। **परिणामादीलक्खो** स च व्यवहारकालः परिणामैर्लक्ष्यते। नवजीर्णरूपैः। **वट्टणलक्खो य परमट्ठो** द्रव्याणि परिवर्तयति स्वपरिणतिं नयति। तदेव लक्षणं यस्य स वर्तनालक्षणः। पुनः परमार्थकालः अयं कुतो ज्ञायते कालः ? इति लोकवचनात्, स च नित्योऽन्यथा कथं द्रव्यवर्तावकः॥२१॥

तस्य निश्चयकालस्य किं स्वरूपमित्याह—

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।
रयणाणं रासीमिव[1] ते कालाणू असंखदव्वाणि॥२२॥

ते कालाणू असंखदव्वाणि ते कालाणवो असंख्यातद्रव्याणि ज्ञातव्याः। **ते** के ? **जे ठिया** ये स्थिताः। **हु** स्फुटं क्व ? **लोयायासपदेसे** लोकाकाशप्रदेशे। कथं स्थिताः ? **इक्किक्के इक्किक्का** एकके एकस्मिन् एकस्मिन् आकाशप्रदेशे एकैकपरिपाट्या अयमर्थो लोकाकाशस्य यावन्तः प्रदेशास्तावन्तः कालाणवो तिष्ठन्तीति क्रिया ज्ञातव्या। एकैकाकाशप्रदेशेन एकैकवृत्यालोकं व्याप्य स्थिताः। रूपादिगुणविरहिता अमूर्ताः कथं लोकं व्याप्य स्थिताः। **रयणाणं रासी इव** यथा रत्नानां राशयः संघाता एकमेकं व्याप्य तिष्ठन्ति। तथा ते तिष्ठन्ति॥२२॥

एतानि षट्द्रव्याणि कालरहितानि पंचास्तिकाया भवन्तीत्याह—

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु॥२३॥

एवं पूर्वप्रकारेण **उत्तं** प्रतिपादितं। किं तत् ? **दव्वं** द्रव्यं इदं प्रत्यक्षीभूतं। कति भेदं ? **छब्भेयं** षट्भेदं कस्मात् ? **जीवाजीवप्पभेददो** जीवाजीवप्रभेदतः। **कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु** एतानि षट्द्रव्याणि कालरहितानि पञ्चास्तिकायाः ज्ञातव्याः। दु पुनः॥२३॥

एतेषां पंचानामस्तिकायत्वं कथं सिद्धमित्याह—

संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥२४॥

संति जदो तेणेदे अत्थिति भणंति जिणवरा जम्हा काया इव बहुदेसा तम्हा ते पञ्चाऽपि जदो यस्मात् कारणात् संति विद्यन्ते स्वस्वरूपेण। **तम्हा** अत्थिति भणंति जिणवरा तस्मात् कारणात् विद्यन्ते इति जिनवरा वदन्ति। अत्रास्तित्वं साधितं। **जम्हा** बहुदेसा यस्मात् बहुप्रदेशास्ते क इव ? काया इव शरीराणीव अत्र कायत्वं साधितं। **तम्हा** काया य तस्मात् कायाश्चेति। एवं मिलित्वा। **अत्थिकाया य** अस्तिकाया भण्यंते। अत्र पूर्वपक्षः। ननु कायशब्दः शरीरे व्युत्पादितः। जीवादीनां। कथं ? अत्रोच्यते। तेषामुपचारादध्यारोप्यते। कुत उपचारः ? यथा शरीरं पुद्‌गलद्रव्यं प्रचयात्मकं। तथा जीवादिष्वपि प्रदेशप्रचयापेक्षया इव काया इव काया इति॥२४॥

कालस्याकायत्वं कथमित्याह—

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ॥२५॥

---

१. यहाँ पर 'रासी इव' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। टीका में भी यही पाठ लिया गया है।

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे पदेसा भवन्ति असंख्याताः प्रदेशाः जीवधर्माधर्माणां। **अणंत आयासे** अनन्ताः प्रदेशा आकाशस्य। **मुत्ते तिविह पदेसा** मूर्तेपुद्गले त्रिविधाः प्रदेशाः संख्याता असंख्याता अनन्ताश्च। **कालस्सेगो** कालस्यैकः प्रदेशः परमाणूनां रत्नराशिवदवस्थितत्वात्। **ण तेण सो काओ** तेन कारणेन स कालः कायसंज्ञां न लभते। अत्र पूर्वपक्षे ननु पुद्गलपरमाणुरप्येकप्रदेशी। तस्यापिकायत्वाऽनुपपत्तेः॥२५॥

अस्य निराकरणार्थमिदमाह—

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू॥२६॥

एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि बहुदेसो नानापुद्गलस्कन्धरूपस्यैकप्रदेशोऽपि अणुर्बहुप्रदेशोऽपि भवति। कुत ? उपचारात्। यतस्तस्य पुद्गलस्य परमाणोः पुनरपिस्कन्धरूपत्वे परिणतिरस्ति कालाणोः पुनः परिणतिर्नास्ति स्कन्धरूपत्वेन यतो रत्नानां राशय इव ते स्थितास्तस्मात्। तेण य काओ भणंति सव्वण्हु तेन कारणेन च कायत्वं वदन्ति पुद्गलपरमाणोस्तत्वज्ञाः॥२६॥

इदानीं प्रदेशलक्षणमाह—

जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं॥२७॥

तं तत् **खु पदेसं जाणे** स्फुटं प्रदेशं जानीहि वा जानाम्यहं तं कं **जावदियं आयासं** यावत्प्रमाणमाकाशं। किं विशिष्टम् ? **अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं** अविभागीकृत पुद्गल द्रव्यदानयोग्यं। कथंभूतं ? प्रदेशं जाने। **सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं** सर्वेषां जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाणूनां स्थानदानयोग्यं। अत्र पूर्वपक्षे। ननु अविभागीकृतः पुद्गलद्रव्येण यावदवष्टम्भत्वं रुद्धमाकाशं तत्प्रदेशमुक्तं। कथं तावत् प्रदेशे सर्व पदार्थानामवगाहना ? अत्रोच्यते—आकाशस्यावगाहनालक्षणत्वात् तादृशी शक्तिरस्ति। एकस्मिन् प्रदेशे जीवादीनां पञ्चानामपि समवायः। सममातितम् तथापि तस्य पत्परिणामित्वं अयमत्र दृष्टान्तः। यथा गुह्यनागनिष्क्रमध्ये सुवर्णलक्षेपि प्रविष्टे नागस्य तन्मात्रता। तथाकाशप्रदेशस्याप्यवगाहने तादृशी शक्तिरस्ति॥२७॥

इदानीं जीवानां पुद्गलसम्बन्धे सति परिणामविशेषसम्भवात् पदार्थानाह—

आसवबंधणसंवर-णिज्जरमोक्खा सपुण्णपावा जे।
जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो॥२८॥

तेवि समासेण पभणामो तेऽपि संक्षेपेण वयं प्रभणामः। ते के ? **आसव-बंधण-संवर-णिज्जर-मोक्खो सपुण्णपावा जे** आस्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षः सपुण्यपापाः कथंभूता एते ? **जीवाजीवविसेसा** अत्र जीवपुद्गलयोर्विशेषा यती जीवस्य पुद्गलसंबन्धादशुभपरिणामास्तस्मात्पापं पापाश्चास्रवस्तस्मात् कर्मबंधः। कर्मबन्धनिराकरणाय संवरनिर्जरे संवरनिर्जराभ्यां पुण्यं पुण्याच्छुभ-

परिणतिः शुभपरिणतेः कर्मक्षयः कर्मक्षयान्मोक्ष इति। तत्र शुभाशुभकर्मागमद्वाररूपास्रवः। आत्मकर्मणोरन्योन्य-प्रवेशात्मको बंधः। आस्रवनिरोधः संवरः। एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा। सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः। अव्रतपरित्यागलक्षणं पुण्यं। मिथ्यात्वप्रवर्तन लक्षणं पापं ॥२८॥

इदानीमास्रवस्वरूपमाह—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि॥२९॥

स विण्णेओ भावासवो जिणुत्तो स विज्ञेयो भावास्रवः जिनोक्तः। कः ? **अप्पणो** आत्मनः। स कः? **आसवदि जेण कम्मं परिणामेण** आस्रवति कर्म येन परिणामेन **कम्मासवणं परो होदि** द्रव्यास्रवोऽन्यो भवति। स भावास्रवो द्रव्यास्रवणे हेतुर्भवति। परिणामेन शुभाशुभरूपेण यदुपार्जित-शुभाशुभरूपास्रवः। स एव ज्ञानावरणादिरूपेण परिणमति एव द्रव्यास्रवो भवतीत्यर्थः॥२९॥

एतयोर्द्वयोर्मध्ये भावास्रवस्वरूपमाह—

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओथ विण्णेया।
पण-पण-पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥३०॥

अथ **विण्णेया** सम्यक्प्रकारेण विज्ञेयाः। के ते ? भेदा। **कस्य पुव्वस्स** पूर्वस्य भावास्रवस्येत्यर्थः। किं नामानो भेदा ? **मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ** मिथ्यात्वविरति-प्रमादयोगक्रोधादयः। कुतः? **पण पण पणदस तिय चदु भेदा दु** पञ्च पञ्च पञ्चदश त्रयश्चत्वारो भेदाभेदात्। तत्र मिथ्यात्वं। पञ्चप्रकारं सर्वक्षणिक मित्येकान्तदर्शी बौद्धः। सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्येकान्तदर्शी ब्रह्म अद्वैतवादी। विनयादेव मोक्ष इत्येकान्तदर्शी शैवः। जिनाः भोजनं कुर्वन्ति, साभरणे मोक्षः, स्त्री निर्वाणं च इत्येकान्तदर्शी श्वेतपटः। विकल्पसङ्कल्पकारकात् यथाऽज्ञानात्मको मोक्षस्तथा ज्ञानदेव इति मस्करिपूरणः श्रीपार्श्वनाथ-शिष्योऽप्येकान्तदर्शी। अविरति पंचप्रकारं १. हिंसा, २. असत्य, ३. चौर्य, ४. मैथुनसेवा, ५. परिग्रहस्वीकाररूपाः। प्रमादा पञ्चदश प्रकाराः। स्त्रीभक्तराजचौरकथाश्चत्वारः। क्रोधमानमायालोभाः चत्वारः कषायाः। इन्द्रियप्रवृत्तयः पञ्च। निद्रा, स्नेह। योगास्त्रिप्रकाराः अशुभमनोवाक्कायरूपाः। क्रोधश्चतुः प्रकारः स च प्रमादमध्ये पतितो दृष्टव्यः॥३०॥

इदानीं द्वितीयस्य द्रव्यास्रवस्य स्वरूपमाह—

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो॥३१॥

दव्वासवो स णेओ द्रव्यास्रवः स ज्ञेयः। कतिभेदाः ? **अणेयभेओ** अनेकभेदाः केन कथिताः? **जिणक्खादो** जिनेन प्रतिपादिताः। स कः ? **जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि** योग्यं यत्पुद्गलं समास्रवति। केषां योग्यं **णाणावरणादीणं** ज्ञानावरणादीनां कर्मणामष्टानां। अत्र भावास्रवो हि द्रव्यास्रवस्य हेतु ॥३१॥

इदानीं भावबंधद्रव्यबंधयोः स्वरूपमाह—

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥ ३२॥

भावबंधो सो स भावबंधो भवति। स क:? **जेण दु चेदणभावेण**-येन पुनश्चैतन्यभावेन। बज्झदि कम्मं बध्यते कर्म। **इदरो** इतरो द्रव्यबन्ध:। स: कथंभूतं:? **कम्मादपदेसाणं अण्णोण्ण पवेसणं** कर्मात्मप्रदेशानां परस्परं प्रवेशनं ॥३२॥

स च बंधश्चतुर्विधो भवतीत्याह—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविहो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति॥३३॥

चदुविधो बंधो चतुर्विधो बंधो भवति। कस्मात् ? **पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस भेदा दु** प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात्। कस्य कस्मात् बंध इति ? **जोगापयडिपदेसा** अत्राशुभमनवचनकायेभ्य: प्रकृतिप्रदेशबन्धौ भवत:। **ठिदि अणुभागकसायदो होंति** स्थित्यनुभागबन्धौ कषायत: भवत:। तत्र ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतीनां बंध: प्रकृतिबंध:। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगवशात् कर्मत्वमुपगतानां ज्ञानावरणादिकर्मप्रदेशानां यावत्कालेनान्यत् स्वरूपेण परिणतिं याति कालस्तस्य कालस्य स्थितिरिति संज्ञा, तत्र ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणामुत्कृष्टा स्थिति: सागरोपमानां त्रिंशत्कोटीकोट्य:। मोहनीयस्य सप्ततिकोटीकोट्य: सागर:। नामगोत्रयोर्विंशति कोटीकोट्य:। आयुषस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा:। जघन्यस्थितिर्वेदनीयस्य द्वादशमुहूर्ता। नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ता:। शेषाणामन्तर्मुहूर्ता, एतेषां स्थितिसम्बन्ध: स्थितिबंध:। अनुभाग: कर्मणां रसशक्तिर्वा अनुभागस्तस्य भागोऽनुभागबंध:। प्रदेशतो कर्माणुबंधा: कर्मप्रदेशास्तच्चैकस्मिन् जीवप्रदेशेऽनन्तानन्तास्तिष्ठन्ति तेषां बंध: प्रदेशबंध: ॥३३॥

इदानीं संवरस्य भेदद्वयमाह—

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासव-णिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो॥३४॥

सो भावसंवरो खलु स भावसंवरो भवति। **खलु** स्फुटं। स क: ? **चेदणपरिणामो जो** यश्चैतन्य-परिणाम: स्वस्वरूपपरिणति:। किं विशिष्ट: ? **कम्मस्सासवणिरोणे हेदू** समागच्छत: कर्मण आस्रव-निरोधने हेतु: स एव चैतन्यपरिणाम:। **दव्वासवरोहणे अण्णो** द्रव्यास्रवरोधनेन्यो द्वितीय: द्रव्यसंवरो भवति ॥३४॥

तस्यैव निरोधने विशेषमाह—

वद (तव) समिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा॥३५॥

णायव्वा दव्वसंवरविसेसा ज्ञातव्या: द्रव्यसंवरविशेषा:। कतिसंख्योऽपेता: **बहुभेया** बहुभेदा:। केते ? इत्याह—**तव समिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य चारित्तं च**। तपसमितिगुप्ति-

धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयाश्चारित्रं च। तत्र तपो द्वादशप्रकारं बाह्याभ्यन्तरभेदात्-अनशनं, अवमौदर्यं, वृत्तिपरिसंख्यानं, रसपरित्यागः, विविक्तशय्यासनं कायक्लेशो बाह्यं तपः षड्विधं। प्रायश्चित्तं, विनयो, वैयावृत्यं, स्वाध्यायो, व्युत्सर्गः, ध्यानं अभ्यन्तरं तपः षड्विधं। समितयः पंचप्रकाराः ईर्याभाषाएषणाः आदाननिक्षेपो व्युत्सर्गश्चेति। गुप्तयस्त्रिप्रकारा। मनोवचनकाय रूपाः। धर्मोदशविधः उत्तमक्षमा-मार्दवार्जवसत्य-शौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः। अनुप्रेक्षा द्वादशप्रकारा ज्ञातव्या— अनित्याशरण संसार-एकत्व-अन्यत्व-अशुचित्व-आस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्माश्चेति। परीषहजय-द्वाविंशतिप्रकाराः-क्षुधा-पिपासा शीत-उष्ण-दंशमसक-नाग्न्यअरति-स्त्रीचर्या-निषद्या-शय्या-आक्रोश-वध-याचना-अलाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार-पुरस्कार-प्रज्ञा अज्ञान-अदर्शनानि। चारित्रं त्रयोदशप्रकारं-हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्योः विरतिः पञ्चप्रकाराः। समता-स्तुति- वन्दना-प्रतिक्रमण-स्वाध्याय प्रत्याख्यानानि षट्। असही निःसहीश्चेति चारित्रं ॥३५॥

साम्प्रतं निर्जराभेदद्वयमाह—

जहकालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥३६॥

जेण भावेण सडदि-येन परिणामेन सटति गलतिं। किं तत् ? **कम्मपुग्गलं** कर्मरूपपुद्गलं। कथम्भूतं? **भुत्तरसं** भुक्तो रसः शक्तिर्यस्य तत् भुक्तरसं। केन कृत्वा? **जह कालेण तवेण य** यथाकालेन सविपाकरूपेण तपसा वा हठादविपाकरूपेण इत्येवं। **दुविहा** द्विविधा-द्विप्रकार निर्जरा ज्ञातव्या। **तस्सडणं** च तद् कर्मणो गलनं च एषा द्रव्यनिर्जरा। तद्भावस्य गलनं च एषा भावनिर्जरा इति द्विप्रकाराः ज्ञातव्या॥३६॥

इदानीं मोक्षस्वरूपमाह—

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुहभावो॥३७॥

णेयो स भावमुक्खो ज्ञातव्यः स भावमोक्षः परिणाममोक्षः। स कः? **जो अप्पण्णो हु परिणामो**-आत्मनश्चारित्रावरणीयक्षयात् यः समुत्पद्यते निर्मलपरिणामः स भावमोक्ष इति। किंभूतः ? **सव्वस्स कम्मणो खयहेदू** सर्वस्य कर्मणां क्षयहेतुः। **दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो**-द्रव्यमोक्षस्य पुनः कर्मभावसकाशादात्मनः पृथक् भावः। शुद्धचैतन्यरूपावस्थितिरित्यर्थः ॥३७॥

इदानीं पुण्यपापस्वरूपमाह—

सुहअसुहभावजुत्ता, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं, गोदं पुण्णं पराणि पावं च॥३८॥

पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा-पुण्यं पापं चानुभवन्ति। **खलु** स्फुटं। के ते ? जीवाः। कथंभूताः सन्तः? **सुहअसुहभावजुत्ता** शुभाशुभपरिणामैर्युक्ताः। शुभपरिणामात् पुण्यं अशुभात्

पापमनुभवति।

पुण्यस्य कानि चिह्नानि इत्याह–**सादं सुहाउणामं गोदं** सातावेदनीयं शुभायुर्नामगोत्राणि एतैश्चिह्नै युक्तं पुण्यं। पापस्य कानि ? **पराणि पावं च**। असाताऽशुभायुर्नामगोत्राणि पापं। च स्फुटं ॥३८॥

सम्प्रति पूर्वोक्तस्य मोक्षस्य कारणमाह—

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥

हवदि भवति। किं तत् ? कारणं हेतुः कस्य ? **मोक्खस्स** मोक्षस्य किं कारणं ? **सम्मद्दंसण णाणं चरणं** च सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं च। कदा ? **ववहारा** व्यवहारनयापेक्षया। **णिच्छयदो ततिअमइओ** निश्चयनयापेक्षया तत् त्रितयात्मको निजात्मा दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपो। यदेव रत्नत्रयं स एवात्मा, तदेवरत्नत्रयमित्यर्थः ॥३९॥

इयमर्थ दृढ़यन्नाह—

रयणत्तयं ण वट्टइ, अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइयो, होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥

तम्हा तत्तिय मइयो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा तस्मात् त्रितयात्मको दर्शनज्ञानचारित्ररूपो। भवति। हु स्फुटं। मोक्षस्य हेतुरात्मा। कस्मात् यस्मात्। **रयणत्तयं ण वट्टइ** रत्नत्रयं न वर्तते। क्व? अण्णदवियम्हि अन्यस्मिन् शरीरादिपरद्रव्ये। किं कृत्वा ? **अप्पाणं मुयत्तु** आत्मानं मुक्त्वा त्यक्त्वा आत्मन्येव रत्नत्रयं वर्तते, न पर द्रव्ये ॥४०॥

रत्नत्रयस्य स्वरूपमाह—

जीवादी-सद्दहणं, सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं, णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि॥४१॥

सम्मत्तं सम्यक्त्वं भवति। किं तत् ? **जीवादी सद्दहणं** जीवादीनां पदार्थानां श्रद्धानं रुचिः। **रूवमप्पणो** तं तु तत्सम्यक्त्व पुनरात्मनो रूपं स्वरूप नान्यस्य। **णाणं सम्मं** खु **होदि सदि** जम्हि स्वपरपरिच्छेदकं ज्ञानं नियमेन भवति यस्मिन् सम्यक्त्वे सति। किं विशिष्टं ज्ञानं ? दुरभिणिवेसविमुक्कं संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं ॥४१॥

दर्शने सति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्कथंभूतमित्याह—

संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं च ॥४२॥

सम्मण्णाणं सम्यग्ज्ञानं भवति। किं तत् ? **गहणं** ग्रहणं। कस्य ? **अप्पपरसरूवस्स** आत्मनः स्वरूपस्य परवस्तुनः स्वरूपस्य। कथम्भूतं ग्रहणं ? **संसयविमोहविब्भमविवज्जियं**–संशयं हरिहरादिज्ञानं प्रमाणं जैनं वा। **विमोहं** अनध्यवसायो गच्छत् तृणस्पर्शापरिज्ञानं। विभ्रमः शुक्तिका रजतसकलं यद्

विज्ञानमिति तद् ग्रहणं। किं विशिष्टं ? **सायारमणेयभेयं** तु साकारं सविकल्पकं अवग्रहेहावाय-धारणारूपकमनेकभेदं च। गत्यादि भेदान् ॥४२॥

दर्शनज्ञानयोः को भेद इत्याह—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥४३॥

दंसणमिदि भण्णये समये तद्दर्शनमिति हेतोर्भण्यते। क्व? समये सिद्धान्ते वा जिनमते। तत् किं? **जं सामण्णं गहणं** यत् सामान्यग्रहणं वस्तुसत्तावलोकनं करोति। केषां ? **भावाणं** पदार्थानां। किं कृत्वा? **अविसेसिदूण अट्ठे** अविशेष्यार्थान् भेदमकृत्वाइदं कृष्णमिदं नीलमित्यादि परिछित्तिं। अत्राह— ननु दर्शनं तावत् स्वभावभासकं ज्ञानं च परार्थावभासकं भिन्नानां भावानां सामान्यग्रहणमिति दर्शनस्य कथं घटते? यतस्तदेवावलोकने ज्ञानस्य प्रयोजनं। अत्र निराकरणार्थमिदमाह—णेव कट्टुमायारं यतो दर्शनं प्रथमसमये नैव कर्तुं शक्नोति भेदमित्थंभूतमिति। जलस्यानोत्थितपुरुष सन्मुखवस्त्वावलोकन वत् अतो दर्शनं भण्यते। किंचिदित्येतत्प्रयोजनं? ज्ञानस्य न पुनर्वस्तुसत्तावलोकनं। तस्मात् स्वपराऽवभासकं दर्शनं किन्तु निर्विकल्पं ज्ञानं। पुनः स्वपराऽवभासकं सन् सविकल्पकं यतोवग्रहेहावायधारणा अग्रे। समुत्पद्यते ॥४३॥

इदानीं दर्शनपूर्वं ज्ञानमाह—

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥

दंसणपुव्वं णाणं दर्शनपूर्वकं ज्ञानं विषयविषयिणोः सन्निपाते दर्शनं। तदनन्तरमर्थग्रहणं। किंचिदिति ज्ञानं। यथा बीजांकुरौ। केषां ? **छदुमत्थाणं** छद्मस्थानां दर्शनज्ञानावरणीययुक्तानां तेषां च। **ण दुण्णि उवओगा जुगवं जम्हा** नोपयोगद्वयं युगपद्यस्मात्तेषामतो दर्शनपूर्वकं ज्ञानं बीजांकुरवत्। **केवलिणाहे** केवलिना हेतु, केवलज्ञानयुक्ते। पुनः **जुगवं तु** ते दो वि युगपत्तौ द्वौ भास्करप्रकाशप्रतापवत् ॥४४॥

इदानीं चारित्रमाह—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं॥ ४५॥

जाण चारित्तं जानीहि चारित्रं। किं तत् ? **असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य** अशुभात्पापास्त्रव-द्वाररूपान्निवृत्तिः शुभपुण्यास्रवद्वाररूपेण प्रवृत्तिश्च एतत्। **वदसमिदिगुत्तिरूवं** व्रतसमितिगुप्तिरूपं। कस्मात् ? **ववहारणया दु** व्यवहारनयापेक्षया। किं विशिष्टं ? **जिणभणियं** वीतरागप्रतिपादितं भावचारित्रं। पुनरहं ब्रवीमि परिणामः ॥४५॥

इदानीं सम्यक्चारित्रमाह—

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं॥४६॥

तं परमं सम्मचारित्तं तत् परमोपेक्षालक्षणं सम्यक्चारित्रं भवति। किं विशिष्टं ? **जिणुत्तं** जिनैर्प्रतिपादितं चारित्र। कस्य ? **णाणिस्स** ज्ञानिनो योगिनः यथाख्यातमित्यर्थः। तत् किं ? **जं बहिरब्भन्तरकिरियारोहो** यद्बाह्याभ्यन्तरक्रियानिरोधः। तत्र बाह्यव्रताचरणस्पन्दादयः अभ्यन्तरे व्रतशीला दिनित्यादयः। किमर्थं किरियारोहो **भवकारणप्पणासट्ठं** संसारोत्पत्तिविनाशनार्थं।

णिज्जिय सासो णिप्फंद, लोयणोमुक्क सयलवावारो।
जेण्णा वत्थ गओ सो जोइणत्थि संदेहो ॥इत्यर्थः॥४६॥

इदानीं द्विविधमपि चारित्रं मोक्षकारणं भवतीत्याह—

दुविहं पि मोक्खहेउं, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता, जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह–तस्मात् कारणात् प्रयत्नचेतसः सन्तः यूयं ध्यानं समभ्यसत्। तस्मात्। कस्मात् ? **जं** यस्मात् **पाउणदि**–प्राप्नोति। कोऽसौ ? **मुणी** मुनिः। कथं ? **णियमा** निश्चयेन। क्व प्राप्नोति ? **झाणे** ध्याने स्थित इत्यर्थः। किं प्राप्नोति ? **दुविहं पि** द्विविधमपि चारित्रं। कथंभूतं ? **मोक्खहेउ** मोक्षकारणमिति ॥४७॥

इदानीं आचार्यः शिष्यान् प्रति शिक्षामाह—

मा मुज्झह मा रज्जह, मा दुस्सह[१] इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह (हि) जइ चित्तं, विचित्त-झाणप्पसिद्धीए॥४८॥

अहो शिष्याः **थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्त झाणप्प सिद्धीए** स्थिर मिच्छत यदि चित्तं। किमर्थं? विचित्रध्यान प्रसिद्ध्यर्थं। तदा **मा मुज्झह** मा मोहं गच्छत **मा रज्जह** मा रागं कुरुत। **मा रुस्सह** मा रोषं कुरुत। केषु ? विषयेषु। **इट्ठणिट्ठ अत्थेसु** इष्टानिष्ठार्थेषु ॥४८॥

साम्प्रतं जपध्यानयोः क्रममाह—

पणतीस सोल छप्पण, चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठि-वाचयाणं, अण्णं च गुरूवएसेण॥४९॥

भो शिष्याः! **जवह झाएह** जपत ध्यायत च यूयं। कानि ? अक्षराणि। केषां सम्बंधिनी ? **परमेट्ठिवाचयाणं** परमेष्ठिवाचकानां। केनप्रकारेणेत्याह—**पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च** पंचत्रिंशत् (३५) णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोएसव्वसाहूणं। षोडशा–अरहंत सिद्ध आयरिय उवझाय साहू। षट्—अरहंत सिद्ध। पञ्च—अ सि आ

१. मा रुस्सह : मा द्वेषं कुरु इति पाठः।

उ सा। चत्वारः—अरिहंत। द्वय—सिद्ध। एकं ह्रँ वा ह्रँ। **अण्णं च गुरूवएसेण** अन्यं च गुरुपदेशेन सिद्धचक्रे उदितं॥४९॥

इदानीं कः कथम्भूतो ध्येय इत्याह—

णट्ठ-चदुघाइ-कम्मो दंसण-सुह-णाण-वीरिय-मइओ।
सुह-देहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

विचिंतिज्जो विशेषेण चिन्तनीयो भवति भवताम्। भो शिष्याः ! कोऽसौ ? **अप्पा** स्वात्मा। कथम्भूतो ? **अरिहो** अर्हत्स्वरूपः। पुनः कथंभूतः ? **सुद्धो** शुद्धात्मस्वरूपो द्रव्यभावकर्मरहृतिः। पुनरपि किं विशिष्टः ? **सुहदेहत्थो—**सप्तधातुरहितः। पुनः किं विशिष्टः ? **णट्ठ चदुघाइकम्मो** नष्टचतुर्घाति-कर्म। पुनः किं विशिष्टः ? **दंसण सुहणाणवीरियमईओ**-अनन्तदर्शनज्ञानसुखवीर्यमयः समवसरणादि-विभूतियुक्तो ह्यात्मो ध्येय इत्यर्थः॥५०॥

इदानीं सिद्धो ध्येय इत्याह—

णट्ठट्ठ-कम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥५१॥

झाएह ध्यायत यूयं। कोऽसौ ? **अप्पा** आत्मा। किं विशिष्टः ? **सिद्धो** अशरीरः। पुनः किं विशिष्टः ? सिद्धः। **लोयसिहरत्थो** लोकाग्रशिखरस्थितः। पुनः किं विशिष्टः सिद्धः। **णट्ठट्ठकम्मदेहो** नष्टाष्टकर्मस्वरूप इत्थंभूतः। पुनः कथंभूतः? **लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा** लोकालोकान्तवर्ति समस्त वस्तु ज्ञायको द्रष्टा च युगपत्। कीदृशाकारो ध्येयः ? **पुरिसायारो** निर्गता सिक्थपुरुष-प्रतिमामानवाकृति स्वरूपः ॥५१॥

इदानीमाचार्यो ध्येय इत्याह—

दंसणणाणपहाणे वीरिय-चारित्त-वर-तवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ॥५२॥

अप्पा इति अध्याहार्यः **झेओ** ध्यातव्यः। कोऽसौ? **अप्पा—**स्वात्मा। कथंभूतः ? किमिति भणित्वा ? **सो आयरिओ मुणी** स आचार्यो मुनिः। सः कः ? **जो अप्पं परं च जुंजइ** य आत्मानं परं शिष्यजनं च सम्बन्धं करोति। क्व ? **वीरियचारित्तवरतवायारो** वीर्याचार-चारित्राचार-वर-तपश्चरणाचारो। किं विशिष्टे ? **दंसणणाणपहाणे** दर्शनज्ञानप्रधाने। यत्र तस्मिन् दर्शनज्ञानप्रधाने दर्शन पूर्वकेषु सिद्धि रिति भावः ॥५२॥

इदानीं उपाध्यायो ध्येय इत्याह—

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदे(ए)सणे णिरदो।
सो उवझाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स॥५३॥

झेओ इत्यध्याहार्यः। **सो उवज्झाओ अप्पा** स उपाध्यायश्चात्मध्येयः। किं विशिष्टः ? **जदिवरवसहो** यतिवरवृषभः प्रधानः। **णमो तस्स** नमस्कारोऽस्तु तस्मै। सः कः ? **जो रयणत्तयजुत्तो** यो रत्नत्रययुक्तः। पुनः किं विशिष्टः ? **णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो** नित्यं धर्मोपदेशने निरतः॥५३॥

साधुर्ध्येय इत्याह—

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू सो मुणी णमो तस्स॥५४॥

झेओ अप्पा इत्यध्याहार्यः। झओ—ध्यातव्यः। कोऽसौ ? स्वात्मा। किं स्वरूपो भणित्वा ? **साहू सो मुणी** साधुः स मुनिरहं णमो तस्स नमस्कारोऽस्तु तस्मै। स कः ? **जो हु साधयदि** य स्फुटं साधयति। किं? चारित्तं चारित्रं। कथंभूतं ? सुद्धं यथाख्यातं। कदा ? **णिच्चं** सर्वकालं। पुनः कथंभूतं? **दंसणणाणसमग्गं** दर्शनज्ञानसंयुक्तं। पुनरपि कथंभूतं ? **मग्गं** मार्गं। कस्य **मोक्खस्स** मोक्षस्य॥५४॥

शुद्धिनिश्चयनयमाश्रित्य कीदृशं ध्यान इत्याइ—

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं॥ ५५॥

तं तस्स णिच्छयं झाणं तदा तस्मिन् प्रस्तावे हु स्फुटं तत् प्रसिद्धमसहायं तस्य साधोः शुद्धनिश्चयनयेन ध्यानं तदा जदा साहू हवे यदा साधुर्भवेत्। कथंभूताः ? **णिरीहवित्ती** बाह्याभ्यन्तर-प्रसररहितः। णिज्जिय सासो णिफंद लोयणोमुक्क सयलवावारो इत्यर्थः। किं कुर्वन् ? **जं किंचिवि चिंतंतो** यत् किंचिद्द्रव्यस्वरूप पर्यायस्वरूपं वा। वस्तु चिन्तयन्। किं कृत्वा ? **लद्धूण य एयत्तं** ध्येये लब्ध्वा। किं एयत्तं ? किमेकत्वं अयोगित्वं ॥५५॥

इदानीं ग्रन्थकारध्यानस्वरूपमुक्त्वा शिक्षाद्वारेण ध्यानमाह—

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि अन्य किंचिन्मा चेष्टतयूयं, मा जल्पत, मा चिन्तयत। तर्हि किं कुर्मः ? तत् किं चेष्टत, तत् किं जल्पत, तत् किं चिन्तयत। **जेण होइ थिरो अप्पा अप्पम्मि रओ** येन चेष्टित जल्पित चिन्तयतः। **जेण होइ थिरो** ह्यात्मा आत्मनिरतः। उक्तं च—

तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं, त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥स.तं.॥

इणमेव परं हवदिज्झाणं यस्मादेतदेव चेष्टितं इदमेव ध्यानं भवति॥५६॥

महात्मनामिदं रत्नत्रयात्मका भावयता भव्या इत्याह—

तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

तम्हा तत्तियणिरदा तस्मात् तत् त्रितया रता दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपपरताः किमर्थं! **तल्लद्धीए** तस्य रत्नत्रयस्य लब्धिस्तस्यैव अथवा तस्य परमपदस्य लब्धि। **सदा होह** सर्वकालं भवत यूयं। कस्मात्? **जम्हा** यस्मात्। **चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे**—आत्मा ध्यानरथं धुरन्धरो भवेत्। कथम्भूतः सन्? **तवसुदवदवं** तपश्रुतव्रतवान् ॥५७॥

ग्रन्थकार औद्धत्यपरिहारं कुर्वन्नाह—

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा (या) सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं॥५८॥

सोधयंतु शुद्धं कुर्वन्तु। के ते? **मुणिणाहा** मुनिनाथाः। किं तत्? **दव्वसंगहमिणं** द्रव्यसंग्रहमिमं। किं विशिष्टः? **दोससंचयचुदा** रागद्वेषादि—दोषसंघातच्युता रहिता इत्यर्थः। पुनः किं विशिष्टः? **सुदपुण्णा** श्रुतपूर्णाः (शास्त्रपूर्णाः)। इदं किं? **भणियं जं** यद्भणितः। **णेमिचंदमुणिणा** नेमिचन्द्रमुनिना। कथंभूतेन? **तणुसुत्तधरेण** अल्पागमज्ञानेनेति॥

परमागमिकभट्टारकश्रीनेमिचन्द्रविरचितं षट्द्रव्यसंग्रहसूत्रमिति। ततः श्रीमद्भट्टारकप्रभाचंद्रकृत संक्षेपेण टिप्पणमिति लघुब्रह्मदेववृत्तिः समाप्ता।

॥ संवत् १७....वर्षे मिति द्वितीय श्रावण वदि ११ लिखी जोबनेरपुरमध्ये ॥

यावज्जिनस्य धर्मोऽयं, लोके स्थेयात् दयापरः।
यावत्सुरनदीतोयं, तावन्नन्दतु पुस्तकम्॥

❑ ❑ ❑

१. जेण येन ध्यानेन। किमपि स्थिरो भवति। अप्पा आत्मा। अप्पम्मि रओ आत्मनिरतः। इणमेव परं झाण इदमेव उत्कृष्टध्यानं। हवे भवेत्। इति पाठान्तरः।

परिशिष्ट-३

गाथानुक्रमणिका

(५८ गाथा)

परिशिष्ट-४

गाथानुक्रमणिका

(२५ गाथा)

परिशिष्ट-५
ब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृतवृत्ति के उद्धरणों की सूची

उद्धरण	संदर्भ ग्रन्थ	अनुच्छेद सं०	पृष्ठ सं०
अच्छिणिमीलणमित्तं		१५४	११६
अज्जवितियरणसुद्धा	(मोक्षपाहुड ७७)	३०६	२१९
अत्थि अणंता जीवा	(मूलाचार १२०५)	१३९	१०५
अपुण्यमव्रतैः पुण्यं	(समाधिशतक ८३)	३०२	२१६
अभेदानीं निषेधन्ति	(तत्त्वानुशासन)	३०६	२१९
अरिहंता असरीरा		२७२	१९६
अरिहा सिद्धायरिया		२९२	२०९
अव्रतानि परित्यज्य	(समाधिशतक ८४)	३०२	२१७
अशुभपरिणामबहुलता		१८१	१३८
असिदिसदं किरियाणं	(गो० क० ८७६)	१८९	१४३
अस्त्यात्मानादिबद्ध		८	९
आत्मा नदी संयमतोय पूर्णा	(महाभारत)	१४३	१०८
आत्मोपादानसिद्धं	(सिद्धभक्ति ७)	१९६	१४८
आदा हु मज्झ णाणे		३०८	२२२
आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति		१४८	११०
आहारसरीरिंदिय	(गोम्मटसार जीवकाण्ड ११९)	३०	२९
इंदियकायाऊणिय	(गोम्मटसार जीवकाण्ड १३२)	३०	२९
इंदुरवीदो रिक्खा		१७४	१३१
इगतीससत्तचत्तारि		१७७	१३५
इत्यतिदुर्लभरूपां		१८१	१३८
उग्गाढगाढणिचिदो	(पंचास्तिकाय ६४)	९४	७३
उद्योतनमुद्योगो	(भगवती आराधना गाथा २)	२९१	२०९
उद्वमिथ्यात्वविषं		२०२	१५१
उवर्णे ओ		२७२	१९६
उवसंत खीणमोहो	(गोम्मटसार जीवकाण्ड १०)	३३	३१
एगणिगोदसरीरे जीवा	(गोम्मटसार जीवकाण्ड १९६)	९४	७३

परिशिष्ट-६

द्रव्यसंग्रह का आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का पद्यानुवाद

(वसन्ततिलका छन्द)

देवाधिदेव जिन नायक ने किया है, जो जीव का कथन द्रव्य अजीव का है।
सौ-सौ सुरेन्द्र झुकते जिनके पदों में, वन्दूँ सदा विनत हो उनको अहो मैं ॥१॥

भोक्ता स्वदेह परिमाण सुसिद्ध स्वामी, होता स्वभाव वश हो वह ऊर्ध्वगामी।
कर्त्ता अमूर्त उपयोगमयी तथा है, सो जीव जीवभर की नव ये कथा है ॥२॥

उच्छ्वास स्वाँस बल इन्द्रिय आयु प्यारे, ये चार प्राण जग जीव त्रिकाल धारे।
संगीत यों गुन-गुना व्यवहार गाता, पै जीव में नियम से चिति प्राण भाता ॥३॥

ज्ञानोपयोग इक दर्शन नाम पाता, यों जीव का द्विविध है उपयोग भाता।
चक्षू अचक्षु अवधी वर केवलादि, ये चार भेद उस दर्शन के अनादि ॥४॥

मिथ्या, सही मति श्रुतावधि ज्ञान तीनों, कैवल्य ज्ञान मनपर्यय ज्ञान दोनों।
यों ज्ञान अष्ट विध हैं गुरु हैं बताते, प्रत्यक्ष ज्ञान चहुँ चार परोक्ष भाते ॥५॥

यों चार आठ विध दर्शन-ज्ञानवाला, सामान्य जीव परिलक्षण है निराला।
ऐसा स्वगीत व्यवहार सुना रहा है, पै शुद्ध 'ज्ञान दृग' निश्चय गा रहा है ॥६॥

ये पंच पंच वसु दो रस वर्ण स्पर्श, गंधादि जीव गुण को करते न स्पर्श।
सो जीव निश्चय-तया कि अमूर्त भाता, पै मूर्त्त बन्ध वश है व्यवहार गाता ॥७॥

आत्मा विशुद्धनय से शुचि धर्म का है, औ व्यावहार वश पुद्‌गल कर्म का है।
कर्त्ता अशुद्धनय से रति भाव का है, चैतन्य के विकृत भाव विभाव का है ॥८॥

रे व्यावहार नय से विधि के फलों को, है भोगता सुख, दुखों जड़ पुद्‌गलों को।
आत्मा विशुद्धनय से निज-चेतना को, पै भोगता तुम सुनो जिन-देशना को ॥९॥

विस्तार संकुचन शक्ति-तया शरीरी, छोटा बड़ा तन प्रमाण दिखे विकारी।
पै छोड़ के समुद्‌घात दशा हितैषी, है वस्तुतः; सकल जीव असंख्यदेशी ॥१०॥

पृथ्वी जलानल समीर तथा लतायें, एकेन्द्रि जीव सब थावर ये कहायें।
हैं धारते करण दो त्रय चार पंच, शंखादि जीव त्रस हैं सुख है न रंच ॥११॥

संज्ञी कहाय समना अमना असंज्ञी, पंचेन्द्रि हो द्विविध शेष सभी असंज्ञी।
एकेन्द्रि जीव सब बादर सूक्ष्म होते, पर्याप्त औ इतर ये दिन-रैन रोते ॥१२॥

है मार्गणा व गुणथान तथा विकारी, होते चतुर्दश चतुर्दश कायधारी।
गाता अशुद्धनय यों सुन भव्य! प्यारे, पै शुद्ध, शुद्धनय से, जग जीव सारे ॥१३॥

उत्पाद ध्रौव्य व्यय लक्षण से लसे हैं, लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसे हैं।
वे सिद्ध न्यून कुछ अंतिम काय से हैं, निष्कर्म अक्षय सजे गुण आठ से हैं ॥१४॥

आकाश पुद्‌गल व धर्म अधर्म काल, ये हैं अजीव सुन तू अयि भव्य बाल।
रूपादि चार गुण पुद्‌गल में दिखाते, है मूर्त्त पुद्‌गल न, शेष अमूर्त्त भाते ॥१५॥

संस्थान भेद तम स्थूलपना व छाया, औ सूक्ष्मता करम बंधन शब्द माया।
उद्योत आतप यहाँ जग में दिखाते, पर्याय वे सकल पुद्‌गल के कहाते ॥१६॥

धर्मास्तिकाय खुद ना चलता चलाता, पै प्राणि पुद्‌गल चले गति है दिलाता।
मानो चले न यदि वे न उन्हें चलाता, ज्यों नीर मीन-गति में, गति दान-दाता ॥१७॥

ज्यों जीव पुद्‌गल रुके स्थिति है दिलाता, होता अधर्म वह है स्थिति दान-दाता।
मानों चले, नहिं रुके स्थिति दे न भाई, छाया यथा पथिक को स्थिति में सहाई ॥१८॥

जीवादि द्रव्य दल को अवकाश देता, आकाश सो कह रहे जिन आत्म जेता।
होता वही द्विविध लोक अलोक द्वारा, ऐसा सदा समझ तू जिन शास्त्र सारा ॥१९॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहाँ है, माना गया अमित लोक वही यहाँ है।
आकाश केवल, अलोक वही कहाता, ऐसा वसन्ततिलका यह छन्द गाता ॥२०॥

जीवादि द्रव्य परिवर्तन रूप न्यारा, औ पारिणाममय लक्षण आदि धारा।
तू मान काल व्यवहार वही कहाता, पै वर्तनामय सुनिश्चिय काल भाता ॥२१॥

जो एक-एक करके चिर से लसे हैं, जो लोक के प्रति प्रदेशन में बसे हैं।
कालाणु हैं रतन राशि समान प्यारे, होते असंख्य कहते ऋषि संत सारे ॥२२॥

हैं द्रव्य भेद छह जीव अजीव द्वारा, श्री वीर ने सदुपदेश दिया सुचारा।
हैं अस्तिकाय इनमें बस पंच न्यारे, पै काल के बिना सुनो अयि भव्य प्यारे ॥२३॥

जीवादि क्योंकि जब हैं इनको इसी से, श्री वीर 'अस्ति' इस भाँति कहें सदी से।
औ काय से सब सदैव बहुप्रदेशी, है 'अस्तिकाय फलतः' समझो हितैषी ॥२४॥

आकाश में अमित जीव व धर्म में हैं, होते असंख्य परदेश अधर्म में हैं।
है मूर्त्त संख्य गतसंख्य अनन्त देशी, ना काल काय फलतः इक मात्र देशी ॥२५॥

है मूर्त्त यद्यपि रहा अणु एक देशी, होता अनेक मिल के अणु नैक देशी।
तो अस्तिकाय फलतः उपचार से है, सर्वज्ञ यों कह रहे व्यवहार से है ॥२६॥

जो पुद्गलाणु जड़ है अविभाज्य न्यारा, आकाश को कि जितना वह घेर डाला।
माना गया वह प्रदेश यहाँ अकेला, सर्वाणु स्थान यदि ले वह दे सकेगा ॥२७॥

जो पुण्य पाप विधि आस्त्रव बंध तत्त्व, औ निर्जरा सुखद संवर मोक्ष-तत्त्व।
ये भी विशेष सब जीव अजीव के हैं, संक्षेप से गुरु उन्हें कह तो रहे हैं ॥२८॥

तो! आत्म के उस निजी परिणाम से जो, हो कर्म आगमन हा! अविलम्ब से वो।
है भाव आस्त्रव वही अरु कर्म आना, है द्रव्य आस्त्रव यही गुरु का बताना ॥२९॥

मिथ्यात्व औ अविरती व प्रमाद-योग, क्रोधादि भावमय आस्त्रव दुःख योग।
ये पाँच-पाँच दश पाँच त्रि चार होते, देही इन्हें धर सदैव अपार रोते ॥३०॥

मोहादि कर्म-पन में ढल पुद्गलों का, आता समूह जड़ आतम में जड़ों का।
हो द्रव्य आस्त्रव वही बहु-भेद वाला, ऐसा जिनेश कहते सुख वेद शाला ॥३१॥

जो कर्म बन्ध जिस चेतन भाव से हो, है भाव बन्ध वह दूर स्वभाव से हो।
दोनों मिले जब परस्पर कर्म आत्मा, सो द्रव्यबन्ध जिससे निज धर्म खात्मा ॥३२॥

है बन्ध चार विध है प्रकृति प्रदेशा, औ आनुभाग थिति है कहते जिनेशा।
ही योग से प्रकृति बंध प्रदेश होते, भाई कषाय वश शेष हमेश होते ॥३३॥

है भाव आस्त्रव-निरोधन में सहाई, चैतन्य से उदित जो परिणाम भाई।
सो भाव-संवर सुनिश्चय ने पुकारा, द्रव्यास्त्रवा रुकत संवर द्रव्य न्यारा ॥३४॥

ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत साधनाएँ, सत्यादि धर्म दश द्वादश भावनाएँ।
औ जीतना परिषहों सुचरित्र नाना, हैं भाव-संवर सभी गुरु का बताना ॥३५॥

भोगा गया करम का झड़ना सुचारा, कालानुसार तप से निज भाव द्वारा।
सो भाव, भावमय निश्चित निर्जरा है, औ कर्म का झरण द्रव्य सुनो जरा है॥
सत् त्याग से विधि-झरे अविपाक सो है, छूटे विधी समय पे सविपाक सो है।
यों निर्जरा यह नितान्त द्विधा-द्विधा है, प्राप्तव्य मार्ग अविपाक भली सुधा है ॥३६॥

जो आत्म भाव सब कर्म विनाश हेतु, सो भाव-मोक्ष सुन ले जिनदास रे तू।
औ आत्म से पृथक हो जड़ कर्म सारे, सो द्रव्य-मोक्ष मिलता जिन धर्म धारे ॥३७॥

देही शुभाशुभ विकार विभावधारी, है पुण्य-पापमय निश्चय से विकारी।
होता शुभायु शुभगोत्र सुनाम साता, है पुण्य शेष बस! पाप किसे सुहाता ॥३८॥

रे मोक्ष का सुखद कारण ही वही है, विज्ञान औ चरित दर्शन जो सही है।
ऐसा कहे कि व्यवहार यथार्थ में तो, रत्नत्रयात्मक निजात्म निजार्थ में हो ॥३९॥

रे! आत्म द्रव्य तज अन्य पदार्थ में वो, ज्ञानादि रत्नत्रय ही न यथार्थ में हो।
आत्मा रहा इन त्रयात्मक ही स्वतः है, सो मोक्षकारण निजातम ही अतः है ॥४०॥

है आत्म रूप वह जीव अजीव श्रद्धा, सम्यक्त्व, किन्तु करता न अभव्य श्रद्धा।
सम्यक्त्व होय तब ज्ञान सुचारु सच्चा, संमोह संशय विमुक्त सुहाय अच्छा ॥४१॥

संमोह संभ्रम ससंशय हीन प्यारा, कल्यान खान वह ज्ञान प्रमाण प्याला।
माना गया स्व पर भाव-प्रभाव दर्शी, साकार नैक विधि शाश्वत सौख्यस्पर्शी ॥४२॥

साकार के बिन विशेष किये बिना ही, सामान्य द्रव्य भर का वह मात्र ग्राही।
है भव्य मान वह दर्शन नाम पाता, ऐसा जिनागम यहाँ अविराम गाता ॥४३॥

हो पूर्व दर्शन जिसे फिर ज्ञान होता, छद्मस्थ दो न युगपत् उपयोग ढोता।
दो एक साथ उपयोग महाबली को, मेरा उन्हें नमन हो जिन केवली को ॥४४॥

जो त्यागता अशुभ को शुभ को निभाना, मानो उसे हि व्यवहार चरित्रवाना।
ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत आदि सारे, जाते अवश्य व्यवहार-तया पुकारे ॥४५॥

जो बाह्य भीतर क्रिया भववर्धिनी है, ज्ञानी निरोध उनका करते गुणी हैं।
वे ही यमी चरित निश्चय धार पाते, ऐसा जिनेश कहते भव-पार जाते ॥४६॥

है मोक्षमार्ग द्वय को अनिवार्य पाता, सद्ध्यान लीन मुनि वो निजकार्य धाता।
भाई अतः यतन से शुचि भाव से रे, अभ्यास ध्यान निज का कर चाव से रे ॥४७॥

हो चित्त को अचल मेरु अहो बनाना, हो चाहते सहज ध्यान सदा लगाना।
अच्छे बुरे सुखद दुःखद वस्तुओं में, ना मोह द्वेष रति राग करो जड़ों में ॥४८॥

पैंतीस सोलह छ पाँच व चार दो एक, जो शब्द वाचक रहे परमेष्ठियों के।
या अन्य भी पद मिले गुरु-देशना से, ध्यावो उन्हें तुम जपो शुचि चेतना से ॥४९॥

जो घाति कर्म दल को जड़ से मिटाया, संपूर्ण ज्ञान सुख-दर्शन-वीर्य पाया।
औ दिव्य देह स्थित है अरहन्त आत्मा, है ध्येय-ध्यान उसका कर अन्तरात्मा ॥५०॥

द्रष्टा व ज्ञायक त्रिलोक अलोक के हैं, आसीन जो शिखर पे त्रयलोक के हैं।
दुष्टाष्ट कर्म तन वर्जित ध्येय प्यारे, आकार से पुरुष सिद्ध सदैव ध्या! रे ॥५१॥

आचार पंच तप चारित्र वीर्य प्यारा, औ ज्ञान दर्शन जिनागम ने पुकारा।
आचार में रत स्वयं पर को कराता, आचार्यवर्य मुनि ध्येय वही कहाता ॥५२॥

धर्मोपदेश समयोचित नित्य देते, ज्ञानादि रत्नत्रय में रस पूर्ण लेते।
होते यतीश उवझाय प्रवीण तातैं, हो आपके चरण में हम लीन जातैं ॥५३॥

सम्यक्त्व ज्ञान समवेत चरित्र होता, है मोक्षमार्ग वह है सुख को सँजोता।
जो साधते सतत हैं उसको सुचारा, वे साधु हैं नमन हो उनको हमारा ॥५४॥

कोई पदार्थ मन में सुविचारता है, हो वीतराग मुनि राग विसारता है।
एकत्व को नियम से वह शीघ्र पाता, संसार में सुखद निश्चय ध्यान ध्याता ॥५५॥

चिन्ता करो न कुछ भी मन से न डोलो, चेष्टा करो न तन से मुख को न खोलो।
यों योग में गिरि बनो शुभ ध्यान होता, आत्मा निजात्म रत ही वरदान होता ॥५६॥

सद्ज्ञान पा तप महाव्रत धार पाता, वो साधु ध्यान-रथ बैठ स्वधाम जाता।
सद्ध्यान पूर्ण सधने तुम तो इसी से, ज्ञानादि में निरत हो नित हो रुची से ॥५७॥

मैं 'नेमिचन्द्र' मुनि हूँ मति मन्दधी हूँ, है 'द्रव्य संग्रह' लिखा लघु हूँ यमी हूँ।
विज्ञान कोष गत-दोष सुसाधु नेता, शोधें इसे बस यही मन-अक्ष-जेता ॥५८॥

गुरु-स्तुति

हे नेमिचन्द्र! मुनि कौमुद मोदकारी,
सिद्धान्त पारग विराग चिरागधारी।
दो ज्ञानसागर गुरो! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान॥

मंगल कामना

चाहो शाश्वत मोक्ष को, चाहो केवलज्ञान।
संगत्याग कर नित करो, निज का केवल ध्यान॥

रवि से बढ़कर तेज है, शशि से बढ़कर ज्योत।
झाँक देख निज में जरा, सुख का खुलता स्त्रोत॥

पर में सुख कहिं है नहीं, खुद ही सुख की खान।
निजी नाभि में गंध है, मृग भटके बिन ज्ञान॥

आत्म कथा तज क्यों करो, नित विकथा निस्सार।
पय तज, पीते विष भला, क्यों हो निज उद्धार॥

प्रतिदिन सविनय चाव से, इसको पढ़ तू! भव्य।
सुर सुख शिव सुख नियम से, पाते अक्षय द्रव्य॥

समय एवं स्थान परिचय

देव गगन गति गंध की, तिथि श्रुत पंचमि सार।
ग्राम अभाना में लिखा, ध्येय मिले भव पार॥

❑ ❑ ❑